हिन्दी निरुक्त

डा० कपिल देव शास्त्री एवं चुन्नी लाल शुक्ल

अध्याय १, २, ७

संस्कृत एम० ए० के पाठ्यक्रमानुसार

हिन्दी-निरुक्त

(१, २, ७, अध्याय)

एक समीक्षात्मक अध्ययन

(विस्तृत भूमिका, मूल निरुक्त, स्पष्ट अनुवाद, सरल व्याख्या तथा आलोचनात्मक टिप्पणियों से समन्वित)

समीक्षकौ—

डा० कपिल देव शास्त्री
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र ।
(प्रथम अध्याय के प्रथम पाँच पाद तक)

चुन्नीलाल शुक्ल
बी० ए० वी० कालिज, मेरठ ।
(प्रथम अध्याय के षष्ठ पाद से सप्तम अध्याय तक)

प्रकाशक—

साहित्य भण्डार
सुभाष बाजार, मेरठ ।

१९७५]

[मूल्य ७·००

प्रकाशक :
रतिराम शास्त्री
अध्यक्ष :
साहित्य भण्डार,
सुभाष बाजार, मेरठ।

मुद्रक :
राजकिशोर शर्मा
प्रबन्धक :
सर्वोदय प्रेस, मेरठ।
दूरभाष : ७४३५२।

संशोधित संस्करण
मूल्य : सात रुपये मात्र।

दो शब्द

वेद तथा निरुक्त के अध्यापन के अपने सात आठ वर्षों में मैं निरन्तर यह अनुभव करता रहा हूँ कि हिन्दी के माध्यम से निरुक्त का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों के लिये निरुक्त की व्याख्या के रूप में आज कोई भी बहुत उपादेय ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। दुर्ग तथा स्कन्द या उनके अनुकरण पर लिखी गयी संस्कृत की टीकायें आज के विद्यार्थियों के लिये कुछ अंशों में दुरूह बन चुकी हैं तो कुछ दृष्टियों से अनुपादेय भी हैं। हिन्दी में जो अनुवाद, व्याख्यायें या टिप्पणियाँ उपलब्ध हैं उनमें अनेक दुर्ग तथा स्कन्द की व्याख्याओं के ही संक्षिप्त रूप हैं, कुछ किन्हीं विशेष दृष्टिकोण से प्रभावित एवं पक्षपात् पूर्ण हैं तो कुछ स्पष्ट हिन्दी अनुवाद मात्र होकर रह गयी हैं। निरुक्त की पंक्तियों के अभिप्राय को विद्यार्थी स्पष्ट रूप से समझ सकें तथा उसके विषय में पर्याप्त ऊहापोह कर सकें इसी दृष्टि से यह समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में विस्तृत भूमिका में निरुक्त तथा उसके प्रणेता यास्क से सम्बद्ध अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों तथा विषयों पर विचार किया गया है तथा प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की गयी है। व्याख्या के बीच-बीच में टिप्पणियों के द्वारा कुछ प्रासङ्गिक समस्याओं तथा आलोच्य विषयों की ओर भी विद्यार्थियों का ध्यान आकृष्ट किया गया है जिनसे विद्वद्वर्ग भी लाभान्वित हो सकता है। इस पद्धति से सम्पूर्ण निरुक्त की आलोचना तथा समीक्षा की महती आवश्यकता है। मेरी अभिलाषा है कि इस कार्य को बड़ी विद्वत्ता और परिश्रम के साथ पूरा किया जाय। पर कठिनाई प्रकाशकों की है। एकमात्र व्यापारिक दृष्टिकोण से विवश हिन्दी, संस्कृत का प्रकाशक वर्ग केवल उन्हीं अंशों को प्रकाशित करना चाहता है जो परीक्षाओं में निर्धारित हैं। इस कारण अभी इतना ही अंश प्रकाशित हो रहा है।

इस समीक्षा को लिखने में मेरे मित्र डॉ० श्रीनिवास जी शास्त्री से पर्याप्त प्रेरणा मिली है तथा श्री रतिराम जी शास्त्री ने इसके प्रकाशन में विशेष रुचि ली है। प्रकाशन की शीघ्रता तथा अपनी व्यस्तता के कारण पुस्तक के कुछ पृष्ठों के प्रूफ मैं नहीं देख सका हूँ। इसलिये अनेक स्थानों पर प्रूफ की कुछ भयंकर अशुद्धियाँ हो गयी हैं।

फिर भी मुझे पूरा विश्वास है कि निरुक्त के विद्यार्थी तथा अध्यापक दोनों इस समीक्षा से अधिक से अधिक लाभान्वित होंगे।

११–८–६६

—कपिलदेव

विषय-सूची

भूमिका भाग १–४२

वेद और वेदाङ्ग १–५
वेदाङ्गों में निरुक्त का स्थान ५–५
निरुक्त का मूल वेद और ब्राह्मण ५–८
यास्क से प्राचीन नैरुक्त ८–१२
यास्क का समय-संभवतः पाणिनि से पूर्व १२–१६
यास्क द्वारा निघण्टु का संकलन तथा उसकी व्याख्या के रूप में
निरुक्त ग्रन्थ का प्रणयन १६–१७
निघण्टु १७–१८
निरुक्त का तेरहवाँ और चौदहवाँ अध्याय १८–१९
निघण्टु का कर्ता कौन १९–२६
निरुक्त के दो संस्करण लघु और बृहत् २६–२९
निघण्टु के भाष्यकर श्री देवराज यज्वा २९–२९
निरुक्त की व्याख्यायें २९–३०
निरुक्त वार्तिक ३०–३२
दुर्ग-भाष्य ३२–३४
स्कन्द माहेश्वर की टीका में ३४–३५
श्रीनिवासकृत व्याख्या ३५–३५
निरुक्त के आधुनिक सम्पादक अनुवाद, व्याख्याता एवं आलोचक ३५–३६
यास्क की निर्वचन शैली ३६–३८
यास्क की मन्त्र व्याख्या पद्धति ३८–३९
यास्क का महत्त्व ४०–४२

प्रथमोऽध्यायः

प्रथम पाद १–३३

निरुक्त का व्याख्येय ग्रन्थ निघण्टु १–४
निघण्टु शब्द की व्युत्पत्ति ४–८
निघण्टु में शब्दों के चार विभाग ८–१०
नाम और आख्यात की परिभाषा १०–१३
वाक्य में भाव की प्रधानता १३–१६
'नाम', 'आख्यात' के सामान्य एवं विशेष रूप का प्रदर्शन १७–१८
औदुम्बरायण का शब्द नित्यत्व पक्ष और उसके दोष १८–२०
यास्क और शब्द-नित्यत्व पक्ष २०–२१
शब्द प्रयोग की आवश्यकता २१–२२
लौकिक तथा वैदिक भाषाओं की समानता २१–२१
वैदिक मन्त्रों की आवश्यकता २२–२४
भाव के छः प्रकार तथा उनके अभिप्राय २४–२८
उपसर्ग अर्थों के वाचक या द्योतक २८–३२
उपसर्गों के कुछ प्रधान अर्थ ३२–३३

द्वितीय पाद ३२–५७

निपात के विषय में विचार ३२–३३
उपमार्थक निपात ३३–४५
'कर्मोपसंग्रह' की परिभाषा ४५–४९
कर्मोपसंग्रहार्थीय निपात ४९–५२
कुछ अन्य निपात ५२–५७

तृतीय पाद ५८–१०१

निश्चयार्थक 'नूनम्' निपात ५८–६२
पद पूरणार्थक 'ननु' ६२–६८
सीम् ६९–७०
सीमतः ७०–७४

'त्व' सर्वनाम ७४–८२
'त्व' को निपात मानने के सिद्धान्त का खण्डन ८२–९२
त्वत् ९२–९६
पद-पूरण निपातों की परिभाषा ९५–९६
पद पूरण निपातों के उदाहरण ९६–९९
निपातों के समुदाय ९९–१०१
चतुर्थ पाद १०२–१२७
शब्दों को धातुज मानने के विषय में दो मत १०२–१०४
गार्ग्य का मत और उनकी युक्तियाँ १०४–१११
शाकटायन मत के खण्डन में गार्ग्य के हेतू १११–११६
गार्ग्य की युक्तियों का खण्डन ११६–१२७
पञ्चम पाद १२८–१४७
निरुक्त वेदार्थ के ज्ञान में सहायक १२८–१३०
कौत्स के मत में वेद के ज्ञान के मन्त्र अर्थ रहित हैं १३०–१३७
'मन्त्र सार्थक हैं' इस मत का प्रतिपादन १३७–१३९
कौत्स की युक्तियों का खण्डन १३९–१४४
वैदिक मन्त्रों के अर्थज्ञान के लिये भूयोविद्य बनने की आवश्यकता १४५–१४७
षष्ठ पाद १४८–१६०
पद-विभाग ज्ञान के लिये निरुक्त के अध्ययन की आवश्यकता १४८–१५७
देवताओं की प्रधानता अप्रधानता का वर्णन १५७–१६०

द्वितीयोऽध्यायः

प्रथम पाद १६१–१६३
द्वितीय पाद १७४–१८३
तृतीय पाद १८४–१८८
चतुर्थ पाद १८९–१९४
पञ्चम पाद १९५–२००

षष्ठ पाद २०१–२०८
सप्तम पाद २०९–२१८

सप्तमोऽध्यायः

प्रथम पाद २१९–२३१
द्वितीय पाद २३२–२४०
तृतीय पाद २४१–२५२
चतुर्थ पाद २५३–२५९
पञ्चम पाद २६०–२६२
षष्ठ पाद २६३–२७०
सप्तम पाद २७१–२८४

२०८
२१८
२३१
२४०
२५२
२५६
२६२
२७०
२८४

भूमिका

वेद और वेदाङ्ग

भारतीय परम्परा मंत्र और ब्राह्मण (ब्राह्मण, आरण्यक, तथा उपनिषद्) दोनों को वेदाङ्ग मानती रही है। द्र०—

१—'मंत्रब्राह्मणयोर् वेदनामधेयम्' (कात्यायन-सर्वानुक्रमणी)
२—'मंत्रब्राह्मणात्मको वेदराशिः' (आपस्तम्ब परिशिष्ट १।३३)
३—मंत्रब्राह्मणं वेद इत्याचक्षते' (बौधायनगृह्यसूत्र)

ऋग्, यजुः, साम, अथर्व इन चार संहिताओं में, भिन्न-भिन्न ऋषियों के प्रवचन-भेद से कुछ भिन्नता आ जाने के कारण कुछ समय पश्चात्, इनकी अनेक शाखायें बन गयीं। पतञ्जलि ने ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १०१, सामवेद की १००० तथा अथर्ववेद की ९ शाखाओं का उल्लेख किया है। द्र०—**एकशतम् अध्वर्यु शाखा, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधा अथर्वणः** (नवाह्निक, गुरुप्रसाद संस्करण, पृ० ६२)। बाद में इन संहिताओं तथा शाखाओं से सम्बद्ध अनेक ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों तथा उपनिषदों की रचना हुई। ब्राह्मण-ग्रन्थों में विविध अर्थवादों के द्वारा यज्ञ सम्बन्धी विधियाँ, कहीं कहीं मंत्रों के संक्षिप्त संकेतात्मक अर्थ तथा शब्दों के निर्वचन इत्यादि बताये गये। 'ब्रह्मन्' शब्द का अर्थ है मंत्रात्मक वेद। उससे सम्बद्ध होने के कारण इन ग्रन्थों को ब्राह्मण कहा गया। इन ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ याज्ञ आदि अथवा कर्मकाण्ड की प्रधानता है। आरण्यक ग्रन्थों में ऋषियों की प्रवृत्ति उपासना की ओर अधिक हुई। सम्भवतः अरण्य में रचित होने या पढ़े जाने के कारण इन्हें आरण्यक कहा गया। द्र०—**'अरण्य एव पाठ्यत्वाद् आरण्यकम् इतीर्यते'**। (सायण—ऐतरेयारण्यक का प्राक्कथन)। उपनिषदों में कर्मकाण्ड तथा उपासना दोनों की अपेक्षा ऋषि परमतत्त्व के चिन्तन में अधिक प्रवृत्त दिखाई दिये। इसीलिये उपनिषदों को 'ज्ञानकाण्ड' कहा गया है जबकि आरण्यकों को 'उपासनाकाण्ड' तथा ब्राह्मणों को 'कर्मकाण्ड'।

वेदों के अध्ययन को सरल तथा सुगम बनाने के लिये छः वेदाङ्गों का प्रणयन हुआ। बहुत सी उन विद्याओं अथवा विषयों का, जिनके सूक्ष्म संकेत इन ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में विद्यमान थे, व्यवस्थित एवं विस्तृत विवेचन करके वेदाङ्ग के रूप में छः प्रकार के ग्रन्थों की रचना हुई। यास्क का यह कहना है कि जब केवल उपदेश या प्रवचन से काम चलना कठिन हो गया तो विद्यार्थियों की विशेष सुविधा की दृष्टि से वेदाङ्गों का समाम्नान किया गया। द्र०—**उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर् वेदं च वेदांगानि च'** (निरुक्त, १।२०) यहाँ सायण का निम्न कथन भी द्रष्टव्य है—**'अतिगम्भीरस्य वेदस्य अर्थम् अवबोधयितुं शिक्षादीनी षडङ्गानि प्रवृत्तानि'** (ऋग्वेदभाष्य-भूमिका, चौखम्बा संस्करण, १९५८, पृ० ४८)

छः वेदांगों का नाम है—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस् तथा ज्योतिष्। **'शिक्षा'** ग्रन्थों में उदात्त, स्वरित आदि स्वरों तथा वर्णों के उच्चारण के नियम बताये गये। इन शिक्षा-ग्रन्थों की एक लम्बी परम्परा रही है। आजकल भी पाणिनी याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों द्वारा रचित अनेक शिक्षा-ग्रन्थ उपलब्ध हैं। **कल्पग्रन्थों** में कर्मकाण्ड सम्बन्धी विविध विधि-विधानों की व्यवस्था वर्णित है। ये ग्रन्थ प्रायः सूत्रबद्ध हैं तथा तीन प्रकार के हैं—श्रौत, गृह्य तथा धर्म। श्रौत सूत्र में श्रुति विहित दर्शपूर्णमास आदि यज्ञों आदि तथा यागों का वर्णन मिलता है। गृह्य सूत्रों में गृह्य अग्नि में किये जाने वाले यज्ञों तथा कुछ, विवाह आदि, संस्कारों का वर्णन किया गया है तथा धर्म सूत्रों में चारों वर्णों और आश्रमों के विविध कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है। **व्याकरण** के ग्रन्थों में, शब्दों के प्रकृति-प्रत्यय आदि की कल्पना करके शब्दों को व्याकृत—संसिद्ध अथवा निष्पन्न—किया गया है। वैदिक-व्याकरण-प्रातिशाख्य आदि–में वैदिक शब्दों तथा संस्कृत–व्याकरण में लौकिक संस्कृत के शब्दों के विषय में विचार किया गया। व्याकरण के ग्रन्थों तथा उनके प्रवक्ता आचार्यों की एक बड़ी लम्बी परम्परा रही (द्र०—संस्कृत व्याकरण का इतिहास, पं० युधिष्ठिर मीमांसक, द्वितीय संस्करण शास्त्र पृ० ५४–१७३)। आजकल पाणिनि तथा उनके बाद में होने वाले चन्द्रगोमिन्, जैनेन्द्र आदि आचार्यों के व्याकरण उपलब्ध हैं। परन्तु वेदांगता और सर्वाधिक महत्ता कथंचित् पाणि-

नीय व्याकरण को ही प्राप्त है। यद्यपि पाणिनीय व्याकरण भी मुख्यतः लौकिक संस्कृत के शब्दों की दृष्टि से रचा गया है परन्तु वैदिक शब्दों की साधुता आदि की दृष्टि से भी उसकी पर्याप्त महत्ता है। इसीलिये पतञ्जलि ने पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से किये गये 'केषां शब्दानाम्' ? इस प्रश्न के उत्तर में 'लौकिकानां वैदिकानांच' (नवाह्निक, पृ० ६) कहा है।

व्याकरण के समान **निरुक्त** ग्रन्थों की भी एक लम्बी परम्परा रही है जिस के पर्याप्त प्रमाण आज अन्वेषकों को उपलब्ध हो चुके हैं तथा सम्प्रति उपलब्ध यास्कीय निरुक्त में उद्धृत अनेक नैरुक्त आचार्यों के मतों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। इन निरुक्त ग्रन्थों में प्रधानतः वैदिक तथा प्रसंगतः लौकिक दोनों प्रकार के दुरूढ अथवा रूढ़िभूत शब्दों का निर्वचन किया गया था।

ये नैरुक्त आचार्य पहले निर्वाच्य शब्दों के संग्रह के रूप में अपनी दृष्टि से एक प्रकार के शब्दकोष (निघण्टु) का संग्रह करते थे और फिर उसकी व्याख्या के रूप में निरुक्त ग्रन्थ का प्रणयन करते थे। निरुक्त-ग्रन्थों में शब्दों में निर्वचन के साथ उदाहरण के रूप में मन्त्रों को उद्धृत कर संक्षेप में उनकी व्याख्या भी सम्भवतः की जाती रही। सायण ने निघण्टु तथा निरुक्त दोनों को निरुक्त मानते हुये 'निरुक्त' शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ दी हैं। पहली व्युत्पत्ति है—**'अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्** तथा दूसरी है–**'एकैकस्य पदस्य सम्भाविता अवयवार्था यत्र निःशेषेणोचयन्ते तन्निरुक्तम्'** (ऋग्वेदभाष्य-भूमिका—पृ० ५५, ५६) इसके अतिरिक्त यथावसर पदपाठ तथा मन्त्रों के देवता आदि के निर्णय के विषय में भी विचार किया जाता रहा है। आजकल के निघण्टु को देखने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पहले के निघण्टु ग्रन्थों में भी तीन काण्ड नैघण्टुक, नैगम तथा दैवतकाण्ड होते रहे होंगे। प्रथम काण्ड में पर्यायवाचक नाम शब्दों तथा क्रियापदों का, दूसरे में अनेकार्थक अथवा दुरूढ शब्दों का तथा तीसरे में देवतावाचक नामों का संग्रह किया जाता रहा तथा उसके अनुसार ही निरुक्त को भी तीन काण्डों में विभाजित करके इन शब्दों की नैरुक्त सम्प्रदाय की दृष्टि से व्याख्या की जाती रही।

वेदों की व्याख्या की दृष्टि से नैरुक्तों का अपना एक अलग सम्प्रदाय प्रतिष्ठित हो चुका था। ये नैरुक्त आचार्य वैदिक मन्त्रों की आधिदैविक व्याख्या के पक्षपाती थे जिसमें इन्द्र, वरुण इत्यादि सभी देव प्रकृति के अधिष्ठानभूत देवता के रूप में ही अभीष्ट थे। तथा तीन लोकों की दृष्टि से प्रधानभूत अग्नि, इन्द्र या वायु तथा सूर्य इन तीन देवताओं में ही सभी अन्य देवताओं का अन्तर्भाव माना गया था। 'याज्ञिक, ऐतिहासिक, तथा अध्यात्मविद् आचार्यों ने जहाँ अपने अपने दृष्टिकोण से मन्त्रों में विविध अभिप्राय का दर्शन किया तथा उनका प्रवचन किया उसी प्रकार, परन्तु उनसे भिन्न शैली अपनाकर, इन नैरुक्त आचार्यों ने मंत्रों की अपनी दृष्टि से एक दूसरी ही व्याख्या प्रस्तुत की थी।

इस प्रकार मूलतः इन निरक्त ग्रन्थों का जन्म वैदिक शब्दों के निर्वचन की दृष्टि से ही हुआ था परन्तु प्रसंगतः इनमें कुछ लौकिक शब्दों का निर्वचन भी किया जाता रहा होगा जैसा कि यास्कीय निरुक्त में किये गये अनेक लौकिक शब्दों के निर्वचनों तथा प्राचीन नैरुक्त आचार्यों द्वारा किये गये लौकिक शब्द सम्बन्धी निर्वचन के उद्धरणों से स्पष्ट है। उदाहरण के लिये दृष्टव्य—**'अक्षि चष्टेः। अनक्तेर् इत्याग्रायणः। कर्णः कृन्ततेः। ऋच्छतेर् इत्याग्रायणः'।** (निरुक्त १।९)।

छन्दःशास्त्र के ग्रन्थों में छन्दों के विषय में विवेचन किया गया था। जिन ग्रन्थों का प्रमुख रूप से, गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती इत्यादि वैदिक छन्दों से सम्बन्ध था उन्हें वेदाङ्ग की श्रेणी में प्रतिष्ठित किया गया। मन्त्रों के 'ऋषि', 'देवता' आदि के साथ 'छन्द' का ज्ञान भी वेदाध्यायी के लिये परमावश्यक माना गया था। इस दृष्टि से निम्न श्लोक द्रष्टव्य है—

अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगम् एव च।
योऽध्यायेज् जपेद् वाऽपि पापीयान् जायते तु सः॥

बृहद्देवता ८।१३६

वस्तुतः उदात्त आदि स्वरों के समान छन्दों का भी मन्त्रों के अर्थ से सम्बन्ध माना जाता रहा। इसी कारण मीमांसा दर्शन (२।१।३५) के **'तेषाम् ऋक् यत्र**

अर्थवशेन पादव्यवस्था' इस सूत्र में उन मन्त्रों को 'ऋक्' माना गया जिनमें 'पाद' की व्यवस्था अर्थ के अनुरोध से की गई थी। छन्दों से सम्बद्ध ग्रन्थों की भी अपनी एक परम्परा रही है। सम्प्रति पिंगल का 'छन्दःशास्त्र' ही पर्याप्त प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिसमें वैदिक छन्दों के विषय में विस्तार से विचार किया गया है। परन्तु पिंगल के इस ग्रन्थ से पूर्व भी अनेक छन्द विषयक ग्रन्थ रचे गये थे जिनका संकेत पाणिनीय गणपाठ के **ऋगयनादिगण** में पठित 'छन्दोविचिति' 'छन्दोमान', 'छन्दोभाषा' आदि छन्दःशास्त्र के पर्यायभूत शब्दों में मिल सकता है।

इसी प्रकार ज्योतिष् के ग्रन्थों में यव आदि की दृष्टि ऋतु, मास, नक्षत्र, वर्ष आदि के ज्ञान का उपाय बताया गया था। 'वेदाङ्ग ज्योतिष' नामक ग्रन्थ ही आजकल इस शास्त्र के प्रतिनिधि के रूप में विद्यमान है, जिसका सम्बन्ध सम्भवतः ऋग्वेद तथा यजुर्वेद से है। यह ग्रन्थ श्लोक-बद्ध है। ऐसे ही ग्रन्थों के आधार पर बाद में अनेक ज्योतिषशास्त्र विषयक उत्कृष्ट, 'सूर्यसिद्धान्त' इत्यादि, ग्रन्थों की रचना हो सकी।

वेदाङ्गों में निरुक्त का स्थान

निरुक्त शास्त्र की महत्ता बताते हुये स्वयं यास्क ने यह स्पष्ट कहा है कि निरुक्त के अध्ययन के बिना मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। द्र०— '**अथापि इदम् अन्तरेण मन्त्रेषु अर्थप्रत्ययो न विद्यते**' (निरुक्त १।१७)। निरुक्त के द्वारा मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान अथवा मन्त्रों के अर्थ करने की पद्धति का ज्ञान तो होता ही है साथ ही अनेक वदिक और लौकिक दुरूह शब्दों के निर्वचन करने का ढंग भी ज्ञात होता है। इसलिये निरुक्त को व्याकरणशास्त्र की परिपूर्णता मानी गयी—'व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्' (निरुक्त १।१५)। इसके अतिरिक्त वेदों के 'पदपाठ' और 'देवता' आदि के ज्ञान के विषय में निरुक्त पर्याप्त सहायक ग्रन्थ है। इसलिये वेदाध्ययन की दृष्टि से व्याकरण के समान अथवा उससे कहीं अधिक निरुक्त का महत्त्व माना जाता रहा है।

निरुक्त का मूल वेद और ब्राह्मण

जिस प्रकार शिक्षा व्याकरण आदि विषयों के मूल संकेत वेदों तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में मिलते हैं, उसी प्रकार निरुक्त शास्त्र के भी मूल संकेत वेदों और

ब्राह्मणों में पर्याप्त रूप से मिलते हैं। कुमारिल भट्ट ने 'तंत्रवार्तिक' (१।३।२४) में 'षडङ्ग' शब्द के विषय में विस्तार से विचार करते हुये कुछ विद्वानों के इस दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है कि वेद के लिये 'षडङ्ग' शब्द का प्रयोग अनुचित है, क्योंकि इस शब्द से व्याकरण, निरुक्त आदि उन विषयों का बोध होता है जिनका प्रतिनिधित्व पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा यास्क के निरुक्त ग्रन्थ आदि करते हैं। इसलिये ये मानव निर्मित पुस्तकें अपौरुषेय वेदों का अङ्ग भला कैसे बन सकती हैं ? इस कारण यह मानना चाहिये कि इन छः शास्त्रों में जिन विषयों का उल्लेख या विवेचन अभीष्ट होता है वह सब कुछ मूल रूप में वेदों (मन्त्र तथा ब्राह्मणों) में ही विद्यमान है। जब यह कहा जाता है कि **'ब्राह्मणेन षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'** अथवा **'ब्राह्मणेन षडङ्गो वेदोऽध्येयोऽध्यापयितव्यश्च'** तब 'षडङ्ग' शब्द का अर्थ पाणिनि तथा यास्क आदि द्वारा रचित अष्टाध्यायी आदि पुस्तकें न होकर वेद आदि में विद्यमान ये विभिन्न विद्यायें ही अभिप्रेत होती हैं। द्र०—

वेदे व्याकरणादीनि सन्त्येवाभ्यन्तराणि षट्।
भवेद् वा तद् अभिप्राया षडङ्गाध्ययनस्मृतिः॥

'तद् दध्नो दधित्वम्' इत्येवम् आदीनि हि वैदिकार्थवादान्तरगतान्येव हि निरुक्त व्याकरणादीनि। तैः सह विधाय को वेदोऽवगन्तव्य इति स्मृत्यर्थो भवेत्।

तंत्रवार्तिक के इस स्थल से यह स्पष्ट है कि विद्वानों का एक वर्ग ऐसा था जो यह मानता था कि ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में निरुक्त आदि शास्त्रों के मूल संकेत विद्यमान हैं। निरुक्त के अध्येता अच्छी तरह जानते हैं कि यास्क ने पर्याप्त स्थलों पर निर्वचनों की पुष्टि में ब्राह्मण-ग्रन्थों के वाक्यों को **'इति ह विज्ञायते'** कहकर उद्धृत किया है। जैसे 'वृत्र' शब्द का निर्वचन करते हुये यास्क ने कहा—**'वृत्रो वृणोतेर् वा, वर्ततेर् वा'** अर्थात् 'वृत्र' शब्द 'वृ' वृन् अथवा 'वृध्' धातु से बनेगा। इसके बाद इसकी पुष्टि में यास्क ने ब्राह्मण-ग्रन्थ से निम्न तीन वाक्यों को उद्धृत किया—

१—यद् अवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्।

२—यद् अवर्तत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम् ।

३—यद् अवर्धत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम् ।

(निरुक्त, २।१७)

इन वाक्यों का मूल स्थान यद्यपि अब तक नहीं जाना जा सका है परन्तु तैत्तिरीय संहिता (१।१।४।१२।२) के **यद् इमान् लोकान् अवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्**' इस वाक्य में यास्क की प्रथम व्युत्पत्ति का मूल ढूँढा जा सकता है। इसी तरह 'जातवेदस्' शब्द की व्युत्पत्ति करने के पश्चात् यास्क ने मैत्रायणी संहिता (१।८।२) के **यत् तज् जातः पशून् अविदन्त तज् जातवेदसः जातवेदस्त्वम्** इस वाक्य को, उद्धृत किया है। निरुक्त (७।१९) यास्क द्वारा उद्धृत अनेक ब्राह्मण-वाक्य आज अनुपलब्धमूलक बने हुये हैं। जो भी हो इतना तो निश्चित है कि ब्राह्मणों और संहिताओं में अनेक शब्दों के महत्त्वपूर्ण निर्वचन मिलते हैं जिससे वैदिक शब्दों का रहस्यभूत अर्थ बहुत कुछ अनावृत हो सकता है। यही नहीं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के मन्त्रों में मन्त्रकारों ने अनेक शब्दों की निरुक्तियों के विषय में विविध सूक्ष्म संकेत दिये हैं। उदाहरण के लिये निम्न मंत्रांश उद्धृत हैं—

१—'मायु' शब्द—**येन गोर् अभीवृता मिमाति मायुम्०** (ऋग्वेद १।१६४।२९)

२—'यज्ञ' शब्द—**यज्ञेन यज्ञम् अजयन्त देवाः०** । (ऋग्वेद, १।१६४।५)

तुलना करो—**यज्ञः कस्मात् ? प्रख्यातं यजति कर्म** । (निरुक्त, ३।२९)

३—'अश्विनौ'—**अश्नन्तौ अश्विनौ** (ऋग्वेद, ८।५।३१)

तुलना करो—**यद् व्यश्नुवाते सर्वम्** । (निरुक्त, १२।१)

४—'वात'—**वात आवातु भेषजम्** । (ऋग्वेद, १०।१८६।१)

तुलना करो—**वातो वातीति सतः** । (निरुक्त, १०।३४)

५—'केतपूः'—**केतं नः पुनातु** (यजुर्वेद, ११।४)

६—'प्रजा'—**सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन्** (यजुर्वेद, ७।१८)

७—'पृथिवी'—**व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं प्रथस्व पृथिव्यसि** (यजुर्वेद, १३।७)

तुलना करो—**पृथनात् पृथिवीत्याहुः** । (निरुक्त, १।१०)।

८—'पवित्र' - येन देवाः **पवित्रेणात्मानं पुनते सदा** (सामवेद, उत्तरार्चिक, ५।२।८५)

९—'तीर्थ'—**तीर्थैस्तरन्ति** (अथर्ववेद १८।४।७)

१०—'परिभू'—**परिभुवः परिभवन्ति विश्वतः** (अथर्ववेद, ६।१०।१७)

सत्य तो यह है कि विशाल वैदिक वाङ्मय में, जिसका बहुत कुछ भाग आज अनुपलब्ध है, विकीर्ण निर्वचनों, व्युत्पत्तियों तथा प्रकृति, प्रत्यय आदि विषयक सूक्ष्म संकेतों के आधार पर ही यास्क एवं उनसे प्राचीन नैरुक्त शाकपूणि, आग्रायण इत्यादि ने अपने अपने निरुक्त ग्रन्थों का प्रणयन किया था।

यास्क से प्राचीन नैरुक्त

सम्प्रति दुर्भाग्यवश केवल यास्क का ही निरुक्त उपलब्ध है, परन्तु यास्क से पूर्व अनेक नैरुक्त आचार्य हो चुके थे—इस तथ्य की पुष्टि स्वयं इस निरुक्त से ही हो जाती है जिसमें अनेक आचार्यों के मत उद्धृत हैं। निरुक्त के समान ही बृहद्देवता नामक ग्रन्थ में भी अनेक प्राचीन नैरुक्तों के उदाहरण मिलते हैं।

आग्रायण के द्वारा किये गये 'अक्षि', 'कर्ण', 'नासत्य' तथा 'इन्द्र' शब्द के निर्वचनों को, औपमन्यव के द्वारा किये गये 'निघण्टु', 'दण्ड', 'पुरुष', 'ऋषि', 'पंजयन', 'कुत्स', 'यज्ञ', 'शिपविष्ट', 'काण', 'विकट' तथा 'इन्द्र' शब्दों के निर्वचनों को, और्णवाभ के द्वारा किये गये 'ऊर्व्य', 'नासत्यौ' 'होता', 'अश्विनौ' शब्दों के निर्वचनों को तथा तैटिकि के द्वारा किये गये 'शिताम' तथा 'बीरिट' शब्दों के निर्वचनों को यास्क ने निरुक्त में उद्धृत किया है। ये निर्वचन इस बात के प्रमाण हैं कि इन विद्वानों ने अपने अपने निरुक्त ग्रन्थों की रचना तथा उसके व्याख्येय कोश के रूप में निघण्टु का संग्रह किया था ।

गार्ग्य को स्वयं यास्क ने 'नैरुक्त' कहा है। द्र०—**न सर्वाणि इति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके।** यदि गार्ग्य नैरुक्त न होकर वैयाकरण होता तो उसका अलग से नाम लेने की आवश्यकता न होती। बृहद्देवताकार ने यास्क, गार्ग्य तथा रथीतर (शाकपूणि) इन तीनों आचार्यों का नाम एक साथ नैरुक्तों

के प्रसंग में लिया है । प्र०—**चतुर्ष्य इति तत्राहूर् यास्क-गार्ग्यरथीतराः** (१।२६)। बृहद्देवता की इस पंक्ति से भी गार्ग्य का नैरुक्त होना सुस्पष्ट है।

इसी प्रकार 'अग्नि' तथा 'वायु' शब्दों के निर्वचनों में स्थौलाष्ठीवि को, 'शिताम्' शब्द के निर्वचनों में गालव को तथा 'विधवा' शब्द की व्युत्पत्ति में चर्मशिरा को यास्क ने याद किया है। 'मृत्यु' शब्द के निर्वचन के प्रसंग में यास्क ने शतवलाक्ष मौद्गल्य का मत उद्धृत किया है। बृहद्देवताकार ने दो बार (६।४६; ८।९० में) इस आचार्य को उद्धृत किया है।

शाकटायन विषयक अनेक उद्धरण निरुक्त तथा बृहद्देवता में मिलते हैं जिससे उसके नैरुक्त होने का ज्ञान होता है। **पदेभ्यः पदेतरार्धान् संचस्कार शाकटायनः**, (निरुक्त, १।१३) से स्पष्ट है कि उसने शब्दों का निर्वचन किया था। अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य में प्राप्त शाकटायन के उद्धरणों से उसके वैयाकरण होने की भी पुष्टि होती है साथ ही **'नामान्याख्यातजानि इति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च'** इस वाक्य से यह अनुमान होता है कि नैरुक्त सम्प्रदाय की अपेक्षा सम्भवतः यह आचार्य व्याकरण सम्प्रदाय में अधिक प्रतिष्ठित था।

परन्तु इन सब आचार्यों की अपेक्षा यास्क तथा बृहद्देवताकार ने शाकपूणि के मतों का उल्लेख किया है। शाकपूणि को बृहद्देवता में रथितर नाम से भी उद्धृत किया गया है। पुराणों में स्पष्ट,रूप से शाकपूणि को निरुक्त-कार कहा गया है। (द्र० वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, खण्ड २; पृ० १७१)। यास्क ने निरुक्त में—'तडित्', 'महान्', 'ऋत्विक्', 'शिताम', 'अप्सराः', 'अग्नि', 'मेधा', 'द्रविणोदाः', 'इदम्', 'तनूनपात्', 'नराशंसः', द्वारः', 'त्वष्टा', 'वनस्पतिः', 'अक्षरम्' इन शब्दों के निर्वचन के प्रसंग में तो शाकपूणि का नाम लिया ही है साथ ही इनसे अन्यत्र भी दो चार बार मन्त्रों के अर्थ करने के प्रसंग में शाकपूणि का नाम लिया है। उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शाकपूणि ने अपने प्रख्यात निरुक्त ग्रन्थ का प्रणयन किया था तथा चूंकि निरुक्त बनाने से पूर्व उसके व्याख्येय वैदिक शब्दों के सग्रह के रूप में निघण्टु की रचना करना एक अनिवार्य आवश्यकता थी इसलिए

सम्भवतः अपनी दृष्टि से एक निघण्टु का भी सम्मान किया था। 'द्रविणोदः', 'तनूनपात' इत्यादि शब्दों के विषय में प्राप्त शाकपूणि के उद्धरणों से यह अनुमान भी होता है कि इस आचार्य ने 'अग्नि' शब्द के पर्यायों में इन शब्दों का पाठ किया था। शाकपूणि की निघण्टु रचना सम्बन्धी सम्भावना एक तथ्य का रूप धारण कर लेती है जब हम स्कन्द स्वामी की निरुक्त टीका देखते हैं। स्कन्द ने स्पष्ट कहा है कि शाकपूणि ने 'यजमान' शब्द के पर्यायों में 'दाश्वान्' शब्द का भी पाठ किया था। द्र०—**'दाश्वान्' इति यजमाननामसु शाकपूणिना पठितम्** (स्कन्दभाष्य, भा० १, पृ० ४६)। इसी प्रकार निरुक्त ३।१० की व्याख्या में वह कहता है—**व्याप्तिकर्माण उत्तरे धातवो दश इन्वति, नक्षति आदयः। शाकपूणेर् अतिरिक्त एते—विव्याक विव्याच उरुव्यचाः, विव्र इति व्याप्तिकर्माणिः।** इससे स्पष्ट **पृथिवीनामभ्य एव उपक्रम्य स्वयम् एव सर्वत्र क्रमप्रयोजनम् आह। तदुक्तं** है कि शाकपूणि के निघण्टु में 'व्याप्ति' अर्थ वाली ये चार धातुएँ पढ़ी गयी थीं। ऋग्वेद के 'अस्यवामीव' सूत्र के एक मन्त्र (१।१६४।४०) के भाष्य में आत्मानन्द ने यह कहा है कि शाकपूणि ने 'उदक्' शब्द को 'सुख' शब्द के पर्यायों में पढ़ा था। द्र०—**उदकम् इति सुखनाम इति शाकपूणिः।** निरुक्त के प्राचीन भाष्यकार दुर्ग ने शाकपूणि के विषय में यह लिखा है कि शाकपूणि ने अपने निघण्टु में शब्दों के निश्चित क्रम के प्रयोजन बताये थे तथा निरुक्त-वार्तिक के कथन से इस बात की पुष्टि भी की है। द्र०—**शाकपूणिस्तु पृथिवीनामभ्य एव उपक्रम्य स्वयम् एव सर्वत्र क्रमप्रयोजनम् आह। तदुक्तं वार्तिककारेण—**

> **क्रम प्रयोजनम् नाम्नां शाकपूणिमुपलक्षितम्।**
> **प्रकल्पयेद् अन्यद् अपि न प्रज्ञाम् अवसादयेत्॥** (दुर्गभाष्य, ८।५)

यह निरुक्तवार्तिक नामक ग्रन्थ-यास्कीय निरुक्त की एक प्राचीन व्याख्या है। बृहद्देवताकार ने यत्र स्थलों पर शाकपूणि (स्थौतर) का नाम निरुक्त विषयक प्रसंग में लिया है। इनमें से कुछ स्थल नीचे उद्धृत हैं—

> (१) **तत् खल्वाहुः कतिभ्यस्तु कर्मभ्यो नाम जायते।**
> **सत्त्वानां वैदिकानां वा यद् वाऽन्यद् इह किंचन्॥**

चतुर्ध्य इति तत्राहुर् यास्क गार्ग्य-रथीतराः ।
आशिषोऽथार्थ वैरुप्याद् वाचः कर्मण एव च ॥ (१।२३, २६)

(२) शुनासीरं यास्क इन्द्रं तु मेने
सूर्येन्द्रौ तौ मन्यते शाकपूणिः । (५।८)

(३) इडस्पति शाकपूणिः पर्जन्याग्नी तु गालवः । (५।३९)

(४) यास्कौपमन्यवौ एतान् आहुतः पंच वै जनान् ।
निषाद्-पंचमान् वर्णान् मन्यते शाकटायनः ॥
ऋत्विजो यजमानश्च शाकपूणिस्तु मन्यते ॥ (६।६९।७०)

श्री पं० भगवद्दत्त ने अपनी पुस्तक वैदिक वाङ्मय का इतिहास (भा० १, खण्ड २ पृ० १६९–१७०) तथा 'निरुक्त भाष्य' की भूमिका में शाकपूणि सम्बन्धी अन्य प्रमाण तथा उनके निघण्टु में पठित अनेक शब्दों के संग्रह का स्तुत्य प्रयास किया है। इन सब से यह बात स्पष्ट है कि आचार्य शाकपूणि अपने समय का एक सुप्रख्यात नैरुक्त था।

इस रथीतर अथवा अपरनामा शाकपूणि का पुत्र भी निरुक्त का एक प्रतिष्ठित आचार्य था क्योंकि शाकपूणि के पुत्र का मत निरुक्त परिशिष्ट में उद्धृत है। द्र०—आदित्य इति पुत्रः शाकपूणेः (निरुक्त १३, ११)। वृहद्देवताकार भी रथीतर के पुत्र इस रथीतर के मत का उल्लेख निम्न श्लोक में करता है:—

प्रसंगाद् इह याः सूक्ते देवताः परिकीर्तिताः ।
ता एव सूक्तभाजस्तु मेने राथीतरः स्तुतौ ॥ (५।१४२)

इन आचार्यों के अतिरिक्त क्रौष्टुकि नामक एक आचार्य भी निरुक्त में एक बार उद्धृत हुआ है। द्र०—तत् को प्रविणोदाः ? इन्द्र इति क्रौष्टुकिः ? (निरुक्त ८, २)। वृहद्देवताकार भी एक बार इस आचार्य को याद करता है। द्र०—सोमप्रधानाम् एतां तु क्रौष्टुकिर् मन्यते स्तुतिम् (४।१३७) कात्थक्य नामक आचार्य को यास्क ने निरुक्त में 'इध्मः', 'तनूनपात्', 'नराशंसः', 'द्वारः', 'वनस्पति', 'देवी जोष्ट्री' तथा 'देवी ऊर्जाहुती' इन शब्दों की व्याख्या में उद्धृत किया है। परन्तु कात्थक्य–अभिमत अर्थों को देखते हुए उसे नैरुक्त न मानकर याज्ञिक सम्प्रदाय का आचार्य मानना उचित प्रतीत होता है, क्योंकि वह इन

सभी शब्दों का यज्ञ परक अर्थ ही मानता है। बृहद्देवता में भी यह आचार्य अनेक बार उद्धृत हुआ है।

यास्क का समय—संभवतः पाणिनि से पूर्व--

ऐतिहासिकों के लिये एक विचारणीय एवं विवादास्पद प्रश्न है कि यास्क का समय क्या माना जाय ? यास्क के ठीक-ठीक समय का निर्धारण करने के लिए आज के ऐतिहासिक के पास कोई भी ऐसा ठोस आधार नहीं है जिसे वह प्रस्तुत कर सके। इतना अवश्य है कि संस्कृत के महान् वैयाकरण पाणिनि का समय आज लगभग निश्चित हो चुका है। इसलिए विद्वानों ने पाणिनि की अपेक्षा यास्क की पूर्वापरता के विषय में पर्याप्त माथापच्ची की है। गोल्डस्टूकर, वोथलिंक, स्कोल्ड आदि विद्वान् पाणिनि को यास्क से पूर्व मानना चाहते हैं तथा सम्भवतः इन्हीं विद्वानों का अनुसरण करते हुए श्री सत्यव्रत सामश्रमी ने भी अपने 'निरुक्तालोचन' नामक ग्रन्थ में पाणिनि को यास्क से पूर्व होने की बात कही है तथा उसके लिए अनेक युक्तियाँ भी दी हैं परन्तु अब यह मत लगभग अमान्य हो चुका है तथा प्रायः सभी ऐतिहासिक यास्क को पाणिनि से प्राचीन मानते हैं। पाणिनि ने अपने सूत्र **यास्कादिभ्यो गोत्रे** (अष्टा० २।४।६३) में 'यास्क' शब्द की सिद्धि प्रस्तुत की है। यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि पाणिनि ने इस सूत्र में सम्प्रति उपलब्ध निरुक्त के कर्त्ता यास्क को ही स्मरण किया है। फिर भी पर्याप्त सम्भावना इसी बात की है, क्योंकि यास्क ने निरुक्त में व्याकरण विषयक जिस शब्दावली का प्रयोग किया है वह याद्दच्छिक न होकर वर्णनात्मक है, जब कि पाणिनि की अष्टाध्यायी के पारिभाषिक शब्द प्रायः याद्दच्छिक है। उदाहरणार्थ यास्क ने 'कारित', 'चर्करीत', 'चिकिर्षित', 'नामकरण', 'निवृत्ति-स्थान', 'द्वि-प्रकृति-स्थानम्', 'दृष्टव्यय', 'कर्मोपसंग्रह', 'उपबन्ध', 'प्रादेशिक विकार', 'अनवगत संस्कार', जैसे शब्दों का प्रयोग किया, जो अन्वर्थक हैं तथा स्वतः व्याख्येय हैं। दूसरी ओर पाणिनि ने 'टि', 'घु', 'भ', इत्यादि याद्दच्छिक संज्ञाओं का प्रयोग किया है तथा उसको स्पष्ट करने के लिए संज्ञा सूत्र भी बनाये हैं। यास्क ने इस प्रकार की किसी संज्ञा का प्रयोग नहीं किया है। दोनों की कृतियों में विद्यमान इस अन्तर से यास्क की पूर्वकालिकता स्पष्ट

हो जाती है। परन्तु यह भी देखने की बात है कि यास्क ने 'अभ्यास', 'अभ्यस्त', 'गुण', 'उपधा', जैसे शब्दों का प्रयोग भी किया है तथा इन शब्दों की कोई परिभाषा यास्क ने नहीं दी है, जबकि पाणिनि ने इन सब को परिभाषा के लिए सूत्र बनाकर उनसे इन्हें स्पष्ट करने का प्रयास किया है। यदि यास्क को पाणिनि से प्राचीन माना जाता है तो यह बात समझ में नहीं आती कि जो शब्द यास्क के समय में इतने प्रसिद्ध थे कि यास्क ने उन्हें स्पष्ट किये बिना ही उनका प्रयोग किया तो फिर यास्क के बाद होने वाले पाणिनि को इन प्रसिद्ध शब्दों के स्पष्टीकरण के लिए सूत्र बनाने की आवश्यकता क्यों पड़ी? परन्तु यदि कुछ अन्य प्रमाणों के आधार पर यास्क को पाणिनि से प्राचीन प्रमाणित किया जा सके तो इस प्रश्न का उत्तर सम्भावना के रूप में यह दिया जा सकता है कि यास्क के समय में ये शब्द इतने प्रसिद्ध थे कि इनके लिये लक्षण बनाने की कोई आवश्यकता यास्क को नहीं प्रतीत हुई। परन्तु उनसे दो तीन सौ वर्ष बाद होने वाले पाणिनि के समय में वे शब्द इतने अप्रचलित हो गये कि पाणिनि को इनकी परिभाषा बनाना आवश्यक प्रतीत हुआ। तो भी इस प्रकार के शब्द बहुत थोड़े हैं। इसी प्रकार यह कहना भी उचित नहीं कि चूँकि यास्क ने निरुक्त (१।१७) में पाणिनि के एक सूत्र 'परः सन्निकर्षः संहिता' (अष्टा० १।४।१०९) को उद्धृत किया है। इसलिए पाणिनि यास्क से प्राचीन हैं क्योंकि यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उपर्युक्त सूत्र एकमात्र पाणिनि का ही है। यह भी सम्भव है कि पाणिनि ने किसी अन्य प्राचीन आचार्य की कृति से इस सूत्र को अपना लिया हो। साथ ही यह भी विचारणीय है कि यदि पाणिनि जैसा वैयाकरण यास्क से पहले हो चुका होता तो शाकटायन आदि आचार्यों के समान यास्क ने पाणिनि जैसे प्रख्यात वैयाकरण का नाम अवश्य लिया होता।

श्री सत्यव्रत सामश्रमी ने 'अपार्णम्' शब्द को प्रस्तुत करके यह कहा है कि पाणिनि के व्याकरण के अनुसार इस शब्द की सिद्धि नहीं हो पाती क्योंकि पाणिनि ने यहाँ वृद्धि का विधान नहीं किया है। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि के समय यह शब्द प्रचलित नहीं था। वार्तिककार कात्यायन ने 'प्रार्णम्' 'वत्सतरार्णम्' तथा 'कम्बलार्णम्' शब्दों की सिद्धि के लिए एक वार्तिक बनाकर वृद्धि का

विधान किया है परन्तु 'अपार्णम्' की सिद्धि के लिए वार्तिककार ने भी कोई यत्न नहीं किया। अर्थात् अपनी वार्तिक— **'प्र-वत्सतर-कम्बल-वसनार्ण-दशानाम् ऋणे'** (महाभाष्य ६।१।८८) में 'अप' उपसर्ग को स्थान नहीं दिया। दूसरी ओर यास्क ने निरुक्त (३।२) में इस शब्द का प्रयोग किया है। अतः स्पष्ट है कि यास्क के समय में यह प्रयोग प्रचलित था। इसलिए पाणिनि के बाद यास्क का समय होना चाहिये।

परन्तु यहाँ भी यह विचारणीय है कि, इस प्रयोग के आधार पर पाणिनि को यास्क से पूर्व भले ही मान लिया जाय लेकिन, वार्तिककार ने जिन्हें यास्क के बाद का ही माना जा सकता है 'अपार्णम्' शब्द की सिद्धि अपने वार्तिक के द्वारा क्यों नहीं की ? इसका उत्तर श्री सामश्रमी ने यह दिया कि वार्तिककार के समय में 'अपार्णम्' प्रयोग समाप्त हो चुका था। पर क्या यही उत्तर पाणिनि को यास्क से अर्वाचीन मानते हुए नहीं दिया जा सकता ? अर्थात् यह मानने में क्या कठिनाई है कि यास्क के समय में तो 'अपार्णम्' प्रयोग होता था परन्तु उसके बहुत वर्षों बाद उत्पन्न होने वाले पाणिनि के समय में सम्भवतः वह प्रयोग लुप्त हो गया—अप्रचलित हो गया। इसलिए इस शब्द की सिद्धि के लिए पाणिनि ने प्रयास नहीं किया।

भाषा विज्ञान की दृष्टि से विचार करने पर यास्क निश्चित रूप से पाणिनि से प्राचीन प्रतीत होते हैं क्योंकि निरुक्त में अनेक ऐसी धातुएँ मिलती हैं, जो पाणिनि के धातुपाठ में अनुपलब्ध हैं। जैसे यास्क के द्वारा प्रयुक्त 'अतिदही' शब्द में दानार्थक 'दह्' धातु दिखाई देती है। इसी तरह 'क्रब्', 'जू', 'नक्ष्' जैसी धातुएँ भी पाणिनीय धातुपाठ में अनुपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त यास्क ने अनेक धातुओं को ऐसे अर्थों में प्रयुक्त किया है, जो पाणिनीय धातुपाठ में अभिमत नहीं हैं। उदाहरण के लिये निम्न धातुएं द्रष्टव्य हैं—

धातु	यास्क अभिमत अर्थ	पाणिनीय धातुपाठ में उपलब्ध अर्थ
कल्	गति	क्षेप
क्रुश्	शब्द	आह्वान, रोदन

दक्ष्	समृद्धि, उत्साह	गति, हिंसा
दघ्	स्रवण	धातन, पालन
दद्	धारण	दान
ध्वृ	हिंसा	मूर्च्छन
नभ्	गति	भक्षण
पण्	पूजा	स्तुति
बिस्	भेदन	प्रेरणा
मंह्	वृद्धि, दान	वृद्धि
मृज्	गति	शुद्धि
शप्	स्पर्श	आक्रोश
हलाद्	शीतीभाव	अव्यक्त शब्द, सुख

इसी तरह यास्क-प्रयुक्त कुछ 'तद्धित' प्रत्यय भी पाणिनि की अष्टाध्यायी में नहीं मिलते। जैसे 'अध्वरयु' शब्द बनाने के लिये 'यु' प्रत्यय 'कक्ष्या' शब्द बनाने के लिये 'सेवन' अर्थ वाला 'या' प्रत्यय, 'उपमार्थीय' परिग्रहार्थीय 'प्रतिषेधार्थीय', विचिकित्सार्थीय' और 'विनिग्रहार्थीय', शब्दों को बनाने के लिये 'ईय' प्रत्यय, तथा 'एकपदिक', 'भाषिक' तथा 'सांयोगिक' शब्दों की निष्पत्ति के लिये 'इक' प्रत्यय की कल्पना। यास्क के द्वारा प्रयुक्त **'पारोवर्यचित्सु तु खलु०'** (निरुक्त १।१६) इस वाक्य का **'पारोवर्य'** शब्द भी पाणिनि की अष्टाध्यायी से सिद्ध नहीं होता। पाणिनि के अनुसार 'परोवरीण' शब्द बनेगा। (द्र०—सिद्धान्तकौमुदी, ५।२।१०)। निश्चित ही यास्क ने किसी प्राचीन व्याकरण के आधार पर इस शब्द का प्रयोग किया होगा। 'आस्यदघ्न' शब्द के विषय में विचार करते हुये यास्क ने 'दघ्न' अंश को 'स्रवण' अर्थ वाली 'दघ्' धातु से बनाया है तथा उसे एक स्वतन्त्र शब्द माना है परन्तु पाणिनि ने इसे सीधे प्रत्यय माना है। द्र०—**'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ् मात्रचः'** (अष्टा० ५।२।३७)। यदि पाणिनि यास्क से प्राचीन हैं तो स्वभावतः पाणिनि के इस सूत्र का अनुसरण करते हुये यहाँ केवल **"प्रमाणे' 'दघ्न' इति प्रत्ययः"** कहकर ही यास्क आगे बढ़ जाते। पाणिनि का बहुत ही प्रसिद्ध सूत्र **'प्रत्ययः'** (अष्टा० ३।१।१) है परन्तु यास्क 'प्रत्यय' के स्थान पर 'उपलब्ध' शब्द का

प्रयोग करते हैं। इन प्रचुर प्रमाणों से यह सम्भावना की जा सकती है कि यास्क पाणिनि की अपेक्षा कम से कम दो सौ वर्ष पूर्व हुये होंगे। चूंकि आज ऐतिहासिकों का यह निश्चित मत है कि पाणिनि लगभग पाँचवी या चौथी शताब्दी ई० पूर्व हुये हैं। अतः यास्क का समय लगभग सात सौ ई० पूर्व माना जा सकता है।

कुछ विद्वानों ने यह भी सम्भावना की है कि यास्क 'पारस्कर' देश के रहने वाले थे, क्योंकि निरुक्त के परिशिष्ट कहे जाने वाले चौदहवें अध्याय के अन्त में कहीं-कहीं **'नामः यास्काय नम पारस्कराय'** पाठ मिलता है। यद्यपि निरुक्त का यह अंश मौलिक नहीं माना जाता, फिर भी सम्भवतः इस परिशिष्ट के लेखक ने यास्क के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करने के लिये ऐसा लिखना आवश्यक समझा होगा। 'पारस्कर' देश का उल्लेख पाणिनीय गणपाठ के **'पारस्करादि गण'** तथा इस गण से सम्बद्ध सूत्र के महाभाष्य में मिलता है।

यास्क द्वारा निघण्टु का संकलन तथा उसकी व्याख्या के रूप में निरुक्त ग्रन्थ का प्रणयन

यास्कीय निरुक्त के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है अपितु कुछ वैदिक शब्दों के संग्रहभूत एक कोष, जिसका नाम 'समाम्नाय' अथवा निघण्टु है, की व्याख्या के रूप में लिखा गया है। सायण ने इस बात पर विचार किया है कि जब निरुक्त स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर केवल एक व्याख्या-ग्रन्थ है तो उसे वेदाङ्ग क्यों माना गया है? और इस निरुक्त के व्याख्येय ग्रन्थ निघण्टु को वेदाङ्ग क्यों नहीं माना गया? इस प्रश्न के उत्तर में सायण ने स्वयं ही निरुक्त—के दो लक्षण किये। पहला है **'अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन् निरुक्तम्'** अर्थात् जिसमें स्वतन्त्र पदों का संग्रह हो वह निरुक्त है। इस लक्षण के अनुसार निघण्टु भी निरुक्त बन गया। वस्तुतः निघण्टु तथा निरुक्त दो अलग-अलग ग्रन्थ नहीं हैं अपितु दोनों समुदित रूप में निरुक्तशास्त्र कहे जाते हैं। जितने भी निरुक्तकार हुए उन्होंने अपनी-अपनी दृष्टि से वैदिक शब्दों के संग्रह के रूप में निघण्टु तथा उसके व्याख्यान के रूप में निरुक्त-ग्रन्थ की रचना की। इस प्रसङ्ग में ऊपर शाकपूणि के निघण्टु की चर्चा की जा चुकी है। इसलिये इन दोनों ग्रन्थों को अलग-अलग रखकर

विचार नहीं किया जाना चाहिये। केवल निघण्टु को तो 'निरुक्त' माना ही नहीं जा सकता, क्योंकि उससे शब्दों के निर्वचन आदि का ज्ञान नहीं होता और निघण्टु के बिना निरुक्त की कोई सत्ता ही सम्भव नहीं है क्योंकि वह निर्वचन करेगा किसका ? इसलिए दोनों की सम्मिलित रूप में ही वेदाङ्गता है।

निघण्टु

यास्कीय निरुक्त के व्याख्येय ग्रन्थ के रूप में जो निघण्टु आज मिलता है वह पाँच अध्यायों में विभक्त है। उनमें से प्रथम तीन अध्याय को नैघण्टुक काण्ड कहा जाता है। इन अध्यायों में पर्यायभूत प्रातिपदिक शब्दों तथा क्रियापदों का संग्रह है। प्रातिपदिक शब्द प्रथमा के एकवचन में तथा क्रियापद लट्लकार अन्यपुरुष, एकवचन में निर्दिष्ट हैं। इन तीन अध्याय के शब्दों का निर्वचन निरुक्त के द्वितीय और तृतीय अध्याय में किया गया है। प्रो० राजवाड़े का विचार है कि निघण्टु के इस प्रथम नैघण्टुक काण्ड में कुछ ऐसे भी शब्द मिलते हैं जो आज वैदिक साहित्य में अनुपलब्ध हैं तथा कुछ शब्दों का जिन अर्थों में यहाँ निर्देश किया गया है, उन अर्थों में वे शब्द वेद में प्रयुक्त नहीं मिलते। प्रो० स्कोल्ड का विचार है कि निघण्टु नाम पहले किसी प्राचीन समय में केवल इन तीन अध्यायों के लिये ही प्रयुक्त हुआ होगा। इस बात की पुष्टि इन तीन अध्यायों के सामूहिक नाम नैघण्टुक काण्ड से भी होती है, जो 'निघण्टु' शब्द से ही बना हुआ है। परन्तु बाद में निघण्टु नाम का प्रयोग 'नैगम' तथा 'दैवत' काण्डों के लिये भी होने लगा। इससे यह स्पष्ट है कि पहले तीन अध्याय ही निघण्टु के प्राचीनतम अंश हैं। (द्र०—यास्कीय निरुक्त, विष्णुपद भट्टाचार्य, पृ० २४, २५)

निघण्टु के चतुर्थ अध्याय को तीन खण्डों में विभक्त करके उसमें स्वतन्त्र शब्दों का संग्रह किया गया है। इस अध्याय को नैगम या ऐकपदिक काण्ड कहा जाता है। इसमें उन अस्पष्टार्थक शब्दों का सग्रह है जिनके प्रकृति प्रत्यय आदि के विषय में पर्याप्त सन्देह है। इसलिये यास्क ने इनकी व्याख्या के आरम्भ में—**अनवगतसंस्कारांश्च निगमान्** कहा है। इस अध्याय की व्याख्या यास्क ने निरुक्त के चौथे, पांचवे तथा छठे अध्याय में की है।

निघण्टु पंचम अध्याय में, जो छः खण्डों में विभक्त है, भिन्न-भिन्न देवताओं के नामों का संग्रह है। इन छः खण्डों की व्याख्या निरुक्त के छः अध्यायों (७—१२) में की गयी।

शब्दों का निर्वचन करने से पूर्व निरुक्त के प्रथम अध्याय में यास्क ने पदों के चार प्रकार—नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात और उनके लक्षण तथा उदाहरण दिये, सभी शब्दों को धातुज मानने का सिद्धान्त तथा मन्त्रों की अनर्थकता के सिद्धान्त का विस्तार से प्रतिपादन किया, निरुक्त के अध्ययन के अनेक प्रयोजन बताये और संक्षेप में निघण्टु के तीनों काण्डों के स्वरूप को स्पष्ट किया है। द्वितीयाध्याय के प्रारम्भ में सभी दुरूढ़ शब्दों के निर्वचन की अनिवार्यता के विषय में विविध सिद्धान्तों की सोदाहरण चर्चा करने के उपरान्त निघण्टु के नैघण्टु काण्ड तथा नैगम काण्ड के शब्दों का निर्वचन आरम्भ किया है।

सातवें अध्याय में देवतावाचक शब्दों का निर्वचन आरम्भ करने से पहले भी यास्क ने 'दैवत' तथा 'देवता' की परिभाषा दी, अनिर्दिष्ट देवता वाले मन्त्रों के देवता-ज्ञान का उपाय बताया, आध्यात्मिक दृष्टि से एक देवतावाद, आधिदैविक दृष्टि से त्रिविधदेवतावाद तथा आधियज्ञिक दृष्टि से बहुदेवतावाद की चर्चा की तथा तीनों का बड़े संक्षेप से समन्वय करते हुए देवताओं के पुरुषविध, अपुरुषविध, उभयविध अथवा कर्मात्मा होने की बात कही और नैरुक्तों के आधिदैविक पक्ष के अनुसार तीनों लोकों की दृष्टि से तीन प्रधान देवताओं—अग्नि, इन्द्र और आदित्य—के सहचारियों का उल्लेख करने के पश्चात् देवता-वाचक नामों के निर्वचन और उदाहरणों को प्रस्तुत किया।

इस प्रकार अपने व्याख्येय ग्रन्थ निघण्टु से निरुक्त के १२ अध्यायों की संगति और सम्बन्ध स्पष्ट है। परन्तु आजकल निरुक्त में १४ अध्याय मिलते हैं।

निरुक्त का तेरहवां और चौदहवां अध्याय

आजकल निरुक्त के तेरहवें और चौदहवें अध्याय को निरुक्त के परिशिष्ट के रूप में माना जाता है। परन्तु इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि ये अध्याय नवीन नहीं हैं। सायण अपने ऋग्वेद भाष्य की भूमिका के अन्त में लिखता है

कि निरुक्त का आरम्भ **समाम्नायः समाम्नातः** से होकर **तस्यास्ताद्भाव्यम् अनुभवति अनुभवति** पर अन्त होता है। इससे प्रतीत होता है कि उसकी दृष्टि में तेरहवाँ अध्याय भी निरुक्त का मौलिक अंश है, यद्यपि यह निरुक्त को बारह अध्याय वाला ही मानता है। सम्भवतः उसके समय में तेरहवाँ अध्याय भी बारहवें में ही सम्मिलित था। ताण्ड्य ब्राह्मण ४।८।३ के भाष्य में यास्क के नाम से सायण ने एक उद्धरण प्रस्तुत किया है जो निरुक्त के चौदहवें अध्याय में मिलता है। यह उद्धरण है—**तथा च यास्कः शुक्रातिरेके पुमान् भवति। शोणितातिरेके स्त्री भवति। द्वाभ्यां समेन् नपुंसको भवति।** सायण के इस उद्धरण से यह सम्भावना की जा सकती है कि निरुक्त का चौदहवाँ अध्याय भी उसकी दृष्टि में यास्क कृत ही था। इसी प्रकार निरुक्त की स्कन्द माहेश्वर टीका (१, २०) में निरुक्त के तेरहवें अध्याय से उद्धरण दिया गया है। यह टीका भी तेरहवें अध्याय के तेरहवें खण्ड तक है। स्कन्द से पहले होने वाले भाष्यकार दुर्ग ने भी अनेक स्थानों पर तेरहवें और चौदहवें अध्याय से उद्धरण दिए हैं। अनेक स्थलों पर 'वक्ष्यति हि' (अर्थात् यास्क कहेंगे) इन शब्दों के द्वारा इन उद्धरणों को दुर्ग ने प्रस्तुत किया है। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि वह चौदहवें अध्याय के छब्बीसवें खण्ड तक यास्क की कृति मानता है। इन अध्यायों में 'अति स्तुतियाँ' वर्णित हैं। सम्भव है निरुक्त के प्राचीन संस्करणों में ये 'अति स्तुतियाँ' अध्याय के अन्त में ही जुड़ी रही हों, इस प्रकार की 'अति स्तुतियाँ' यास्कीय निरुक्त से पहले के निरुक्तों में भी सम्भवतः थीं। इसीलिए यास्क ने इनके लिए **अथ इमास् अतिस्तुतय इत्याचक्षते** (१३।१) कहा है। इस वाक्य की व्याख्या करते हुए दुर्ग ने यह स्वीकार किया है कि अन्य आचार्य भी इन्हें 'अति स्तुतियाँ' कहते हैं—'**अन्येऽप्याचार्याः एवम् एव एता आचक्षते कथयन्ति**'। स्कन्द माहेश्वर की टीका में भी यह स्वीकार किया गया है कि पूर्व आचार्यों के मत का अनुसरण करके ये अति स्तुतियाँ पढ़ी गई है। इस प्रकार यह सम्भावना है कि ये दोनों अध्याय भी यास्क-कृत ही हैं।

निघण्टु का कर्त्ता कौन ?

यह प्रश्न भी विचारणीय है कि यास्कीय निरुक्त के व्याख्येय निघण्टु का कर्त्ता कौन है ? अर्थात् इस निघण्टु का संग्रह यास्क ने स्वयं

किया अथवा उसने प्राचीन आचार्यों द्वारा किए गए संग्रह को ही अपने निरुक्त का आधार बनाया है ? इस प्रश्न को और स्पष्ट रूप में यों भी रखा जा सकता है कि क्या निघण्टु नामक ग्रन्थ, जिसमें वैदिक शब्दों का संग्रह किया गया था, एक परम्परागत शब्दकोष था, जिसकी दृष्टि से भिन्न-भिन्न विद्वानों ने अपने-अपने निरुक्त-ग्रन्थों की रचना की थी या प्रत्येक नैरुक्त आचार्य अपनी-अपनी दृष्टि से शब्दों का संग्रह करके निघण्टु की रचना करता था और फिर स्वयं संगृहीत उन शब्दों की व्याख्या या निर्वचन के रूप में निरुक्त का प्रणयन करता था ? निरुक्त का प्रमुख टीकाकार दुर्ग प्रथम पक्ष का अनुयायी हैं। निरुक्त भाष्य की भूमिका में उसने यह कहा है कि पाँच अध्याय वाले निघण्टु का संग्रह श्रुत-र्षियों ने किया। निरुक्त १, २० के भाष्य में वह फिर लिखता है ते··· इमं **ग्रन्थं गवादिदेवपत्यन्तं समाम्नातवन्तः**, अर्थात् उन्हीं प्राचीन ऋषियों ने निघण्टु की रचना की। निरुक्त ४, १८ के भाष्य में वह अपनी इस धारणा के लिए हेतु देता है। उसका कहना है कि निघण्टु में पहले 'दावने' शब्द मिलता है उसके बाद अकूशपारस्य' यह शब्द पठित है। परन्तु ऋग्वेद (५, २६, २) में पहले अकूपास्य' शब्द और उसके बाद 'दावने' शब्द का प्रयोग हुआ है। यदि निघण्टु यास्करचित होता यहाँ वे उद्‌दृत ऋग्वेद के मन्त्र-क्रम का ध्यान रखते और निघण्टु में विपरित क्रम न अपनाते। निरुक्त ५, १५ के भाष्य में भी उसने इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि 'वाजस्पत्यम्' 'वाजगन्ध्यम्' इस क्रम में ये दोनों शब्द निघण्टु में पढ़े गए है। परन्तु मन्त्र में इस क्रम का विपर्यय है। स्कन्द स्वामी ने भी 'समाम्नायः समाम्नातः' की व्याख्या करते हुए यह माना है कि निघण्टु का संग्रह प्राचीन आचार्यों ने किया था। जर्मन विद्वान् रो ने भी निघण्टु को यास्ककृत नहीं माना है।

प्रो० कर्मकर का विचार है कि निघण्टु एक व्यक्ति की रचना नहीं है इनका कहना है कि निघण्टु में अनेक पुनरुक्तियाँ हैं। एक ही शब्द नैघण्टुक काण्ड में भी पठित है तथा पुनः नैगम काण्ड में भी। इनके अनुसार चौथे अध्याय द्वितीय खण्ड का निघण्टुकार पहले तीन अध्यायों के निघण्टुकार से भिन्न व्यक्ति है। क्योंकि चौथे अध्याय के द्वितीय खण्ड में कुछ ऐसे शब्द भी पठित हैं जिनका

अर्थ पहले तीन अध्यायों में दिया जा चुका है। जैसे—'अन्धस्' शब्द द्वितीया अध्याय के सातवें खण्ड में, 'वराहः' प्रथमा अध्याय के दसवें खण्ड में, 'स्वसराणि' प्रथमा अध्याय के नवें खण्ड में तथा 'शर्याः' द्वितीया अध्याय के पाँचवे खण्ड में व्याख्यात हो चुके है फिर भी चौथे अध्याय के द्वितीय खण्ड में ये शब्द पठित मिलते हैं। इसके अतिरिक्त शब्दों के पाठ में एक प्रकार की शैली नहीं पायी गयी है। निघण्टु के चौथे अध्याय में आठ युगल शब्दों का संग्रह है। प्रथम खण्ड में दो—'दावने अकूपारस्य' तथा 'विद्रधे द्रुपदे'; द्वितीया खण्ड में दो—'बाहिष्ठः दूतः', 'दूतस्य चर्षणिः', तथा तृतीय खण्ड में चार—'अनवायं किमीदिने', 'श्रुष्टी पुरन्धिः', 'चनः पचत।' और 'सदान्वे शिरिम्बिठः' ये शब्द पठित हैं। ये दो-दो शब्द ऋग्वेद के मन्त्रों में साथ-साथ प्रयुक्त हुये हैं। प्रथम खण्ड में शब्दों का रूप वही है जो मन्त्र में है केवल 'दावने अकूपारस्य' में मन्त्र के क्रम से भिन्न क्रम अपनाया गया है। द्वितीय खण्ड का प्रथम युगल मन्त्र में 'बहिष्ठो दूतो' के रूप में मिलता है। जबकि निघण्टु में दोनों को अलग अलग करके 'बाहिष्ठः' तथा 'दूतः' के रूप में पढ़ा गया है। तृतीय खण्ड में 'अनवायं किमीदिने' तथा 'चनः पचता' उसी रूप में निघण्टु में पठित है जिस रूप में वे मन्त्र में मिलते हैं। परन्तु मन्त्र के 'पुरन्धिम्' तथा 'शिरिम्बिठस्य' को क्रमशः 'पुरन्धिः' तथा 'शिरिम्बिठः' के रूप में बदल दिया है। यदि 'दावने अकूपारस्य' में 'अकूपारस्य' को उसी षष्ठी विभक्त्यन्त रूप में रखा गया है तो फिर यहाँ भी वही शैली क्यों नहीं अपनायी गयी? इसी प्रकार यास्क 'तडित्' शब्द का अर्थ 'अन्तिक' मानता है परन्तु 'निघण्टु' का अनुसरण करते हुए उसने इस शब्द का 'वध' अर्थ मान लिया। (द्र०—निघण्टु २।१६ तथा २।१९ और निरुक्त ३।११) की व्याख्या—**अपि त्विदम् अन्तिकनामैवाभिप्रेतं स्यात्**। इसके अतिरिक्त निघण्टु (२।१८) में सात 'व्याप्ति' अर्थ वाली धातुएं पढ़ी हैं उनमें से दो शब्दों—'आक्षाणः' तथा आपान' को यास्क 'नाम' मानते हैं। द्र०—**व्याप्तिकर्माण उत्तरे धातवो दश। तत्र द्वे नामनी आक्षाण आश्नुवानः, पानः आप्नुवानः,** (निरुक्त

३।१०)। स्पष्ट है कि यदि यास्क ने निघण्टु बनाया होता तो इन दोनों को निघण्टु में यहाँ न पढ़ा होता।

प० सत्यव्रत सामश्रामी ने अपने 'निरुक्तालोचन' में महाभारत मोक्षधर्म पर्व के निम्न श्लोकों के आधार पर यह कहा है कि इस निघण्टु का प्रणेता कश्यप प्रजापति हैं क्योंकि 'वृषाकपि' शब्द इस 'निघण्टु (५।६) में पठित है जिसके लिए प्रजापति ने कहा है कि मैंने इस शब्द को 'निघण्टु' में पढ़ा है। वे श्लोक हैं :—

वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत।
निघण्टुक-कपदाख्याने विद्धि मां वृषम् उत्तमम्॥
कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते।
तस्माद् वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः॥

डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने भी सामश्रमी के मत को ही दुहराया है। डा० लक्ष्मण सरूप का यह विचार है कि 'निघण्टु' अनेक आचार्यों के प्रयत्नों का सम्मिलित रूप है तथा एक परम्परागत शब्द कोश के रूप में प्राप्त हुआ है।

परन्तु इन विद्वानों का यह विचार कथमपि सुसंगत नहीं है। वस्तुतः दुर्ग तथा स्कन्द ने निरुक्त की **उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणाय इमं ग्रंथं समाम्नासिषुः** इस वाक्य के **'इमं ग्रन्थम्'** का अर्थ यास्कीय निरुक्त का व्याख्येय ग्रन्थ निघण्टु मानकर यह भ्रान्त धारणा बना ली कि निघण्टु की रचना यास्क से पहले के ऋषियों ने की थी। तथा दुर्ग और स्कन्द की इस भ्रान्त धारणा के आधार पर रोथ, सामश्रमी, डा० सरूप, डा० सिद्धेश्वर वर्मा, प्रो० कर्मकर आदि का भी यह धारणा बन गयी कि निघण्टु यास्क कृत नहीं है और अपनी धारणाओं के पोषण के लिये इन विद्वानों ने भिन्न हेतु प्रस्तुत किये। परन्तु वास्तविकता यह है कि यहाँ 'इमम्' का अर्थ निघण्टु व्यक्ति न होकर 'निघण्टु' जाति है। यास्क का अभिप्राय यहाँ यह है कि इस प्रकार के अनेक निघण्टु ग्रन्थों का समाम्नान ऋषियों ने किया। जिस प्रकार अन्य शिक्षा कल्प आदि वेदाङ्गों का प्रणयन भिन्न-भिन्न ऋषियों ने अपनी अपनी दृष्टि से किया उसी

प्रकार इस निरुक्त (निघण्टु तथा निरुक्त का सम्मिलित रूप) का भी समाम्नान अनेक ऋषियों ने किया। ऊपर यास्क से प्राचीन आचार्य शाकपूणि के निघण्टु और निरुक्त दोनों के विषय में विस्तार से चर्चा की गयी है। यास्क की इस पंक्ति को यास्क के ही अन्य वाक्य 'तम् इमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते (निरुक्त १।१) के साथ मिलाकर यदि विचार किया जाये तो अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाता है। यहाँ 'निघण्टु' शब्द का बहुवचनान्त प्रयोग इस बात की स्पष्ट सूचना दे रहा है कि यास्क के समय में इस प्रकार के अनेक कोष थे जिन्हें निघण्टु कहा जाता था। यहाँ स्वयं दुर्ग ने भी यह स्वीकार किया है कि इस निघण्टु से पहले भी अनेक निघण्टु विद्यमान थे। द्र०—**तं च योऽसमाम्नातः छन्दस्येवावस्थितः गवादिर् अन्यैर्वा नैरुक्तैः समाम्नातास्तम् इमं निघण्टव इत्याचक्षते। अन्येऽप्याचार्या इति वाक्यशेषः** (दुर्गभाष्य, आनन्दाश्रम संस्करण, पृ०५)। इसी प्रकार निरुक्त १।१ के **सव्याख्यातव्यः** इस अंश की व्याख्या करते हुये भी दुर्ग ने यह स्वीकार किया है कि यास्क ने केवल निघण्टु के ही शब्दों की व्याख्या की है अपितु अन्य आचार्यों के निघण्टु ग्रन्थों में संगृहीत कुछ शब्दों की व्याख्या भी की है। द्र०—**स च योऽसमाम्नातः छन्दस्येवावस्थितः गवादिर् अन्यैर् वा नैरुक्तैः समाम्नातः अयं च एतस्मिन् निरुक्ते स एष उभयलक्षणोऽपि व्याख्यातव्यः**' (दुर्गभाष्य, भा० १, पृ० ६)। निरुक्त ३।१३ के भाष्य में वह पुनः लिखता है—**अन्ये पुन ··एतानि पूर्वाचार्य प्रामाण्याद् आमिश्राणि पठयन्ते** अर्थात् निघण्टु ३।११ में जो नाम और आख्यातों का सम्मिश्रण है—वह पूर्वाचार्यों के प्रमाण से है—ऐसा कई व्याख्याता मानते हैं।

निघण्टु में शब्दों का संग्रह स्वयं यास्क ने ही अपनी दृष्टि से किया था इस तथ्य का सबसे बडा और अकाट्य प्रमाण यह है कि यास्क ने निरुक्त ७।१३ में अन्य आचार्यों के निघण्टुओं से अपने निघण्टु का अन्तर बताते हुये यह कहा है कि कई नैरुक्त विशेषणों से युक्त 'इन्द्र' आदि देवतावाचक नामों का भी संग्रह अपने निघण्टु में करते हैं 'इन्द्राय' 'वृत्रतुरे' 'इन्द्राय अंहोमुचे' इत्यादि। परन्तु इस प्रकार के नामों के सग्रह से **शब्दों की संख्या** अधिक हो जायगी—अथवा इस प्रकार के नामों के संग्रह के उपरान्त भी बहुत से शब्द असंग्रहीत ही रह जायेंगे। इसलिये जो प्रधान स्तुति वाले अग्नि आदि का नाम हैं

केवल उन्हीं का मैं (अर्थात् यास्क) संग्रह करता हूँ। कुछ निघण्टु के प्रणेता आचार्यों ने क्रम से सम्बद्ध देवता वाचक नामों का भी संग्रह किया है जैसे 'वृत्रहा' 'पुरन्दरः' इत्यादि। द्र०—**अथोताभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति—इन्द्राय वृत्रघ्ने, इन्द्राय वृत्रतुरे, इन्द्राय अंहोमुचे इति। तान्यप्येके समामनन्ति। भूयांसि तु समाम्नानात्। यत्तु संविज्ञानभूतं स्यात् प्राधान्यस्तुति तत्समामने। अथोत कर्मभिर्ऋषिर्देवताः स्तौति वृत्रहा, पुरन्दर इति। तान्यप्येके समामनन्ति। भूयांसि तु समाम्नानात्।** यास्क के इस कथन की व्याख्या में दुर्ग को भी यह कहना पड़ा—**अहं तु न समामने।** स्कन्द ने भी अपनी व्याख्या में यह कहा—**तान्यपि गुणाभिधानानि एके नैरुक्ताः पठन्ति** अर्थात् इन गुणवाचक शब्दों का संग्रह कुछ नैरुक्त करते हैं परन्तु यास्क नहीं करते। इसलिए इस पमाण को देने के पश्चात् किसी और प्रमाण को देने की आवश्यकता नहीं रह जाती। निरुक्त की प्रथम पंक्ति **समाम्नायः समाम्नातः** की भी संगति इस बात में है कि निघण्टु की यास्क द्वारा ही समाम्नात माना जाय। यदि पहले से ही यह शब्द कोष विद्यमान था तब तो यह कहने की कोई आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती।

'दावने अकूपारस्य' इन शब्दों के क्रम विपर्यय की जो बात है उसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि इन दोनों शब्दों को स्वतन्त्र मानकर निघण्टु में प्रस्तुत किया गया है। यदि ऐसी बात होती कि दोनों शब्द केवल एक मन्त्र में प्रस्तुत होते तब तो दुर्ग की बात कुछ ठीक भी होती। परन्तु 'दावने' शब्द अन्यत्र प्रयुक्त हुआ है। इसलिये इस हेतु का कोई मूल्य नहीं है। यदि दुर्ग की बात मान भी ली जाय तो भी यह प्रश्न तो बना ही रहता है कि जिस किसी ने भी इन शब्दों का पाठ या संग्रह किया था उसने ऐसा क्यों किया? यह सम्भव है कि पूर्वाचार्यों के अनुकरण पर यास्क ने इन शब्दों का तथा 'वाजस्पत्यम्' 'वाजगन्ध्यम्' का मन्त्र से भिन्न क्रम मान लिया हो। ऊपर शाकपूणि के प्रसङ्ग में यह बात विस्तार से कही जा चुकी है कि शाकपूणि ने अपने निघण्टु की रचना स्वयं की थी तथा उसमें कुछ ऐसे शब्द भी पठित थे जो यास्क के निघण्टु में नहीं हैं। इसके साथ ही उसने अपने निघण्टु में पठित

शब्दों के क्रम का प्रयोजन भी बताया था। सम्भव है यास्क ने इन शब्दों के क्रम को शाकपूणि के निघण्टु के आधार पर रखा हो तथा उसका कोई विशिष्ट प्रयोजन रहा हो।

प्रो० कर्मकर के हेतुओं के उत्तर में भी यह कहा जा सकता है कि वे सभी बातें जिसकी ओर से इस विद्वान् ने निर्देश किया है वे यास्क के निघण्टु में किसी प्रभाव के कारण आ गयी हैं। ऐसी स्थिति पाणिनि आदि के ग्रन्थों में भी पायी जाती है। इसप्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि यास्क ने ही अपनी दृष्टि से इस निघण्टु में शब्दों का संग्रह किया—यह दूसरी बात है कि जिस प्रकार पाणिनि ने अपने व्याकरण में अपने प्राचीन वैयाकरण आचार्यों के व्याकरण का पूरा-पूरा उपयोग किया था, उसी प्रकार यास्क का निघण्टु भी प्राचीन निघण्टुओं से प्रभावित हो।

श्री सत्यव्रत सामश्रमी तथा डा० सिद्धेश्वर वर्मा का यह कहना भी उचित नहीं है कि चूँकि 'वृषाकपि' शब्द इस निघण्टु मे है तथा महाभारत में यह कहा गया है कि प्रजापति कश्यप ने 'वृषाकपि' शब्द को निघण्टु में पढ़ा था इसलिये इस निघण्टु का प्रणेता कश्यप प्रजापति है यास्क नहीं। क्योंकि यह भी सम्भव है कश्यप प्रजापति के निघण्टु में यह शब्द पठित हो और वहाँ से परम्परया अन्य निघण्टुओं में भी संगृहीत होता रहा हो तथा उससे यास्क भी प्रभावित हुये हों।

निघण्टु को यास्क प्रणीत मानते हुए ही वेंकट माधव ने ऋग्वेद के एक मन्त्र (७।८।४।४) की व्याख्या में यह स्पष्ट लिखा है कि 'पृथिवी' के २१ नाम यास्क ने पढ़े हैं—**तस्या हि यास्क पठित्तानि एकविंशति नामानि** तथा महिम्न-स्तोत्र के सातवें श्लोक की व्याख्या में श्री मदुसूदन सरस्वती ने लिखा—**एवं निघण्ट्वादयोऽपि ····निरुक्तान्तर्भूता एव। तत्रापि निघण्टुसंज्ञकः पंचाध्यायात्मको ग्रन्थो भगवता यास्केनैव कृतः,** अर्थात् आचार्यों के निघण्टु उनके निरुक्त के अन्तर्गत ही हैं। सम्प्रति जो निघण्टु उपलब्ध है उसके कर्त्ता भगवान् यास्क ही है। निघण्टु के निरुक्तान्तर्गत होने के कारण ही दुर्ग तथा स्कन्द के भाष्यों में

निरुक्त के प्रथम अध्याय को षष्ठ अध्याय माना गया है।

ये भाष्यकार निघण्टु के पाँच अध्यायों की दृष्टि से निरुक्त प्रथम अध्याय को षष्ठ अध्याय मानते हैं। इससे भी स्पष्ट है कि प्रत्येक निरुक्तकार पहले शब्दों के संग्रह के रूप में निघण्टु की रचना करके निरुक्त के रूप में उसका व्याख्यान आरम्भ करता था।

निरुक्त के दो संस्करण-लघु एवं बृहत्

इस समय जो निरुक्त उपलब्ध है उसमें अनेकविध प्रक्षेप हुए हैं तथा इनके दो लघु तथा बृहत संस्करणों की स्थिति अनुमेय है (द्र० डा० सरूप—निरुक्त की भूमिका)। दुर्ग तथा स्कन्द के भाष्य निरुक्त के लघु संस्करण पर ही हैं। बृहद्देवता में निरुक्त अथवा यास्क के नाम से ऐसे अनेक उद्धरण मिलते हैं, जो इस निरुक्त में उपलब्ध नहीं हैं। अतः इन उद्धरणों से निरुक्त के बृहत् संस्करण विषयक सम्भावना की पुष्टि होती है। उपलक्षण के रूप में कुछ उद्धरण प्रस्तुत किये जाते हैं—

१. बृहद्देवता के प्रथम अध्याय में 'नाम' शब्दों की उत्पत्ति के विषय में विचार करते हुये यह कहा गया कि प्राचीन नैरुक्त विद्वान् तथा मधूक श्वेतकेतु और गालव नव हेतुओं से 'नाम' शब्दों की उत्पत्ति मानते हैं। परन्तु यास्क, गार्ग्य तथा रथीतर केवल चार हेतुओं से मानते हैं। द्र०—

तत् खल्वाहुः कतिभ्यस्तु कर्मभ्यो नाम जायते।
सत्त्वानां वैदिकानां वा यद् वाऽन्यद् इह किंचन॥
नवभ्य इति नैरुक्ताः पुराणाः कवयश्च ये।
मधूकः श्वेतकेतुश्च गालवश्चैव मन्यते॥
निवासात् कर्मणो रूपात् मंगलाद् वाच आशिषः।
यदृच्छयोपवासनात् तथाऽमुष्यायनाच्च यत्॥
चतुर्भ्य इति तत्राहुर्यास्क-गार्ग्य-रथीतराः।
आशिषोऽथार्थं वैरूप्याद् वाचः कर्मण एव च॥

आज जो निरुक्त उपलब्ध है उसमें इस प्रकार का कथन नहीं मिलता, जिसमें इन 'आशी:' प्रार्थना आदि से चार से 'नाम' की उत्पत्ति की बात कही गयी हो। 'क्रम' (क्रिया) से अथवा 'धातु' से उत्पन्न होने की बात तो कही गयी हो। 'कार्मनामिक:' शब्द से भी यह संकेत मिल सकता है। परन्तु 'कर्म' को बृहद्देवता में सब से अन्त में स्थान दिया गया है। निरुक्त ५।२, में 'कितव' शब्द का निर्वचन करते हुये उसे 'आशीर्नामक:' कहा गया है जिससे पता लगता है कि यास्क 'आशी:' को भी 'नाम' शब्दों की उत्पत्ति में एक हेतु मानते हैं। परन्तु अन्य दो के विषय में कोई संकेत नहीं मिलता।

(२) बृहद्देवता में यह कहा गया—कि 'सरस्वती' शब्द का नदी के नाम के रूप में छः मन्त्रों में प्रयोग हुआ है। सातवाँ कोई मन्त्र नहीं है। ऐसा शौनक का विचार है। परन्तु यास्क 'इमं शुष्मेभि:' इस मन्त्र को सरस्वती नदी विषयक सातवीं ऋचा मानते हैं। द्र०—

नदीवद् देवतावच्च तत्राचार्यस्तु शौनक: ।
नदीवन्निगमा: षट् ते सप्तमो नेत्युवाचह ।।

'इमं शुष्मेभिर्' इत्येतम् मेग यास्कस्तु सप्तमम् ।। (२, १३६–३७)

परन्तु इस निरुक्त में यास्क केवल इतना ही कहते हैं **नदीवद्देवतावच्च अस्या निगमा भवन्ति;** अर्थात् ऋग्वेद में 'सरस्वती' की नदी तथा देवता दोनों रूपों में स्तुति की गई है। यहाँ कोई ऐसा स्थल नहीं मिलता जहाँ यास्क ने सात ऋचाओं का परिगणन किया हो। यास्क ने 'इमं शुष्मेभि:' (ऋग्वेद ६, ६१, २) को निरुक्त (२, २४) में उद्धृत तो किया है पर सातवाँ उल्लेख है ऐसा कोई संकेत नहीं है।

(३) बृहद्देवता में यह कहा गया है कि—ऋग्वेद १।२८।१–४ में इन्द्र तथा उलूखल की स्तुति की गई है ऐसा यास्क तथा कात्थक्य मानते हैं। भागुरि के मत में इन मन्त्रों में केवल इन्द्र की स्तुति है'। द्र०—

पराश् चतस्रो यत्रेति इन्द्रोलूखलयोः स्तुतिः ।
मन्येते यास्क-कात्थक्यौ इन्द्रस्येति तु भागुरिः ।। (३।१००)

परन्तु निरुक्त में इस तरह का कोई उल्लेख नहीं मिलता। केवल एक (१, २८, ५) को उद्धृत करके उसमें उलूखल को प्रधान देवता मान लिया गया है।

(४) बृहद्देवता (४, ४–५) में यह कहा गया है कि ऋग्वेद के एक मंत्र (१, १३, २, ६) **युवं तम् इन्द्रापर्वता परोयुधा** में यद्यपि इन्द्र तथा पर्वत दोनों की स्तुति की गयी है परन्तु यास्क के अनुसार इन्द्र प्रधान देव हैं। आश्चर्य है कि निरुक्त में न तो कहीं भी यह मंत्र उद्धृत है और न ही इस मंत्र के समय के विषय में कहीं कोई विचार ही किया गया है।

(५) बृहद्देवता में (५।८) 'शुनासीरौ' शब्द के अर्थ के विषय में विचार करते हुए यह कहा गया है कि कुछ आचार्य 'शुन' का अर्थ 'वायु' तथा 'सीर' का अर्थ 'आदित्यः' करते हैं। परन्तु यास्क के अनुसार 'शुनासीर' का अर्थ है 'इन्द्र'। शाकपूणि के अनुसार 'शुन' का अर्थ है 'सूर्य' तथा 'सीर' का अर्थ है 'इन्द्र'। परन्तु निरुक्त (९।४०) में केवल पहला मत मिलता है। बृहद्देवता-कार ने जिसे यास्क का मत कहा है वह निरुक्त में नहीं मिलता।

(६) इसी तरह वररुचि के निरुक्त-समुच्चय में भी यास्क को अनेक बार भाष्यकार के नाम से याद किया गया है तथा उसके मत उद्धृत किये गये हैं पर उनमें से भी कुछ इस निरुक्त में नहीं मिलते। उदाहरण के लिये—

(१) **'सूनर······पदकारेण एतत् पदं नावगृहीतम्। तथापि भाष्यकार-वचनात् पदकारम् अनादृत्य एतन् निरुक्तम्' ।।**

यह 'सूनर' शब्द तथा उसका निर्वचन निरुक्त में कहीं नहीं मिलता।

(२) **'उदकम् अपि हिरण्यम् उच्यते इति भाष्यकार वचनात्'** यह स्थल भी निरुक्त में नहीं मिलता।

इस प्रकार के अनेक स्थल बृहद्देवता तथा निरुक्त-समुच्चय में मिलते हैं जिनमें यास्क के विषय में कोई बात कही गई है परन्तु इस निरुक्त में वह बात नहीं मिलती। (द्र०—यास्कीय निरुक्त-विष्णुपद भट्टाचार्य, पृ० ४६–६०) इससे

यह अनुमान किया जा सकता है कि इन लेखकों के समय में निरुक्त का कोई बृहत् संस्करण विद्यमान होगा जो आज उपलब्ध नहीं है।

प्रो० राजवाड़े ने सप्रमाण यह सिद्ध किया है कि इस निरुक्त के भी दो पाठ हैं एक गुर्जर तथा दूसरा महाराष्ट्र और दूसरे की अपेक्षा पहला प्राचीन है। (द्र० भूमिका पृ० १०)

निघण्टु के भाष्यकार श्री देवराज यज्वा

यास्क के निघण्टु पर देवराज यज्वा ने निघण्टु निर्वचन नामक व्याख्या लिखी है। इस व्याख्या से यह पता लगता है कि इसके पिता का नाम यज्ञेश्वर आर्य था और पितामह का देवराज यज्वा ही था। वह रंगेशपुरी पर्यन्त ग्राम का रहने वाला था।

इस निघण्टु निर्वचन के लेखक देवराज ने भोज, दैव तथा उसकी पुरुषकारवृत्ति, पदमंजरी तथा भरतस्वामी को उद्धृत किया है। सायण ने इस देवराज के निघण्टु भाष्य से प्रमाण दिया है। अतः देवराज का समय १४वीं शताब्दी ई० श० का अन्त माना जा सकता है।

निघण्टु निर्वचन में नैघण्टुक काण्ड के शब्दों का ही निर्वचन अधिक विस्तार से किया गया है। इस ग्रन्थ का प्रधान आधार स्कन्द स्वामी का ऋग्वेद भाष्य तथा उसी की निरुक्त टीका है। अनेक स्थानों पर स्कन्द का नाम लिये बिना ही उसकी अनेक पंक्तियाँ देवराज ने अक्षरशः उद्धृत की हैं। (द्र० वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, खण्ड २, २१०)

निरुक्त की व्याख्यायें

यास्क का निरुक्त बहुत समय से वेद के एक अंगभूत निरुक्त शास्त्र का प्रतिनिधित्व करता आ रहा है। परन्तु इस निरुक्त ग्रन्थ के ऊपर दो एक भाष्य ही अब तक उपलब्ध हो सके हैं। यह भी सभावना है कि इस ग्रन्थ पर भाष्य थोड़े ही लिखे गये हों। इस सम्भावना का प्रमुख कारण यह है कि निरुक्त स्वयं एक व्याख्या ग्रन्थ है तथा सूत्र शैली में निबद्ध न होकर लौकिक गद्य शैली में निबद्ध है। इसलिये इसके भाष्य अथवा व्याख्यान आदि की विशेष आवश्यकता न समझी गई हो। साथ ही यह भी सम्भव है कि कुछ भाष्य काल के क्रूर घटना चक्र में पड़ कर नष्ट विनष्ट हो गये हों। क्योंकि दुर्ग के भाष्य में

जो आजकल अविकल रूप में उपलब्ध है, अनेक स्थलों पर 'अन्ये', 'अवरे', 'एके' तथा 'केचित्' जैसे सर्वनामों द्वारा सम्भवत: अन्य व्यख्याकारों को उद्धृत किया गया है। कई स्थलों पर केवल 'व्याचक्षते' शब्द के द्वारा ही प्राचीन टीकाकारों को याद किया गया है। स्कन्द के भाष्य की एक पंक्ति से बर्बर स्वामी नामक किसी व्याख्याकार का संकेत मिलता है (द्र० स्कन्द 'टीका भाग १ पृ० ४) पतञ्जलि के महाभाष्य से यह संकेत मिलता है कि उसके समय में निरुक्त की व्याख्या आरम्भ हो चुकी थी। द्र० 'निरुक्त' व्याख्यायते'। (महाभाष्य ४।३।६६)

निरुक्त वार्तिक

यास्कीय निरुक्त की आलोचनात्मक व्याख्या के रूप में दुर्ग से भी पहले किसी विद्वान् ने निरुक्तवार्तिक नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया गया था। अपने निरुक्त भाष्य के प्रारम्भ में निघण्टु शब्द की यास्ककृत त्रिविध निर्वचनों की पुष्टि में दुर्ग ने वार्तिककार को निम्न शब्दों में उद्धृत किया है:—

अपि प्रोक्तं वार्तिककारेण—

यावताम् एव धातूनां लिंगं रूढ़िगतं भवेत् ।

अर्थश्चाप्यभिधेयस्थस् तावद्भिर् गुणविग्रहः ।।

इसके अतिरिक्त भी वह अनेक स्थलों पर इस विद्वान् के मत को उद्धृत करता है। जैसे—

निरुक्त ६।३१ की व्याख्या मे वह लिखता है:—

वार्तिककारेणाप्युक्तम्—

निगमवशाद् बह्वर्थं भवति पदं तद्धितस् तथा धातुः ।

उपसर्ग-गुण-निपाता मंत्रगताः सर्वथा लक्ष्याः ।।

निरुक्त ८।४ की व्याख्या में पहले तो दुर्ग ने यह कहा कि प्राचीन नैरुक्त शाकपूणि ने अपने निरुक्त में, अपने निघण्टु में पठित शब्दों के क्रम का प्रयोजन भी बताया था। उसके बाद अपने इस कथन की पुष्टि में उसने वार्तिककार को उद्धृत किया। द्र०—**शाकपूणिस्तु पृथिवीनामभ्य एव उपक्रम्य स्वयम् एव सर्वत्र क्रमप्रयोजनम् आह। तदुक्तं वार्तिककारेण—**

क्रमप्रयोजनम् नाम्नां शाकपूण्युपलक्षितम् ।
प्रकल्पयेद् अन्यद् अपि न प्रज्ञाम् अवसादयेत् ।।

निरुक्त भाष्य ११।१३ में भी वह लिखता है—

निरुक्तसमयस्तु सर्वा एव गणा मरुतः । उक्तं च वार्तिके:—

मध्यमा वाक स्त्रियः सर्वाः पुमान् सर्वश्च मध्यमः ।
गणाश्च सर्वे मरुत गणभेदाः पृथक् कृतेः ।।

इन उद्धरणों में सबसे पहला—'यावतामेव धातूनां०' तथा अन्तिम मध्यमा वाक०' में दोनों बृहद्देवता (क्रमशः २।१०२ तथा ५।४६) में भी मिलते हैं। अन्तिम श्लोक बृहद्देवता में कुछ पाठान्तर के साथ मिलता है।

इसीलिये प्रो० राजवाड़े ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि दुर्ग के समय के बृहद्देवता का ही दूसरा नाम निरुक्तवार्तिक रहा होगा। द्र०—राजवाड़े कृत टिप्पणियाँ—दुर्गभाष्य, आनन्दाश्रम सस्करण, भा० १, पृ० २२१—'बृहद्देवता-कारान् नान्यो वार्तिककारः' । परन्तु उनकी यह सम्भावना एक असत्य सम्भावना ही है क्योंकि निरुक्त वार्तिक के नाम से कुछ अन्य श्लोक मण्डनमिश्र रचित स्फोटसिद्धि की गोपालिका नामक टीका में भी उद्धृत हैं, जो न तो बृहद्देवता में मिलते हैं और न बृहद्देवता में कभी उनके मिलने की सम्भावना ही की जा सकती है। द्र०—

यथोक्तं निरुक्तवार्तिक एव—

असाक्षात्कृतधर्मभ्यस्ते परेभ्यो यथाविधि ।
उपदेशेन सम्प्रापुर् मन्त्रान् ब्राह्मणम् एव च ।।१।।

उपदेशश्च वेदव्याख्या । यथोक्तम्—

अर्थोऽयम् अस्य मंत्रस्य, ब्राह्मणस्यायम् इत्यपि ।
व्याख्यैवात्रोपदेशस् स्याद् वेदार्थस्य विवक्षितः ।।२।।

× × ×

यथोक्तम्—

अशक्तास्तूपदेशेन ग्रहीतुम् अपरे तथा ।
वेदम् अभ्यस्तवन्तस्ते वेदांगानि च यत्नतः ।।३।।

× × ×

व्याख्यातं च—

बिल्मं भिल्मम इति त्वाह बिभक्त्यर्थं-विवक्षया ।
उपायो हि बिभक्त्यर्थम् उपेयं वेदगोचरम् ।।
अथवा भासनं बिल्मं भासतेर् दीप्तिकर्मणः ।
अभ्यासेन हि वेदार्थो भास्यते दीप्यते स्फुटम् ।।५।।
......यथोक्तम्—
प्रथमाः प्रतिभानेन द्वितीयास्तूपदेशतः ।
अभ्यासेन तृतीयास्तु वेदार्थान् प्रतिपेदिरे । ६।।

निरुक्तवार्तिक के नाम से उद्धृत इन ६ श्लोकों में निरुक्त के साक्षात्कृत धर्माण ऋषया बभूवु ...भासनम् इति वा (निरुक्त १।२०) इस स्थल की बड़ी ही सरल एवं हृदयगम व्याख्या उपलब्ध है । अतः इन श्लोकों से यह अनुमान करना सरल है कि यास्कीय निरुक्त की बड़ो विस्तृत एवं विवेकपूर्ण व्याख्या इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ में की गयी होगी जो आज दुर्भाग्यवश अनुपलब्ध है ।

दुर्ग-भाष्य

निरुक्त के उपलब्ध व्याख्याकारों में दुर्गसिंह अथवा दुर्गाचार्य, समय की दृष्टि से सर्वप्रथम माने जा सकते हैं । डा० लक्ष्मणसरूप ने निरुक्त के इंग्लिश अनुवाद की भूमिका (पृ० ५०) में पहले यह लिखा था कि दुर्ग का समय १३ वीं शताब्दी ईस्वी पश्चात् के आस पास माना जा सकता है । परन्तु बाद में स्कन्द भाष्य, तृतीय भाग, की भूमिका (पृ० ८१—९७) में अनेक हेतुओं से यह प्रमाणित किया कि दुर्ग स्कन्द से पहले हो चुके हैं तथा इनका समय प्रथम शताब्दी ईस्वी पश्चात् मानना चाहिये । इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि स्कन्द ने अपनी टीका में प्राचीन भाष्यकारों के प्रसंग में, दुर्ग का नाम लिया है । इसके अतिरिक्त अपनी व्याख्या के अनेक स्थलों में दुर्ग का बिना नाम लिये ही, दुर्ग की व्याख्या का खण्डन किया है तथा उसे 'अपव्याख्यानम्' कहा है। इन स्थलों में जिस व्याख्या या मत का खण्डन किया है, वह कहीं-कहीं तो अक्षरशः दुर्ग की व्याख्या से मिलता है । उदाहरण के लिये निरुक्त (१।९) में ऋच्छन्तीव से 'उदगन्ताम्' की दुर्ग तथा स्कन्द कृत व्याख्या की पारस्परिक तुलना द्रष्टव्य है । इसी तरह 'कर्मोपसंग्रहार्थीय' की जो परिभाषा यास्क

निरुक्त का प्रथम अध्याय

प्रथम पाद

निरुक्त का व्याख्येय ग्रन्थ निघण्टु

मूल—समाम्नायः समाम्नातः । स व्याख्यातव्यः । तम् इमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते ।

अनुवाद—(वैदिक शब्दों का) संग्रह संगृहीत हो चुका । (अब) उसकी व्याख्या करनी है । इस संग्रह को (आचार्य लोग) 'निघण्टु' कहते हैं ।

व्याख्या—'समाम्नाय' शब्द 'सम्' और 'आङ्' उपसर्गों के साथ 'म्ना' धातु से 'कर्म' कारक में 'घञ्' प्रत्यय करके निष्पन्न माना गया है । 'सम् का अर्थ है सम्यक्' 'आ' का अर्थ है 'एक विशिष्ट क्रम में' तथा 'म्ना' धातु का अर्थ है 'अभ्यास' अर्थात् किसी विषय का बार-बार विचार करना, मनन करना इत्यादि । अत: 'समाम्नाय, शब्द का अर्थ हुआ वह शब्दकोष जिसमें एक विशेष दृष्टि से, बार-बार विचार करके शब्दों का संग्रह किया गया है । यहाँ यास्क ने 'समाम्नाय' शब्द से जिस कोष का उल्लेख किया है वह निरुक्त का व्याख्येय ग्रन्थ 'निघण्टु' है, जिसका आरम्भ 'गौ' शब्द से तथा अन्त 'देवपत्नी शब्द से होता है । यह पाँच अध्यायों तथा तीन काण्डों (नैघण्टुक, नैगम और देवत) में विभक्त है ।

'समाम्नाय: समाम्नात:' का अभिप्राय यह है कि अभिष्ट वैदिक शब्दों के संग्रह का कार्य समाप्त हो चुका । अब उसकी व्याख्या करनी चाहिये । यह वाक्य 'कर्मवाच्य' का है अर्थात् यहाँ 'कर्म' ('समाम्नाय') को कहने के लिए 'क्त' प्रत्यय प्रयुक्त है । परन्तु 'कर्त्ता' का नाम नहीं लिया गया ।

इस कारण यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस 'समाम्नाय' का समाम्नान करने वाला कौन है ?

प्रायः अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन व्याख्याकार 'समाम्नाय' शब्द का 'परम्परागत प्राचीन एवं प्रसिद्ध शब्दकोष' अर्थ करते हुये यास्क से भिन्न किसी प्राचीन ऋषि को 'समाम्नाय' अथवा 'निघण्टु' का प्रणेता मानते हैं ।

परन्तु **समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः** ये दोनों वाक्य इस बात का स्पष्ट संकेत देते हैं कि स्वयं यास्क ने ही अपनी दृष्टि से इस वैदिक शब्दकोष का संग्रह किया तथा उसके पश्चात् स्वयं उन शब्दों की व्याख्या भी की । सम्प्रति केवल एक ही निघण्टु तथा उसकी व्याख्या के रूप में निरुक्त ग्रन्थ उपलब्ध हैं परन्तु इस निरुक्त में इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि यास्क से पूर्व निरुक्त के अनेक सुप्रतिष्ठित आचार्य हो चुके थे । इसी प्रकार अनेक निघण्टु ग्रन्थों की सत्ता के संकेत भी इस निरुक्त से ही कथंचित् उपलब्ध हो जाते हैं । प्रथम अध्याय के अन्त के **इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः** यह कहा गया है कि जिसका अर्थ है कि आचार्यों ने इस प्रकार के निघण्टु (तथा इसके व्याख्याभूत निरुक्त ग्रन्थ) का समाम्नान अथवा प्रणयन किया । इसी प्रकार सप्तम अध्याय में इन्द्र देवता के नामों के संग्रह के प्रसंग में यास्क ने कहा है—**तान्यपि एके समामनन्ति । भूयांसि तु समाम्नानात् । यत्तु संविज्ञानभूतं स्यात् प्राधान्यं स्तुति तत् समामने ।** अर्थात् कुछ आचार्य अपने निघण्टु ग्रंन्थों में इन्द्र के 'वृत्रतुर' 'अंहोमुच्' इत्यादि विशेषणों अथवा कर्म (कार्य) के आधार पर रखे गये 'वृत्रहा' 'पुरन्दर' इत्यादि नामों का संग्रह भी अपने निघण्टु ग्रन्थों में करते हैं । परन्तु इस प्रकार के विशेषणों के संग्रह से निघण्टु का आकार बहुत बड़ा हो जायेगा । इसलिये मैं (यास्क) उन्हीं नामों का संग्रह अपने निघण्टु में करता हूँ जो बहुत प्रसिद्ध है तथा जिनकी प्रधान रूप से स्तुति की गई है । निरुक्त के इस स्थल से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं । एक तो यह कि यास्क से पूर्व अनेक निघण्टु अथवा वैदिक शब्द कोष के संग्रहीता आचार्य हो चुके थे । तथा दूसरी यह है कि यास्क ने भी, अपने निरुक्त के व्याख्येय ग्रन्थ निघण्टु के लिए, अपनी दृष्टि से, शब्दों का संग्रह किया था ।

इसलिए 'समाम्नायः समाम्नातः' इस वाक्य का प्रयोग यास्क ने अपने 'समाम्नाय की दृष्टि से ही किया है। अतः यहाँ 'मया' शब्द का अध्याहार करके **मया (यास्केन) समाम्नायः समाम्नातः** अर्थात् 'मुझ यास्क के द्वारा शब्दों के संग्रह का कार्य समाप्त किया जा चुका' यही अर्थ अभीष्ट प्रतीत होता है।

टिप्पणी—विशिष्ट संग्रह के अर्थ में अन्यत्र भी 'समाम्नाय' शब्द का प्रयोग मिलता है। जैसे तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में (१, १) में 'वर्ण-समाम्नाय, अनुवाकानुक्रमणी (१, ६) में 'पदाक्षर-समाम्नाय' तथा पातंजल महाभाष्य में प्रथमाध्याय प्रथम पाद के द्वितीय आह्निक में 'अक्षर समाम्नाय' का प्रयोग मिलता है।

स व्याख्यातव्यः—यहाँ 'सः' का अभिप्राय है वह 'समाम्नाय' अथवा वैदिक शब्दों का संग्रह, जिसका समाम्नान यास्क ने किया था 'व्याख्यातव्यः' शब्द में 'तव्यत्' प्रत्यय 'अर्ह' अथवा योग्य अर्थ को कहने के लिये प्रयुक्त हुआ है। द्र०—"अर्हे कृत्यतृचश्च" (पा० ३।३।१६९) अर्थात् 'अर्ह' अर्थ को कहने के लिए 'कृत्य' तथा 'तृच' प्रत्ययों का प्रयोग होता है। 'कृत्य' कहे जाने वाले प्रत्ययों में 'तव्यत्' प्रत्यय भी समाविष्ट है। इसलिए 'स व्याख्यातव्यः' का अर्थ हुआ वह 'समाम्नाय' या शब्द संग्रह जो व्याख्यार्ह है (व्याख्या के योग्य) है। दूसरे शब्दों में उस शब्द संग्रह की व्याख्या करना आवश्यक है। क्योंकि उन संगृहीत शब्दों का अर्थ जाने बिना उस ग्रन्थ के उद्देश्य-वेदार्थ का ज्ञान पूरा नहीं हो सकता। यहाँ 'व्याख्या' के अन्तर्गत शब्दों का अभिप्राय, निर्वचन उनके उदाहरण के रूप में वैदिक मन्त्रों का प्रदर्शन तथा उनका संक्षिप्त अर्थ इत्यादि सभी उपयोगी चर्चा अभीष्ट है।

तम् इमं ....आचक्षते।

इस वाक्य में यह बताया गया कि इस 'समाम्नाय' अथवा वैदिक शब्दों के कोष को आचार्य लोग 'निघण्टुः' कहते हैं। यहाँ भी 'आचक्षते' क्रिया का कर्त्ता नहीं कहा गया है इसलिए 'आचार्याः' जैसे किसी शब्द का अध्याहार करना होगा।

यहाँ एक विचारणीय बात यह है कि 'निघण्टुः' शब्द के स्थान पर 'निघण्टवः' इस बहुवचनान्त शब्द का प्रयोग क्यों किया गया ? कुछ विद्वानों ने इस बहुवचनान्त प्रयोग से यह अभिप्राय निकाला है कि अपने समय में विद्यमान अनेक निघण्टुओं की दृष्टि से यास्क ने बहुवचनान्त शब्द का प्रयोग किया है। कुछ अन्य विद्वानों का विचार है कि इस प्रकार के 'समाम्नाय' के प्रत्येक शब्द को 'निघण्टु' कहा जाता था। इस बात को बताने के लिये, या इस दृष्टि से, यास्क ने 'निघण्टवः' शब्द का प्रयोग करना आवश्यक समझा। इन दोनों विचारों में पहला विचार अधिक स्वाभाविक एवं सुसंगत प्रतीत होता है

निघण्टु शब्द की व्युत्पत्ति

मूल—निघण्टवः कस्मात् ? निगमा इमे भवन्ति । छान्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः। ते निगन्तव एव सन्तो निगमनात् निघण्टव उच्यन्ते इत्यौपमन्यवः। अपि वा आ हननाद् एव स्युः। समाहता भवन्ति । यद् वा समाहृता भवन्ति ।

अनुवाद—'निघण्टवः' नाम कैसे पड़ा ? ये (संगृहीत शब्द) अर्थबोधक होते हैं—वेदों से चुन-चुन कर शब्द इकट्ठे किये गये होते हैं। (इसलिये) वे (शब्द) 'निगन्तु' (अर्थ-बोधक) होते हुए ही, अर्थ बोधन के कारण 'निघण्टवः') नाम से) कहे जाते हैं यह औपमन्यव का विचार है।

अथवा 'आहत' (मर्यादा एवं विभाग के साथ पठित) होने के कारण ही (इन शब्दों का नाम 'निघण्टव') हुए हों (क्योंकि ये शब्द) 'समाहत' (एक साथ पठित) होते है।

अथवा (ये शब्द वेदों से) चुने हुए होते हैं (इसलिये इन्हें 'निघण्टवः') कहा जाता है।

व्याख्या—'सामाम्नाय' (वैदिक कोश) के शब्दों को 'निघण्टवः' क्यों कहा जाता है या उन सभी शब्दों के एकत्व के आधार पर इनके समूहभूत 'सामाम्नाय को 'निघण्टु' क्यों कहा जाता है इस बात को बताने के लिये 'निघण्टवः' शब्द के

यहाँ तीन निर्वचन दिये जा रहे हैं। शब्दों का निर्वचन करते हुये कभी-कभी निरुक्त में उस शब्द के साथ 'कस्मात्' शब्द का प्रयोग करके उसके उत्तर में एक या अनेक संभावित धातु या धातुओं का निर्देश किया गया है। यहाँ भी 'निघण्टु' शब्द के विविध निर्वचन प्रस्तुत करने के लिये ही यास्क ने 'निघण्टवः' कस्मात् ? यह प्रश्न प्रस्तुत किया है। इस प्रश्न के दो अभिप्राय हैं—एक यह कि 'निघण्टु' शब्द किस धातु से बनेगा ? तथा दूसरा यह कि इस 'समाम्नाय' का 'निघण्टु' नाम क्यों पड़ा, उसकी किस विशेषता के कारण 'निघण्टु' नाम दिया गया ? यों इन दोनों प्रश्नों में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

यों तो 'निघण्टु' शब्द रूढ़ि है तथा सामान्यतया 'कोष' का वाचक है। क्योंकि अमरकोष आदि को भी 'निघण्टु' कहा जाता है। इसलिये उसके प्रकृति प्रत्यय के विषय में विचार करना, उन वैयाकरणों की दृष्टि में जो कुछ शब्दों को ही धातुज मानते हैं सब शब्दों को नहीं; सर्वथा अनावश्यक है। परन्तु यास्क उन विद्वानों में से एक हैं जो सभी शब्दों को यौगिक अथवा धातुज मानते हैं तथा इसी कारण 'एक मात्र अर्थ का ध्यान रखते हुए (रूढ़ि) शब्दों का भी निर्वचन करना ही चाहिए चाहे धातु तथा निर्वचन के विषयभूत शब्द में कोई समानता हो' या न हो' यह यास्क का प्रमुखतम सिद्धान्त है। द्र०—**अर्थनित्यः परीक्षेत। ······अविद्यमानसामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान् निर्ब्रूयात्। न त्वेव न निर्ब्रूयात्।** (निरुक्त २।१)। इसलिये 'निघण्टु' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में यहाँ वे विविध निर्वचन प्रस्तुत कर रहे हैं।

यास्क ने 'निघण्टु' शब्द के तीन प्रकार के निर्वचन करते हुए तीन धातुओं का निर्देश किया है—'गम्' 'हन्' तथा 'हृ'। यास्क की यह शैली है कि शब्द जिस रूप में प्रयुक्त होता है प्रायः उसी रूप को लेकर वे उसका निर्वचन करते हैं। इसलिये यहाँ 'निघण्टुः' कस्मात्' ? न कहकर "निघण्टवः कस्मात्" ? यह प्रश्न किया गया क्योंकि ऊपर 'निघण्टवः का प्रयोग हो चुका था।

नि + गम

प्रथम निर्वचन—प्रथम निर्वचन के अनुसार 'निघण्टु' शब्द 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'गम्' धातु से बना है। चूंकि 'समाम्नायों' में बड़ी सावधानी के साथ वेदों से शब्द चुन-चुन कर इकट्ठे किये जाते हैं इसलिये इन शब्दों के अर्थ-ज्ञान के द्वारा

वैदिक मंत्रों के अर्थों का बोध होता है। अतः अर्थ बोधक होने के कारण ये शब्द 'निगम' के (नि+गम्+अच्) अर्थात् अर्थ के निश्चायक होते हैं। इस कारण 'निगम' के पर्याय के रूप में 'नि+गम्' के साथ औणादिक 'तुन्' प्रत्यय लगाकर 'निगन्तु' शब्द और उसके बाद 'त' का 'ट' तथा 'ग' का 'घ' होकर निघण्टु' शब्द बना। यास्क ने यह प्रथम व्युत्पत्ति, निरुक्त के प्राचीन आचार्य **औपमन्यव** के अनुसार दी है।

टिप्पणी--प्रो० वी० के० राजवाड़े के अनुसार यहाँ पाठ का क्रम सम्भवतः निम्न रूप में रहा होगा—**निघण्टवः कस्मात् ? निगमनात्। निगमा इमे भवन्ति। छन्दोभ्यः समाहृत्यः समाहृत्य समाम्नाताः। ते निगन्तव एव सन्तो निगमानात् निघण्टव उच्यन्ते औपमन्यवः।** संक्षेप में यह कहा जा सकता है **औपमन्यव** के इस निर्वचन में इस बात पर जोर दिया गया है कि निघण्टु में संगृहीत शब्द वैदिक मंत्रों के अर्थ के बोधक हैं इसलिये उन्हें 'निघण्टु' कहा जाता है। प्रसङ्गतः यहाँ से यह सूचना भी मिल जाती है कि यास्क के समान ही आचार्य औपमन्यव ने भी अपने निरुक्त का प्रणयन किया था जिसमें निघण्टु' शब्द का उपर्युक्त निर्वचन प्रस्तुत किया गया था।

द्वितीय निर्वचन—आ हननाद् एव स्युः समाहता भवन्ति—के अनुसार 'निघण्टु' शब्द 'सम्' तथा 'आ' उपसर्गों के साथ 'हन्' धातु से निष्पन्न होगा। **'समाहनन'** तथा 'समाम्नान' का इस प्रसङ्ग में लगभग एक ही अर्थ है और वह है मर्यादापूर्वक विशिष्ट विभाजन और दृष्टिकोण के साथ शब्दों का एक क्रम से संग्रह। इस निर्वचन में हेतु है 'समाहता भवन्ति', अर्थात् निघण्टु के शब्द सम्यक् रूप से मर्यादापूर्वक एक साथ पढ़े गये हैं। पाठ करने के अर्थ में 'हन्' धातु के प्रयोग की बात दुर्ग ने कही भी है। द्र०—**प्रसिद्धश्च पाठार्थे हन्तेः प्रयोग। ब्राह्मणे इदम् आहतम्। सूत्रे इदम् आहतम्।** (द्र० निरुक्त दुर्गभाष्य)। सम्भवतः यही व्युत्पत्ति निरुक्तकार को विशेष अभिमत है। क्योंकि यहाँ यास्क ने **'एव'** शब्द का प्रयोग किया है—'आहननाद् एव स्युः'। यह उचित भी है क्योंकि 'निघण्टु' के इस निर्वचन में इस बात पर जोर दिया गया है कि एक विशिष्ट मर्यादा में पठित होने के कारण इन शब्दों या शब्दों के समूह को 'निघण्टु' कहा जाता है।

टिप्पणी—यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि यास्क के सभी निर्वचन अर्थप्रधान होते हैं--केवल अर्थ को दृष्टि में रखकर वे शब्दों का निर्वचन करते हैं। विशेषत: रूढ़ि शब्दों के निर्वचन में वे यह नहीं देखते कि शब्द का जिन धातुओं से निर्वचन किया जा रहा है उनसे व्याकरण के नियमों के अनुसार शब्द की सिद्धि होगी भी या नहीं। निर्वचन के विषय में यास्क का यह स्पष्ट सिद्धान्त है कि निर्वचन करते हुये व्याकरण शास्त्र की प्रक्रिया की परवाह बिल्कुल न की जाय--**न संस्कारम् आद्रियेत**। वस्तुत: रूढ़ि शब्दों के विषय में यह माना गया है कि जिस धातु का चिह्न निर्वक्तव्य रूढ़ि शब्द में दिखाई दे तथा उनका अर्थ उस रूढ़ि शब्द में विद्यमान हो उन सभी धातुओं से उस शब्द का निर्वचन किया जाना चाहिये। द्र०—

यावतास् एव धातूनां लिङ्गं रूढिगतं भवेत्।

अर्थश्चाप्यभिधेयस्थस्तावद्भिर् गुणविग्रहः॥ बृहद्देवता २।१०४।

इसी दृष्टि से यहाँ 'सम्' 'आ' उपसर्गों के साथ 'हन्' धातु से 'तृ' प्रत्यय तथा 'सम्' और 'आ' के स्थान पर 'नि' तथा 'हन्' के 'ह' के स्थान पर 'घ' और 'त' का ट होकर 'निघण्टु' शब्द की निष्पत्ति की बात कही गयी।

तृतीय निर्वचन—तीसरे निर्वचन 'यद्वा समाहृता भवन्ति' में 'समाहरण', अर्थात् वेदों से शब्दों को चुन-चुन कर एकत्र करना, अर्थ पर जोर दिया गया। इसीलिये यहाँ 'सम्' तथा 'आ' उपसर्गों के साथ 'हृ' धातु से 'तु' प्रत्यय की कल्पना की गयी। 'सम्' तथा 'आ' के स्थान पर 'नि', 'हृ' का गुण 'हर्तु', 'र्' का' 'न्' 'ह का 'घ' और 'न' का 'ट' होकर 'निघण्टु' शब्द बनेगा। 'समाहृता भवन्ति' से पहले 'यद् वा समाहरणात् स्युः' इतने पाठ की कल्पना कर ली जाय तो यह वाक्य और सुसंगत हो जायगा। अर्थात् 'निघण्टव' शब्द 'सम्+आ +हृ' से बनाया जा सकता है क्योंकि वे वेदों से चुने हुए होते हैं। यहाँ **छन्दोभ्यः समाहृत्य समाम्नाताः** का जो अभिप्राय है वही "समाहृता भवन्ति" का भी है। स्पष्टता की दृष्टि से यह अधिक सुसंगत होता यदि इसके बाद "छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः" यह पाठ दिया जाता।

टिप्पणी—'निघण्टु' शब्द की इन तीन व्युत्पत्तियों द्वारा निघण्टु अथवा **'समाम्नाय'** की तीन विशेषताओं को प्रकट किया गया है। **पहली** विशेषता यह

कि निघण्टु के शब्द मंत्रों के अर्थ का बोध कराने वाले हैं, **दूसरी**—वे समूह रूप में एक मर्यादा के साथ संगृहीत अथवा पठित हैं, और **तीसरी**—वे शब्द वेद से चुन-चुन करके एकत्र किये गये हैं। स्पष्ट है कि ये तीनों निर्वचन केवल अर्थ की दृष्टि से ही यास्क ने प्रस्तुत किये। शब्दकल्पद्रुम कोष में 'निघण्टु' शब्द 'नि' उपसर्ग के साथ 'घण्ट्' धातु से भी इस शब्द की सिद्धि की बात कही है।

निघण्ट में शब्दों के चार विभाग

मूल—तद् यानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्ग-निपाताश्च तानीमानि भवन्ति।

अनुवाद——तो जो चार (प्रकार के) प्रसिद्ध पद नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात हैं वे (उस प्रकार के ही) ये ('समाम्नाय' के पद भी) हैं।

व्याख्या——इस वाक्य में यह कहा गया है कि भाषा में चार प्रकार के प्रसिद्ध पद हैं—नाम, आख्यात उपसर्ग तथा निपात——उन्हीं चार प्रकार के पदों का इस 'समाम्नाय' में भी संग्रह किया गया है। इसलिये 'इमानि' का अर्थ करना चाहिये 'समाम्नाय के पद अथवा शब्द'; अभिप्राय यह है कि इन चार विभागों के अन्तर्गत ही बस 'समाम्नाय' के सभी शब्द आ जाते हैं—कोई भी ऐसा शब्द नहीं है जो इन चार विभागों के अन्तर्गत न आ सके।

चत्वारि पदजातानि—पद कितने प्रकार के माने जायें, इस विषय में संस्कृत के वैयाकरणों में विवाद पाया जाता है। दुर्ग का कहना है कि (१) ऐन्द्र व्याकरण में एक प्रकार का ही पद माना गया था। संभवतः **अर्थः पदम्** इस सूत्र में यह परिभाषा की गयी थी कि अर्थ के वाचक सभी शब्द पद हैं। (२) कुछ अन्य आचार्य दो प्रकार के पद मानते हैं—सुबन्त तथा तिङन्त। ये विद्वान् उपसर्गों तथा निपातों के विषय में यह कह कर कि इनकी विभक्तियाँ अब लुप्त हो गयी हैं, इन दोनों का अन्तर्भाव 'नाम' पदों में ही कर लेते थे। (३) कुछ अन्य तीसरे विद्वान् उपसर्ग तथा निपातों को एक मान कर पदों के तीन भेद मानते है। इनका कहना है कि 'अ' आदि उपसर्ग भी वस्तुतः निपात ही हैं। धातु के साथ प्रयुक्त होकर वे, निपात होते हुये भी उपसर्ग अथवा जातिसंज्ञक बन जाते हैं। (४) कुछ अन्य यास्क आदि विद्वान्

पदों के उपर्युक्त चार प्रकार मानते हैं। (५) इनसे भिन्न कुछ और विद्वान् नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात तथा कर्मप्रवचनीय इन पाँच संज्ञाओं के आधार पर पाँच प्रकार के पद मानते हैं। इनमें से द्वितीय, चतुर्थ तथा पंचम मतों का उल्लेख भर्तृहरि ने वाक्यपदीय तृतीयकाण्ड की निम्न कारिका में किया है—

'द्विधा कैश्चित् पदं भिन्नं चतुर्धा पंचधापि वा' । (जातिसमुद्देश—१)

इस कारिका की व्याख्या में हेलराज ने यह स्पष्ट कर दिया है कि नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात के साथ कर्मप्रवचनीय के भेद को मानते हुये पदों के पाँच प्रकार बन जाते हैं। परन्तु कर्मप्रवचनीयों का उपसर्गों में ही अन्तर्भाव हो जाने के कारण भाष्यकार (संभवतः यास्क अथवा पतञ्जलि) ने पदों के चार प्रकार ही माने हैं।

वस्तुतः पदों के चार प्रकार ही विशेष प्रसिद्ध तथा सर्वत्र स्वीकृत रहे हैं। ऋक्प्रातिशाख्य में—**नामाख्यातम् उपसर्गो निपाताश्चत्वार्याहुः पदजातानि शाब्दाः**, वाजसनेय-प्रातिशाख्य में—**तच्चतुर्धा नामाख्यातोपसर्गनिपाताः** तथा अथर्वप्रातिशाख्य में **चतुर्णां पदजातानां नामाख्यातोपसर्गनिपातानाम्** इन शब्दों के द्वारा पदों की चतुर्विधता को स्पष्ट स्वीकार किया गया है। यास्क ने यहाँ तो पदों की चतुर्विधता का उल्लेख किया ही है। इसके अतिरिक्त १३ वें अध्याय में 'चत्वारि-वाक् परिमिता पदानि०' इस मंत्र की व्याख्या के प्रसंग में वैयाकरणों के मत के रूप में भी यास्क ने इस मत को दुहराया है। पतञ्जलि ने महाभाष्य के प्रथम आह्निक में दो बार चार प्रकार के पदों की बात कही है।

'पदजातानि' इस प्रयोग में 'जात' शब्द का अर्थ दुर्ग तथा स्कन्द ने अपनी टीका में 'समूह' किया है। परन्तु इस शब्द का अर्थ 'प्रसिद्ध' भी किया जा सकता है। इस रूप के 'पदजातानि' का अर्थ होगा 'पदों के चार प्रसिद्ध प्रकार' अर्थात् पद के भले ही और भी प्रकार हों पर चार प्रकार विशेष प्रसिद्ध हैं।

टिप्पणी—यहाँ प्रो० राजवाड़े ने एक विचारणीय प्रश्न यह प्रस्तुत किया है कि यास्क जिस 'समाम्नाय' अथवा निघण्टु की व्याख्या करने जा रहे हैं उसमें तो पदों के केवल दो ही प्रकार मिलते हैं—'नाम' (प्रातिपदिक) शब्द और

'आख्यात' (तिङन्त शब्द)। उपसर्गों तथा निपातों का संकलन यहाँ नहीं दिखाई देता। केवल चौथे अध्याय के द्वितीय अनुच्छेद में 'आ' और 'यदि' उपसर्ग तथा 'अच्छ' 'ईम्' 'सीम' निपातों का उल्लेख मिलता है। तथा इसके उत्तर में इस विद्वान् ने यह कहा है कि निघण्टु की इस विशेषता का, कि उसमें चारों प्रकार के पदों का संकलन होता है, उल्लेख यास्क ने इस विद्यमान निघण्टु से प्राचीन किसी अन्य निघण्टु की दृष्टि से किया है। पर यदि ध्यान से देखा जाये तो इस निघण्टु में भी अनेक निपात संकलित हैं। हाँ उपसर्ग दो ही एक हैं और वह स्वाभाविक भी हैं क्योंकि एक तो उपसर्ग स्वतन्त्र रूप से अर्थ प्रकट नहीं करते तथा दूसरे इन उपसर्गों के अर्थ सामान्तया प्रसिद्ध ही हैं।

'नाम' और 'आख्यात' की परिभाषा

मूल—तत्रैतन् नामाख्यातयोर् लक्षणं प्रदिशन्ति। भावप्रधानम् आख्यातम्। सत्त्वप्रधानानि नामानि।

अनुवाद—उन (चार प्रकार के पदों) में से नाम और आख्यात की (निम्न) परिभाषा (आचार्य लोग) बताते हैं। जिन (पदों) में भाव (क्रिया) की प्रधानता हो वह 'आख्यात' है तथा जिनमें सत्त्व (द्रव्य अथवा सिद्ध भाव) की प्रधानता हो वह 'नाम' है।

व्याख्या—यहाँ 'नाम' और 'आख्यात' पदों की परिभाषा प्रस्तुत की जा रही है। 'प्रदिशन्ति' का अर्थ है 'उपदेश करते हैं —बताते हैं—'। 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'दिश्' धातु का एक अर्थ 'उपदेश' भी होता है। यहाँ कहाँ यह गया कि **नामाख्यातयोर् लक्षणं प्रदिशन्ति** अर्थात् 'नाम' तथा 'आख्यात' का लक्षण बताते हैं जिसमें पहले नाम' तथा फिर 'आख्यात' को रखा गया था क्योंकि 'नाम' शब्द 'आख्यात' शब्द की अपेक्षा छोटा है। परन्तु लक्षण देते समय 'आख्यात का लक्षण पहले इसलिये दिया गया कि **सभी 'नामों' के मूल में 'आख्यात' (धातु) ही विद्यमान रहता है** ऐसा प्रायः सभी नैरुक्त मानते हैं। इसके अतिरिक्त 'आख्यात' की प्राधानता इसलिये भी है कि एक 'आख्यात' (धातु) से अनेक 'नाम' पद निष्पन्न होते हैं।

भावप्रधानम् आख्यातम्—यहाँ 'आख्यात' का अभिप्राय है 'व्रजति' 'पठति' इत्यादि तिङन्त या क्रिया वाचक पद। यों तो आख्यात' इस पद का प्रयोग कहीं कहीं केवल धातु के लिये अथवा कहीं-कहीं केवल तिङ्' विभक्तियों के लिये भी हुआ है। परन्तु अधिकतर 'आख्यात' शब्द का प्रयोग 'तिङन्त' पद के लिये ही होता है। 'भावप्रधानम्' शब्द में 'बहुव्रीहि' समास है—'भाव: प्रधानं यत्र' अर्थात् जहाँ 'भाव' (क्रिया) की प्रधानता हो वह आख्यात (तिङन्त पद) है। यद्यपि 'भाव' शब्द के भी अनेक अर्थ हैं परन्तु यहाँ इसका अभिप्राय है 'साध्यभाव' या क्रिया। इसप्रकार 'आख्यात' की परिभाषा हुई जिन पदों के अर्थों में साध्यभाव (क्रिया) की प्रधानता हो वे 'आख्यात' हैं। 'आख्यात' शब्द की व्युत्पत्ति भी कोषकारों ने यह की है कि **'आख्याते' प्रधानभावेन क्रिया अप्रधानभावेन च द्रव्यं यत्रतद् आख्यातम्** अर्थात् जहाँ प्रधान रूप से क्रिया और गौण रूप से द्रव्य का कथन हो वह आख्यात है। 'आख्यात' शब्दों में प्रधान रूप से क्रिया की प्रतीति होती है इसको प्रमाणित करने के लिये व्याख्याकारों ने निम्न हेतु प्रस्तुत किये हैं—

१—'पचति' या 'व्रजति' इत्यादि तिङन्त या आख्यात पदों के प्रयोग से क्रिया का पूर्ण निश्चय हो जाता है कि यहाँ पकाने अथवा जाने की क्रिया हो रही है जबकि 'कर्त्ता' इत्यादि कारकों का अथवा द्रव्य का निश्चय नहीं हो पाता। उसका निश्चय तो तभी होता है जब उस कारक अथवा द्रव्य का नाम लिया जाता है।

२—'देवदत्तः किं करोति ?' इस रूप में जब किसी क्रिया के विषय में प्रश्न किया जाता है तब उसका उत्तर 'पठति' जैसे किसी 'आख्यात्' शब्द द्वारा ही दिया जाता है 'नाम' शब्द द्वारा नहीं।

३—आख्यात, अर्थात् तिङन्त या क्रिया पदों में 'तिङ्' का कोई चिन्ह नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि वे द्रव्यप्रधान नहीं होते तथा द्रवप्रधानता के खण्डन से उनकी क्रियाप्रधानता भी स्पष्ट हो जाती है।

४—तिङन्त पदों का अन्य, मध्यम तथा उत्तम इन तीनों पुरुषों तथा भूत, भविष्यद् वर्तमान इन तीनों कालों से सम्बन्ध होना भी इन 'आख्यात' पदों की

क्रियाप्रधानता को प्रमाणित करता है। द्रव-वाचक 'नाम' शब्दों में यह विशेषता अप्राप्य है। यहाँ उल्लिखित तीसरे तथा चौथे हेतुओं की दृष्टि से निम्न कारिका द्रष्टव्य है:—

क्रियावाचकम् आख्यातं लिङ्गतो न विशिष्यते।
त्रीन् अत्र पुरुषान् विद्यात् कालतस्तु विशिष्यते॥

५—तिङन्त पदों के चार प्रकार हैं। कर्तृवाच्य, जैसे—'देवदत्तः पठति' कर्मवाच्य, जैसे—'देवदत्तेन पुस्तकं पठ्यते' भाववाच्य, जैसे—'देवदत्तेन आस्यते' तथा कर्मकर्तृवाच्य, जैसे—'भिद्यते काष्ठः स्वयम् एव'। इन सभी प्रकारों में सर्वत्र क्रिया की प्रधानता तथा अविवक्षित 'कारक' या द्रव की गौणता देखी जाती है।

६—प्रायः सभी विद्वानों ने 'आख्यात' को प्रधान रूप से क्रिया का वाचक माना है। प्रातिशाख्यकारों ने समान रूप से आख्यात को क्रियावाचक कहा है। वार्तिककार कात्यायन ने उन्हीं 'भू' आदि की धातु संज्ञा मानी है जो क्रिया को प्रधान रूप से कहते हैं।

७—एक वाक्य में दो क्रियायें एक साथ समवेत होकर नहीं उपस्थित होती क्योंकि दोनों ही क्रियायें प्रधान होती हैं। पर द्रव के साथ क्रिया समवेत भाव से युक्त हो जाती हैं। यह 'आख्यात' शब्दों की क्रिया प्रधानता के कारण ही है।

८—तिङन्त शब्दों के चार अर्थ माने जाते हैं—भाव (क्रिया), कारक, संख्या तथा काल। परन्तु इन चारों अर्थों में क्रिया की सर्वोपरि प्रधानता 'आख्यात' पदों के प्रयोग में परिलक्षित होती है।

सत्त्वप्रधानानि नामानि—'नाम' शब्दों की परिभाषा यह की गयी कि जिनमें 'सत्त्व' अर्थात् द्रव की प्रधानता हो वे 'नाम' शब्द हैं। यहाँ भी पहले जैसे ही हेतु दिये जा सकते हैं।

१—देवदत्त आदि 'नाम' (प्रातिपदिक) शब्दों का उच्चारण होने पर देवदत्त आदि द्रव का ही प्रधान रूप से बोध होता है क्योंकि देवदत्त' द्रव का तो निश्चय इस शब्द से हो जाता है, परन्तु वह क्या करता है—पढ़ता है, सोता है या खाता है? इन क्रियाओं का निश्चय नहीं हो पाता।

२—'कः पठति ?' इस प्रकार के द्रव्यविषयक प्रश्न के उत्तर में 'रामः' जैसे किसी 'नाम' शब्द का ही प्रयोग किया जाता है।

३—जब कभी किसी प्रातिपदिक शब्द का प्रयोग किया जाता है तो वह लिंग तथा संख्या से युक्त होता है। विद्वानों ने लिंग तथा संख्या से युक्त होने को ही 'सत्त्व' कहा है—

लिङ्-संख्यान्वितं द्रव्यं सत्त्वम् इत्यभिधीयते।

४—'नाम' (प्रातिपदिक) शब्दों में 'सत्त्व' (द्रव्य) की प्रधानता होने के कारण ही 'नाम' शब्दों को 'सत्त्व नाम' अर्थात् 'सत्त्व का वाचक' भी कहा गया है। द्र०—"मूर्त्तसत्त्वभूतं सत्त्वनामभिः" (निरुक्त)।

'नाम' शब्दों की द्रव्यप्रधानता के कारण ही बृहद्देवताकार ने 'नाम' शब्दों के स्वरूप को निम्न दो श्लोकों में इस रूप में स्पष्ट किया है—

शब्देनोच्चारितेनेह येन द्रव्यं प्रतीयते।
तदक्षरविधौ युक्तं नामेत्याहुर्मनीषिणः ॥१/४२
अष्टौ यत्र प्रयुज्यन्ते नानार्थेषु विभक्तयः।
तन्नाम कवयः प्राहुर्भेदे वचन-लिङ्गयोः ॥१/४३

अर्थात्—जिस शब्द के उच्चारण करने से द्रव की प्रधान रूप से प्रतीति हो उसे व्याकरण में, विद्वान् लोग, 'नाम' कहते हैं। इसी प्रकार जिस शब्द से भिन्न-भिन्न अर्थों में आठ विभक्तियाँ प्रयुक्त होती हैं और वचन तथा लिंग की दृष्टि से अन्तर पाया जाता है उसे आचार्य 'नाम' कहते हैं।

वाक्य में 'भाव' की प्रधानता

मूल—तद यत्रोभे, भावप्रधाने भवतः। पूर्वापरिभूतं भावम् आख्यातेन आचष्टे, व्रजति पचतीति उपक्रम-प्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम् । मूर्त्तसत्त्वभूतं सत्त्वनामभिः।

अनुवाद—जहाँ दोनों ('नाम' तथा 'आख्यात' पद) होते हैं (वहाँ अर्थात् वाक्य में दोनों) क्रियाप्रधान होते हैं 'व्रजति' 'पचति' जैसे ('आख्यात' पदों द्वारा (वक्ता) पहले तथा पीछे (एक विशेष क्रम से) होने वाली आरम्भ से लेकर अन्त

तक की क्रिया को कहता है। मूर्त (सिद्ध) एवं द्रव्य के समान बने भाव (सिद्ध भाव) को (वक्ता) 'व्रज्या' 'पंक्ति' जैसे 'नाम' शब्दों से कहता है।

व्याख्या—'नाम' तथा 'आख्यात' की परिभाषा देने के पश्चात् यह विचारणीय है कि वाक्य में जहाँ दोनों ही 'आख्यात' तथा 'नाम' पदों का प्रयोग होता है वहाँ 'भाव' (क्रिया) की प्रधानता मानी जाय या सत्त्व अर्थात् द्रव की ? इस प्रश्न का उत्तर यहाँ यह दिया गया है कि वाक्य में जब 'नाम' तथा आख्यात' दोनों का प्रयोग होगा तो भी क्रिया की ही प्रधानता होगी। पृथक्-पृथक् जब दोनों का प्रयोग होता है तभी 'आख्यात' को क्रियाप्रधान तथा 'नाम' को द्रव्य प्रधान मानना चाहिये। परन्तु वाक्य में तो जहाँ भी क्रिया की प्रधानता होगी—द्रव्य वहाँ गौणरूप धारण कर लेगा। क्योंकि क्रिया साध्य होती है—निष्पाद्य होती है। उस क्रिया की सिद्धि के लिये 'नामों' अथवा कारकों या दूसरे शब्दों में साधनों का प्रयोग किया जाता है। द्र०—'साधनं हि क्रियां निवर्तयति' (साधन क्रिया को बनाते हैं) महाभाष्य (६।१।१३५)।

'भाव' तथा 'सत्त्व' को और स्पष्ट करने के लिये यहाँ 'पूर्वापरिभूतम्०' इत्यादि दो वाक्य कहे गये हैं। पहले वाक्य में यह कहा गया है कि 'व्रजति' 'पचति' जैसे 'आख्यातों' के प्रयोगों द्वारा 'साध्यभाव' अथवा व्यापार को जब वक्ता कहता हैं तो 'जाने' 'पकाने' जैसी क्रियाओं का बोध इस रूप में होता है कि उन क्रियाओं में, पहले तथा बाद में और इस रूप में एक विशिष्ट क्रम में होने वाली अनेक अवान्तर क्रियाओं का ज्ञान होता है। वस्तुतः इन सब अवान्तर क्रियाओं का काल्पनिक समूह ही प्रधान क्रिया मानी जाती है। जैसे यदि 'देवदत्तः व्रजति' कहा जाय तो जब देवदत्त जाने के विचार से प्रेरित होकर कपड़े आदि पहन कर तैयार होता है तब से लेकर जब तक देवदत्त गन्तव्य स्थान तक पहुँच नहीं जाता तब तक के बीच में होने वाली सभी क्रियाओं का बोध होता है। 'जाना' या 'पकाना' इत्यादि क्रियाएँ एक हैं—अवान्तर क्रियाओं की अनेकता के कारण क्रिया को अनेक नहीं माना जा सकता। यास्क ने इसी दृष्टि से 'पूर्वापरिभूतम्' शब्द का प्रयोग किया है। इसका अभिप्राय यह है कि क्रिया में वास्तविक पौर्वापर्य न होकर काल्पनिक है। क्रिया जब आरम्भ होगी तब से लेकर जब तक वह समाप्त नहीं होगी तब

तक उस बीच में जो भी कार्य किया जाता है उन सब के लिए सामान्यतया प्रधान क्रिया का ही व्यवहार किया जाता है। जैसे पाचक जब खाना पकाने के लिए पाकशाला में घुसता है तथा जब तक सारा खाना बना नहीं लेता उस बीच में वह जो जो कार्य करता है—पतीली चढ़ाना, आग जलाना, पानी गर्म करना, चावलों को चलाना इत्यादि—सबके लिये यही कहा जाता है कि वह खाना पकाता है—'स पचति'। इस प्रकार यहाँ 'पूर्वापरीभूतं भावम्' से यह स्पष्ट किया गया कि 'आख्यात' शब्द 'भाव' अथवा व्यापार की साध्यावस्था को प्रकट करते हैं। बृहद्देवताकार ने 'आख्यात' की इस विशेषता को निम्न श्लोक में स्पष्ट किया है:—

> क्रियासु बह्वीष्वभिसंश्रितो यः पूर्वापरीभूत इवैक एव ।
> क्रियाभिनिर्वृत्ति-वशोपजातः आख्यातशब्देन तम् अर्थम् आहुः ॥
> (बृहद्देवता १/४४)

अर्थात्—'आख्यात' शब्द से उस ('क्रिया' रूप) अर्थ को कहा जाता है जो अनेक अवान्तर क्रियाओं पर आश्रित होता है, क्रमबद्ध (पूर्वापरिभूत) सा होता है तथा प्रधान क्रिया के पूर्ण हो जाने पर निष्पन्न होता है।

मूर्त्तसत्त्वभूतं······पंक्तिरिति—इस वाक्य में यह स्पष्ट किया गया कि 'नाम' शब्द भी कभी-कभी भाव को कहते हैं। परन्तु यह भाव 'पूर्वापरीभूत' अर्थात् साध्य न होकर सिद्ध होता है—अमूर्त न होकर मूर्त्त होता है, निष्पाद्य न होकर निष्पन्न होता है। यहाँ वह अपनी क्रमिकता को छोड़कर द्रव्य के समान हो जाता है। इस पंक्ति का अन्वयार्थ यह होगा कि मूर्त्त एवं सत्त्वभूत भाव को 'व्रज्या' 'पंक्ति' जैसे 'नाम' शब्द कहते हैं। यदि 'उपक्रम-प्रभृत्यपवर्ग-पर्यन्तम्' अंश इस वाक्य से भी सम्बद्ध कर दिया जाय तो इस वाक्य का अर्थ और स्पष्ट हो सकता है। अभिप्राय यह है कि 'व्रज्या' पंक्ति' जैसे भाववाचक 'नाम' शब्दों का प्रयोग करने पर क्रिया के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक की जो अवस्था है वह, अपनी क्रमिकता छोड़कर, मूर्त एवं सत्त्वभूत बनकर प्रकट होती है। 'व्रजति' 'पचति' इत्यादि 'आख्यात' शब्दों का प्रयोग करने पर प्रारम्भ से लेकर अन्त तक की क्रिया प्रकट नहीं होती। वहाँ क्रिया समाप्त नहीं हुई रहती इसलिये अन्तिम अवान्तर क्रिया से पहले तक की अवान्तर क्रियाओं के

समूह का बोध ही वहाँ अभिप्रेत होता है। यहाँ 'नाम' शब्दों से वे शब्द अभिप्रेत हैं जो, व्याकरण के अनुसार, धातुओं के साथ 'कृत्' प्रत्ययों के संयोजन से निष्पन्न हो सकते हैं। 'कृत्' प्रत्ययान्त 'व्रज्या' 'पंक्ति' इत्यादि शब्द 'द्रव्य' शब्दों के समान होते हैं ऐसा वैयाकरणों का सिद्धान्त है— **कृद् अभिहितो भावो द्रव्यवद् भवति।** इसलिये 'सिद्ध भाव' के वाचक इन कृदन्त शब्दों का सम्बन्ध संख्या, विभक्ति तथा लिङ्ग से होता है जब कि 'साध्य भाव' के वाचक 'आख्यात' शब्दों का इनसे सम्बन्ध नहीं होता। बृहद्देवताकार ने इस अभिप्राय को निम्न श्लोक में स्पष्ट किया है:—

क्रियाभिर्निवृत्त-वशोपजातः कृदन्तः-शब्दाभिहितो यदा स्यात्।
संख्या-विभक्ति-व्यय-लिंग-युक्तो भावस् तदा द्रव्यम् इवोपलक्ष्यः (१/४५)

टिप्पणी—तद् यत्रोभे भावप्रधाने भवतः इस अंश की प्रो० गुणे तथा डा० लक्ष्मण स्वरूप ने एक और तरह से संगति लगायी है। उनका विचार है कि यहाँ 'यत्र' पद का अभिप्राय वाक्य न होकर 'व्रज्या' 'पंक्ति' इत्यादि भाववाचक 'नाम' शब्दों की ओर यास्क का सकेत है जो, 'व्रजति' 'पचति' आदि आख्यात शब्दों के समान, 'भाव' अथवा व्यापार को ही कहते हैं तथा इसी कारण 'भाव-प्रधान हैं। जब 'आख्यात' तथा 'नाम' दोनों ही भाव-प्रधान हों तो वहाँ दोनों में अन्तर किस प्रकार किया जाय? इस प्रश्न का ही उत्तर आगे के अंश 'पूर्वापरीभूतं भावम्०' इत्यादि से यास्क ने दिया है। इस विचार के अनुसार 'तद् यत्रोभे भावप्रधाने भवतः' यहाँ 'भवतः' के पश्चात् पूर्ण विराम न मानकर अर्ध विराम मानना चाहिए क्योंकि उसके बाद अगले अंश को इससे सम्बद्ध करना होगा। पहले जो व्याख्या की गयी उसके अनुसार 'तद् यत्रोभे' इस अंश के बाद अर्ध विराम मानकर 'भवतः' के पश्चात् पूर्ण विराम माना जाता है।

परन्तु प्रो० गुणे तथा डा० स्वरूप की व्याख्या के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिल पाता कि वाक्य में 'आख्यात' तथा 'नाम' दोनों प्रकार के शब्दों के प्रयुक्त होने पर 'भाव' तथा 'सत्त्व' में से किस की प्रधानता मानी जाय? जहाँ तक भाववाचक 'नाम' तथा 'आख्यात' के भेद को स्पष्ट करने की बात है यो वह तो पहली व्याख्या में भी आ ही जाती है।

निरुक्त (१।४) में दी है उसकी इन दोनों विद्वानों द्वारा की गयी व्याख्या भी द्रष्टव्य है। इन दोनों स्थलों में स्कन्द ने दुर्ग की व्याख्या को असंगत ठहराया है। इस तरह के अनेक स्थल डा० सरूप ने स्कन्द भाष्य तृतीय भाग की भूमिका (पृ ८३–८७) में संकलित किये हैं।

दुर्गभाष्य ११ वें अध्याय की पुष्पिका में एक स्थान पर लिखित **ऋज्वर्थायां निरुक्तवृतौ जम्बूमार्गाश्रम-निवासिन आचार्य-भगवद्-दुर्गसिंहस्यकृतो** इस वाक्य से पता लगता है कि आचार्य दुर्ग जम्बूमार्ग के किसी आश्रम के थे। परन्तु 'जम्बूमार्ग' इस अंश में 'जम्बू' शब्द काश्मीर के जम्बू प्रदेश का वाचक नहीं है। यह 'जम्बूमार्ग' शब्द समस्त न होकर एक शब्द है तथा एक विशिष्ट स्थान का वाचक है। इस 'जम्बूमार्ग' नामक स्थान की पुराणों तथा महाभारत में बड़ी महिमा बतायी गयी है। इसे ऋषियों की भूमि कहा गया जिसमें मानवों को अल्प तप से भी सिद्धि प्राप्त होती जाती है। इस स्थान को नर्मदा नदी के पश्चिमी पार्श्व में स्थित बताया गया है। डा० सरूप का विचार है कि यह स्थान भडोच के समीप होना चाहिये (द्र०—स्कन्द भाष्य भाग ३, भूमिका, पृ० ९७–१००)।

दुर्ग वसिष्ठ गोत्र तथा कपिष्ठल संहिता के अध्येता थे। इसलिये निरुक्त (४।१४) में उद्धृत **लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः** (ऋग्वेद ४।५३।२३) मंत्र की व्याख्या उन्होंने नहीं की क्योंकि उनकी दृष्टि में सह ऋचा वसिष्ठ द्वेषिणी थी। द्र०—**यस्मिन् निगमे एष शब्दः सा वसिष्ठ-द्वेषिणी ऋक्। अहं च कापिष्ठलो वसिष्ठः-अतस्तां न निर्ब्रवीमि'**। सायण ने भी इस मंत्र के भाष्य में इसे वसिष्ठ द्वेषिणी माना है।

दुर्गाचार्य का भाष्य बहुत विस्तृत है तथा अनेक स्थानों पर इस विद्वान् भाष्यकार ने निरुक्त के वाक्यों के एक से अधिक अर्थ प्रस्तुत किये हैं। परन्तु डा० सरूप का यह कथन सत्य नहीं है कि निरुक्त के प्रत्येक शब्द इस भाष्य में उद्धृत हैं। अतः इस भाष्य के आधार पर सम्पूर्ण निरुक्त का सम्पादन हो सकता है। प्रो० राजवाड़े ने निरुक्त के ऐसे अनेक वाक्यों और वाक्यांशों का संग्रह किया है जो दुर्ग के भाष्य में नहीं मिलते। (द्र०—राजवाड़े इंग्लिश व्याख्या की भूमिका पृ० १० —१२)

दुर्ग की टीका के अध्ययन से यह पता लगता है कि दुर्ग के समय में भी निरुक्त में कुछ प्रमादपाठ तथा पाठभेद विद्यमान थे। उदाहरण के लिये—दुर्ग भाष्य के अनुसार निरुक्त ४।१६ में 'स्यु' के स्थान पर 'असन्' यह प्रमादपाठ विद्यमान था। द्र०—देवा नो यथा सदा वर्धनाय स्युः इस पंक्ति की व्याख्या—'भाष्येऽपि 'स्युः' इत्येष एव पाठः 'असन्' इत्येष प्रमादपाठः"। इस प्रकार 'संविज्ञातानि तानि' (निरुक्त ५।१२) की व्याख्या में वह 'सविज्ञात' तथा 'संविज्ञान' दोनों पाठ मानता है।

स्कन्द तथा माहेश्वर की टीकायें—लगभग छठी शताब्दी ईस्वी पश्चात् स्कन्द स्वामी ने निरुक्त पर अपनी टीका लिखी थी। यह स्कन्द स्वामी हरि स्वामी का गुरु था जिसने ६३८ ईस्वी पश्चात् शतपथ पर भाष्य लिखा था (द्र० स्कन्द भाष्य, भाग ३, भूमिका पृ० ५४—६)। यास्कीय-निघण्टु के व्याख्याकार देवराज यज्वा ने अनेक बार स्कन्द-स्वामी को उद्धृत किया है। इस स्कन्दस्वामी ने ऋग्वेद पर भी भाष्य किया था (द्र० वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, खण्ड-२, पृ० ५—१०)।

स्कन्दस्वामी विरचित टीका का सम्पादन डा० लक्ष्मणसरूप ने अनेक हस्तलेखों के आधार पर बड़े परिश्रम से पहली बार तीन भागों में किया है। प्रथम भाग में निरुक्त के प्रथम अध्याय की, द्वितीय भाग में द्वितीय अध्याय से षष्ठ अध्याय की तथा तृतीय भाग में सप्तम अध्याय से तेरहवें अध्याय तक की व्याख्या है। इस टीका की अनेक विशेषतायें हैं। टीकाकार ने निरुक्त के अनेक पाठभेदों तथा भ्रष्टपाठों की सूचना इस टीका में स्थान-स्थान पर दी है (द्र० स्कन्द भाष्य, भाग ३, भूमिका, पृ० ४३—४६)। अनेक स्थलों पर दुर्ग की व्याख्या की ओर, बिना नाम लिये ही, संकेत किया है तथा उनसे अपनी असहमति दिखाई है।

इस टीका में १२ वीं शताब्दी ईस्वी पश्चात् के महेश्वर नामक किसी विद्वान् की टीका भी सम्मिलित है। डा० सरूप का विचार है कि महेश्वर ने थोड़े बहुत संशोधन के साथ स्कन्दस्वामी की वृत्ति का एक दूसरा संस्करण प्रस्तुत किया। इसीलिये स्कन्दस्वामी, जिनका समय पंचम शताब्दी ई० पश्चात् का अन्त अथवा षष्ठ शताब्दी का प्रारम्भ माना जाता है, इस टीका

में सातवीं अथवा आठवीं शताब्दी के विद्वानों के उद्धरण भी मिल जाते हैं। जैसे भामह (६५० ई० पू०) का काव्यालंकार, भर्तृहरि (६५१ ई० पू०) का वाक्यपदीय तथा कुमारिल भट्ट (७०० ई० पू०) का तंत्रवार्तिक यहाँ उद्धृत हैं। इन पुस्तकों का उद्धरण देने वाला महेश्वर ही है न कि स्कन्दस्वामी।

श्रीनिवासकृत व्याख्या

निघण्टु के भाष्यकार देवराज यज्वा ने निरुक्त २।७ के निर्वचन—**शृङ्गं श्रयतेर् वा शृणातेर् वा शम्नातेर्** वा के विषय में लिखा है **शृङ्गं श्रयतेः इत्यत्र स्नातेर् वा इति निर्वचनस्य पाठः श्रीनिवासीये व्याख्याने दृष्टः** (द्र० निघन्टुनिर्वचन, १।१७।११)। इसी प्रकार निघण्टु २।३।१ की व्याख्या में पुनः श्रीनिवास का नाम लेता है। इससे यह स्पष्ट पता लगता है कि किसी श्रीनिवास नामक विद्वान् ने भी इस निरुक्त की व्याख्या की थी।

निरुक्त के आधुनिक सम्पादक, अनुवादक, आलोचक एवं व्याख्याता

सबसे पहले प्रो० रोथ ने जर्मन भाषा में एक विस्तृत भूमिका के साथ निरुक्त का अनुवाद प्रस्तुत किया जिसका इंग्लिश अनुवाद प्रो० मेकीशान ने किया। यह इंग्लिश अनुवाद १९१८ में बम्बई विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ था। पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने बड़ी ऊहापोह एवं शास्त्रीय युक्तियों से समन्वित अपना 'निरुक्तालोचन' ग्रन्थ प्रस्तुत किया जिसमें 'यास्क के काल' 'निरुक्त की वेदांगता' इत्यादि विविध विषयों पर विस्तार से विचार किया गया। डा० लक्ष्मण सरूप ने निरुक्त का इंग्लिश अनुवाद १९२१ में लन्दन से प्रकाशित कराया। इस अनुवाद में कुछ भयंकर त्रुटियों के होते हुए भी इस विद्वान् अनुवादक का परिश्रम प्रशंसनीय है। १९२७ में निघण्टु तथा निरुक्त का अनेक हस्तलेखों के आधार पर इसी विद्वान् ने एक सुन्दर आलोचनात्मक संस्करण पंजाब विश्वविद्यालय से प्रकाशित किया। निरुक्त की अनेकविध सूचियाँ एवं परिशिष्ट भी डा० सरूप ने प्रकाशित किये। १९३१ में श्री पं० भगवद्दत्त ने अपना 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' नामक पुस्तक के भाग १ खण्ड २ को प्रकाशित किय, जिसमें तीन अध्यायों—षष्ठ, सप्तम तथा अष्टम में क्रमशः 'निरुक्तकार' 'निघन्टु के भाष्यकार

तथा 'निरुक्त के भाष्यकार' इन विषयों पर विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की है। १९३४ में पंजाब विश्वविद्यालय से ही डा० सरूप ने स्कन्द माहेश्वर की निरुक्त व्याख्या तीन भागों में प्रकाशित की। इसके तीसरे भाग की विस्तृत भूमिका में दुर्ग सिंह के समय एवं स्थान आदि के विषय में अपने पहले के विचारों में संशोधन एवं सुधार किया तथा स्कन्ध और महेश्वर के समय आदि के विषय में भी अपने विचार, हेतु तथा युक्तियाँ प्रस्तुत कीं। इसी के आस पास जर्मनी में प्रो० स्कोल्ड तथा लुण्ड ने निरुक्त के समय में अपना अनुसन्धान पूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया। १९३५ में प्रो० वी० के० राजवाड़े ने निरुक्त का मराठी अनुवाद तथा १९४० में सम्पूर्ण निरुक्त का आलोचनात्मक संस्करण और प्रथम तीन अध्यायों की इंग्लिश में विस्तृत व्याख्या की जिसमें अनेक स्थलों पर निरुक्त की पंक्तियों का युक्तिपूर्ण परीक्षण किया। यद्यपि इस व्याख्या में ऐसे भी कुछ स्थल हैं जिन्हें व्याख्याकार ने अपनी समझ में न आने के कारण, प्रक्षिप्त या अनावश्यक मान लिया है। जैसे प्रथम अध्याय में सीमतः इस निपात विषयक पूरे प्रसङ्ग को वे प्रक्षिप्त मानते हैं। जबकि वस्तुस्थिति ऐसी नहीं प्रतीत होती। इस व्याख्या के बाद विविध उपयोगी सूचियाँ भी दी गई हैं। डा० सिद्धेश्वर शर्मा ने इटिमालाजीज आफ यास्क नामक पुस्तक लिखी जिसमें भाषा विज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर निरुक्त के निर्वचनों की गम्भीर परीक्षा की गई है। इसके अतिरिक्त दुर्गाचार्य के भाष्य के आधार पर हिन्दी में निरुक्त की अनेक व्याख्यायें प्रकाशित हुईं जिनमें राजाराम आर्य, पं० चन्द्रमणि वेदालंकार, पं० सीताराम शास्त्री आदि की व्याख्यायें प्रमुख हैं। पं० चन्द्रमणि जी की व्याख्या आर्य समाज के सिद्धान्तों से पूर्ण प्रभावित है। अभी हाल म पं० छज्जूराम-भगीरथ शास्त्री तथा पं० भगवद्दत्त की निरुक्त व्याख्यायें हिन्दी म प्रकाशित हुई हैं।

यास्क की विवेचन शैली—यास्क निरुक्त सम्प्रदाय के एक विशिष्ट एवं अन्तिम आचार्य है जिनकी कृति में प्राचीन अनेक नैरुक्त आचार्यों के मत संगृहीत एवं समन्वित किये गये हैं। अतः एक नैरुक्त होने के कारण यास्क का यह निश्चित मत है कि सभी शब्द चाहे वे वैदिक हों या लौकिक, यौगिक हों या रूढि—धातु से निष्पन्न हैं—धातुज हैं। इस कारण यास्क का यह भी सिद्धान्त

है कि सभी कठिन शब्दों का निर्वचन करना हीं चाहिये। मंत्र की व्याख्या करते हुए कभी भी ऐसा नहीं होना चाहिये कि निर्वचन न किया जाय— **न त्वेव न निब्रूयात्**। क्योंकि ऐसा करने से नैरुक्तों का—'सभी शब्द धातुज है' यह सिद्धान्त खण्डित हो जायगा। इसलिये एक मात्र शब्द के अर्थ को ही ध्यान में रखते हुए शब्द की परीक्षा करनी चाहिये। व्याकरण शास्त्र में कल्पित संस्कार अर्थात् प्रकृति प्रत्यय आदि के विभाग पर विशेष ध्यान नहीं देना चाहिये—**अर्थो नित्यः परीक्षेत। न संस्कारम् आद्रियेत** (निरुक्त २।१)। इसके अतिरिक्त समान अर्थ वाले शब्दों का समान रूप से तथा भिन्न-भिन्न अर्थ वाले शब्दों का भिन्न-भिन्न रूपों में निर्वचन किया जाना चाहिये— **समानकर्माणि चेत् समाननिर्वचनानि नानाकर्माणि चेत् नानानिर्वचनानि** (निरुक्त २।७)।

इन सिद्धान्तों के अनुसार यास्क ने बिना किसी हिचक के स्थान-स्थान पर रूढि एवं अत्यन्त रूढिभूत शब्दों का निर्वचन किया है। सबसे प्रारम्भ में ही 'निघण्टु' शब्द के तीन अभिप्रेत अर्थों की दृष्टि से तीन निर्वचन प्रस्तुत किये गये हैं तथा इसी प्रकार वैदिक मंत्रों की व्याख्या के प्रसङ्ग में भी अनेक लौकिक एवं वैदिक शब्दों के निर्वचन किये गये। यास्क के निर्वचन की रीति यह है कि यदि शब्द में विद्यमान धातु का वही अर्थ हो जो उस शब्द का है तथा उसके स्वर और संस्करण (प्रकृति-प्रत्यय आदि की कल्पना) आदि की सिद्धि भी व्याकरण के नियमों के अनुसार हो जाय तो ऐसे शब्दों का निर्वचन सामान्यतया व्याकरण के नियमों के अनुसार ही कर दिया गया है। जैसे—'**निपाताः उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति**' (निरुक्त १)। द्र०—**तद् येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ स्यातां तथा तानि निब्रूयात्**' निरुक्त (२।१)।

परन्तु यदि शब्द मे कल्पित धातु के अर्थ से शब्द का अर्थ भिन्न हो या उस धातु से शब्द की सिद्धि व्याकरण के नियमों के अनुसार नहीं हो सकती हो तो ऐसी स्थिति में उस शब्द की किसी धातु के जिस भी रूप के साथ समानता दिखाई दे जाय, उसी से निर्वचन कर दिया गया है। जैसे—'निघण्टु' शब्द का 'गम्' 'हन्' तथा 'हृ' धातु से निर्वचन। द्र०—**अथ अनन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके**

विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसंयायेन (निरुक्त २।१) और जब शब्द की, किसी भी धातु के किसी भी प्रयोग से किसी प्रकार की भी समानता न मिले तो अक्षर या वर्ण (स्वर या व्यंजन तक) की समानता के आधार पर निर्वचन किया गया है। जैसे—'हस्त' शब्द का निर्वचन 'हन्' धातु से। द्र०—**अविद्यमान्-सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यात् निर्ब्रूयात्** (निरुक्त २।१)

यास्क की पहली रीति तो ठीक है परन्तु बाद की दोनों रीतियाँ भाषा विज्ञान के आधार पर सुसंगत नहीं प्रतीत होती। क्योंकि भाषा-वैज्ञानिक यह मानता है कि सीमित ध्वनियाँ ही किसी सीमित ध्वनि के रूप में किसी सीमित वातावरण में बदलती हैं। वह यास्क की इस बात को मानने को तैयार नहीं है कि जो कोई भी ध्वनि जब कभी भी जिस किसी ध्वनि के रूप में परिवर्तित हो सकती है।

यास्क की मंत्र-व्याख्या–पद्धति

मंत्रों की व्याख्या करते हुए यास्क **प्रायः** सदा ही मंत्रों के क्रम में कोई परिवर्तन नहीं करते। व्याख्या में व्याख्येय मंत्र के प्रतीक को उद्धृत करने के स्थान पर उस अंश के समानार्थक अपने शब्दों को ही उसी क्रम में रख देते हैं। जैसे—**वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः** इस मंत्राश को उद्धृत करने के स्थान पर सीधे **वृक्षस्य इव ते पुरुहूत शाखाः** कहकर इस अंश की व्याख्या करदी है। यहाँ मंत्र के 'नु' के स्थान पर 'इव' तथा 'वयाः' के स्थान पर 'शाखा' लौकिक शब्द हैं। परन्तु **पर्याया त्वद् आश्विनम्** की व्याख्या—**आश्विनं च पर्यायाश्च** में यास्क ने क्रम क्यों बदल दिया यह समझ में नहीं आता। इसी प्रकार **आविवासेम धीतिभिः** की व्याख्या—'कर्मभिः परिचरेम'—में भी क्रम बदल दिया गया है। यास्कीय शैली के अनुसार यहाँ भी 'हरिचरेम कर्मभिः' व्याख्या होनी चाहिये थी।

यास्क ने अपनी व्याख्या में पदपूरणार्थक निपातों को स्थान नहीं दिया है। इसीलिए **नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे०** की व्याख्या में नूनम्', **शिशिरं जीवनाय कम्** की व्याख्या में 'कम्', **ऐमेनं सृजता सुते** की व्याख्या में 'ईम्' जैसे पद यास्क की व्याख्या में नहीं दिखाई देते।

निरुक्त के पहले तीन अध्यायों में प्रासंगिक विषय के विस्तृत विवेचन के अर्थ में तस्य (प्रासंगिक विषयस्य) उत्तरा (ऋक्) भूयसे निर्वचनाय इस वाक्य का प्रयोग करके, यास्क ने कोई अन्य ऋचा उद्धृत की है।

यास्कीय व्याख्या की एक विशेषता यह भी है कि वे व्याख्या के बीच बीच में शब्दों के निर्वचन भी देते चलते है। सम्भवत: निर्वचनों के अभाव में वे व्याख्या को पूर्ण मानते ही नहीं। इसलिये दुर्ग ने यास्कीय व्याख्या को सरल बनाने की एक रीति यह अपनाई कि पहले मन्त्र की यथेष्ट व्याख्या करके, उसके बाद 'अथ एकपदनिरुक्तम्' कहकर यास्कीय निर्वचनों को प्रस्तुत किया जाये। परन्तु यास्क सम्भवत: निर्वचनों को व्याख्या में बाधक न मानकर उन्हें व्याख्या का साधक अथवा पूरक मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि निरुक्त का प्रधान कार्य निर्वचन प्रस्तुत करना है, भले ही उसके मंत्रार्थ में बाधा ही क्यों न पड़े। कहीं कहीं तो मन्त्र के प्रथम चरण या अर्धांश की व्याख्या के उपरान्त व्याख्यात अंश के अनेक शब्दों के निर्वचन प्रस्तुत कर देते हैं। उसके बाद उन्हें अगले मंत्रांश की व्याख्या का ध्यान आता है। इस प्रकार के निर्वचनों से सर्वत्र मंत्रार्थ बहुत स्पष्ट हो जाता हो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। **मृगो न भीम: कुचरो गिरिष्ठा:** के 'गिरिष्ठा' में स्थान पर 'गिरिस्थायी' कहने के पश्चात् 'पर्वतं, पर्व' अर्धमास पर्व' इत्यादि की लम्बी लम्बी व्युत्पत्तियाँ दी गई, और फिर अचानक ही 'गिरिस्थायी' को स्पष्ट करने के लिए 'मेघस्थायी' शब्द का प्रयोग किया गया। यहाँ सामान्य पाठक 'मेघस्थायी' की शीघ्र संगति नहीं लगा सकता।

कभी-कभी सम्भवत: निर्वचन की व्यग्रता के कारण मंत्रों के अंशों की व्याख्या भी यास्क छोड़ जाते हैं। उदाहरण के लिए द्वितीय अध्याय में **आर्ष्टिषेणो होत्रम्०** इस मंत्र के '**अपो दिव्या असृजद् वर्ष्या अभि**' यह परित्यक्त अंश द्रष्टव्य है।

निर्वचन के अन्य सिद्धान्तों के साथ-साथ वे **यथार्थं विभक्ती : सन्नमयेत्** (अर्थानुसार मंत्रों की विभक्तियों का परिवर्तन कर लेना चाहिये) के सिद्धान्त को यास्क ने भी अच्छी तरह अपनाया है। द्र०—राजवाडे भूमिका पृ० २१-२४)।

यास्क का महत्त्व

किसी उद्‌भट विद्वान अथवा महापुरुष का मूल्यांकन करते हुए उसके युग तथा उस समय की परिस्थितियों की उपेक्षा करना उस आलोच्य विद्वान् या महापुरुष के साथ घोरतम अन्याय है। इस तथ्य को यदि हम अपने सामने रखें तो आज इतने वर्षों के पश्चात्, इस एकदम बदले हुए युग में भी, हमें उस महान् नैरुक्त की प्रतिभा और विद्वत्ता का लोहा मानना होगा। भले ही यास्क के अनेक सिद्धान्त आज स्वीकार्य न हो और उनके निर्वचन तथा उनकी व्याख्या पद्धति में आज के आलोचक को कुछ दोष दिखाई दे जाय परन्तु हमें यह कदापि नहीं भूलना चाहिये कि जिस समय अन्य मनिषियों के मस्तिष्क में भाषा विज्ञान का बीज-वपन भी नहीं हुआ था, उस समय इन नैरुक्तों ने इस तथा कथित भाषा-विज्ञान के अनेक मौलिक एवं सद्‌भावनाओं एवं सिद्धान्तों को उद् घोषित एवं प्रचारित किया था। आज का आलोचक भले ही 'सभी शब्द धातुज हैं' इस सिद्धान्त को न माने, परन्तु—**अर्थनित्यः परिक्षेत् । न संस्कार आद्रियेत'** शब्दों की परीक्षा अर्थ पर विशेष ध्यान दिया जाय, व्याकरण के काल्पनिक संस्कारों की वहुत परवाह न की जाय, इन वक्तव्यों की सत्यता सर्वथा निस्सन्दिग्ध है। यह एक ऐसा आधार है कि जिसके सहारे अनेक दुरू शब्दों का, उनके सदृश अनेक विलुप्त शब्दों के साथ सम्बन्ध स्थापित करके स्वरूप जाना जा सकता है। यह कहने की आश्वकता नहीं कि वेदों के कुछ मूर्धन्य-विद्वान् इस दिशा में प्रयत्नशील भी है।

नैरुक्त की परम्परा का एकमात्र प्रतिनिधि होने के कारण भी यास्क की अपनी एक महत्ता है। जिस प्रकार व्याकरण के क्षेत्र में अन्तिम आचार्य पाणिनि अपने से पूर्व भावी वैयाकरण आचार्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं उसी प्रकार यास्क भी उसी क्षमता के साथ अपनी नैरुक्त परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी में अनेक आचार्यों के मत सुरक्षित हैं, तो यास्क के निरुक्त में भी नैरुक्तों की परम्परा की एक अच्छी झाँकी देखने को मिल जाती है। प्रख्यात-नैरुक्त शाकपूणि तो यहाँ प्रायः सर्वत्र विद्यमान दिखाई देते हैं। कराल काल के क्रूर घटना-चक्रों से यदि पाणिनि की अष्टाध्यायी

अमिताभ बनी रह गई तो यास्क के निरुक्त को भी उनकी कोई आँच नहीं लग सकी।

यास्क ने जो यह कहा कि व्याकरण की परिपूर्णता निरुक्त में आकर होती है उनके विषय में यदि वास्तविक धरातल पर आकर विचार किया जाय तो अपूर्णता इस बात से ही स्पष्ट है कि वह बड़े ही सीमित क्षेत्र में अपनी कल्पनाओं—लोप, आगम वर्ण-विकार आदि की प्रक्रिया—का प्रयोग करते हैं और वह भी कितना निराधार होता है, इस बात को व्याकरण के मर्मज्ञ भर्तृहरि अच्छी तरह जानते हैं।

वेद-व्याख्या के क्षेत्र में भी यास्क आदि की एक महत्त्वपूर्ण देन है। निरुक्त में हमें तत्कालीन वेद-व्याख्या विषयक विभिन्न सम्प्रदायों तथा आचार्यों की विविध प्रवृत्तियों का ज्ञान होता है। 'देवता' के स्वरूप आदि के विषय में भी यास्क ने अनेक दुरूढ़ गुत्थियाँ सुलझायी हैं। आध्यात्म मत की दृष्टि से एक दैवतावाद, आधिदैविक (नैरुक्त) मत की दृष्टि से त्रिविध देवतावाद तथा अधियाज्ञिक मत की दृष्टि से बहुदेवतावाद का सुन्दर समन्वय **तत्र एतन् नरराष्ट्रम् इव** यास्क के इस संक्षिप्त वाक्य में प्राप्त हो जाता है तथा अध्यात्मवाद की मूलभूत धारणा यास्क के—**महाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्य आत्मनः अन्ये देवाः प्रत्यंगानि भवन्ति।......आत्मा सर्व देवस्य** (निरुक्त ७।४) इन शब्दों में सुरक्षित है, जिसकी बड़ी मनोरम एवं भव्य व्याख्या निरुक्त के प्रतिनिधि व्याख्याकार दुर्ग तथा स्कन्द ने प्रस्तुत की है। इन सब विविध परम्पराओं का वेदार्थ की पूर्णता की दृष्टि से एक विशिष्ट एवं अनुपेक्षणीय मूल्य है।

कौत्स जैसे विद्वानों की इस धारणा का कि वेद के अनेक शब्द अविस्पष्टार्थक हैं—दुर्गम एवं दुरूढ़ हैं—यास्क ने निर्भीक एवं स्पष्ट उत्तर—**नैष स्थाणोर् अपराधः यद् एनम् अन्धो न पश्यति, पुरुषपराधः स भवति**—(निरुक्त १।१६) दिया है, वह आज के वेदाध्यायी का जहाँ उत्साह संवर्धन करता है, उनकी अनुसंधान की गति में एक तीव्रता एवं ओज भर देता है, उन्हें आशान्वित कर देता है वहीं वेद के विषय में निराश एवं अनास्थावान् व्यक्तियों की अच्छी प्रतारणा भी करता है।

इस प्रकार निर्वचन शास्त्र के सिद्धान्तों और रीतियों, विविध नैरुक्त आचार्यों के विभिन्न मतों तथा तत्कालीन वेद-व्याख्या सम्बन्धी 'ऐतिहासिक', 'नैदान', 'अधियाज्ञिक', 'आध्यात्मिक' आदि अनेक प्रवृत्तियों इत्यादि के ज्ञान की दृष्टि से निरुक्त और उसके प्रणेता यास्क का आज और भी अधिक मूल्य स्वीकार करना होगा।

नमो यास्काय पराशराय

कुरुक्षेत्र विद्वानों का विनीत—

२९-४-१९६६ कपिलदेव

नाम 'आख्यात' के सामान्य एवं विशेष रूप का प्रदर्शन

मूल—'अदः' इति सत्त्वानाम् उपदेशः । 'गौर्' 'अश्वः' 'पुरुषः 'हस्ती' इति । 'भवति' इति भावस्य । 'आस्ते' 'शेते', 'व्रजति', 'तिष्ठति' इति ।

अनुवाद—'अदस्' (इस प्रकार के सर्वनाम शब्दों) के द्वारा 'नाम' (वस्तुओं या सिद्ध-भाव) का (सामान्य रूप से) कथन होता है तथा 'गौ' 'अश्व' 'पुरुष' 'हाथी', (इत्यादि शब्दों से) विशेष रूप से। (इसी प्रकार) 'भवति' (जैसे अस्तित्व के वाचक तिङन्त पदों) के द्वारा साध्यभाव (अथवा क्रिया) का सामान्य रूप से कथन होता है तथा 'आस्ते', 'शेते', 'व्रजति' 'तिष्ठति' (इत्यादि विशिष्ट क्रिया के वाचक तिङन्त पदों) के द्वारा विशेष रूप से ।

व्याख्या—यास्क की वाक्य-रचना प्रायः अतीव संक्षिप्त एवं सूत्र शैली के समान है। इसीलिये 'सत्त्वानाम्' तथा 'उपदेश के बीच 'सामान्येन' का तथा 'गौर्' अश्व पुरुषो हस्तीति' के पश्चात् 'सत्त्वानां विशेषणोपदेशः का अध्याहार करना पड़ता है । इसी प्रकार 'भवतीति भावस्य' के पश्चात् 'सामान्येन उपदेशः' तथा 'तिष्ठतीति' के पश्चात् 'विशेषणोपदेशः' का अध्याहार करना आवश्यक है ।

अभिप्राय यह है कि 'अदम्' या 'इदम्' जैसे सर्वनामों के द्वारा सामान्यतया सभी 'नाम' शब्दों का कथन होता है । वस्तुतः 'सर्वनाम' कहा ही उन शब्दों को जाता है जिनका प्रयोग किसी एक के लिये निश्चित न होकर सबके लिये समान रूप से किया जा सके । इसीलिये 'सर्वेषां नाम सर्वनाम' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'सर्वनाम' को अन्वर्थक संज्ञा माना गया । इसके विपरीत 'गौ' 'अश्व' इत्यादि शब्द किसी विशिष्ट 'नाम' या द्रव्य के वाचक हैं । इसी कारण इस प्रकार के शब्दों को 'सर्वनाम' नहीं कहा जाता ।

'नाम' शब्दों में जिस प्रकार सामान्य तथा विशेष रूप पाया जाता है उसी प्रकार तिङन्त पदों में भी यह दो प्रकार की स्थिति पायी जाती है। वे 'आख्यात' शब्द जो केवल अस्तित्व या सत्ता मात्र को कहते हैं उन्हें क्रियासामान्य (प्रत्येक क्रिया में समान रूप से रहने वाले 'भाव') का वाचक माना जाता है ।

इसका कारण यह है कि 'आस्तित्व' या सत्तारूपता तो सभी क्रियाओं में समान रूप से रहती है। परन्तु 'आस्ते', 'शेते' इत्यादि पद क्रिया-सामान्य के वाचक न होकर 'बैठने', 'सोने' इत्यादि विशेष क्रियाओं के ही वाचक हैं।

औदुम्बरायण का शब्द-नित्यत्व पक्ष और उसके दोष

मूल—इन्द्रिय नित्यं वचनम् औदुम्बरायणः। तत्र चतुष्ट्यं नोपपद्यते। अयुगपद् उत्पन्नानां वा शब्दानाम् इतरेतरोपदेशः, शास्त्रकृतो योगश्च।

अनुवाद—शब्द (जिह्वा) इन्द्रिय में (ही) नित्य है, ऐसा औदुम्बरायण (आचार्य) का मत है। इस मत में (पदों के) चार विभाग नहीं बन पाते। भिन्न-भिन्न समय में उत्पन्न हुए शब्दों का एक दूसरे के प्रति (गोण-प्रधान-भाव से) सम्बन्ध तथा (व्याकरण) शास्त्र में प्रदर्शित (प्रकृति-प्रत्यय आदि का) संयोग भी नहीं सुसंगत हो पाता।

व्याख्या—औदुम्बरायण एक प्राचीन आचार्य हो चुके हैं। यास्क ने इन्हें जिस रूप में यहाँ उद्धृत किया है उससे यह प्रतीत होता है कि वे शब्द को अनित्य मानते थे—केवल वाग् इन्द्रिय में ही उसकी सत्ता मानते थे। अर्थात् जब तक जिह्वा वाणी या शब्द का उच्चारण करती है तभी तक शब्द की सत्ता है तथा उच्चरित होते ही वह नष्ट हो जाता है। संभवतः इस मत में शब्द तथा उसकी ध्वनि में कोई अन्तर न मानते हुए ध्वनि को ही शब्द माना जाता रहा।

पर यदि शब्द को इस प्रकार अनित्य स्वभाव वाला माना गया तो, उसकी अनित्यता के कारण, 'नाम', 'आख्यात' 'उपसर्ग' तथा 'निपात' ये चतुर्विध विभाग नहीं बन सकेंगे। इसका कारण यह है कि जब शब्द उच्चरित होते ही नष्ट हो जाता है, यह मान लिया गया तो फिर वाक्य में अनेक शब्दों की एक साथ स्थिति सम्भव नहीं है। और शब्दों की एक साथ स्थिति न होने पर 'नाम', 'आख्यात' आदि का विभाग किया जाना भी सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिये जब वक्ता 'गौः' गृहम् आयाति' कहेगा तो जब तक उसकी वाणी 'ग' का उच्चारण करके आगे 'औ' को उच्चारण करने का प्रयास करेगी उसी

समय 'ग' नष्ट हो चुका होगा। इस प्रकार एक पूरा शब्द भी एक साथ उपस्थित नहीं हो सकेगा पूरे वाक्य की तो बात ही और है। जब ये तीनों शब्द एक साथ उपस्थित नहीं हो सकेंगे तब यह कैसे कहा जा सकता है कि 'गौः' तथा 'गृहम्' नाम शब्द हैं तथा 'आयाति' आख्यात शब्द हैं। द्र०—**एकैकवर्णवर्तिनी वाङ् न द्वौ युगपद् उच्चारयति। 'गौर्' इति यावद् गकारे वाग् वर्तते नौकारे न विसर्जनीये, यावद् औकारे न गकारे न विसर्जनीये, यावद् विसर्जनीये न गकारे नौकारे"** (महाभाष्य १।४।१०९।)

इसी तरह चूंकि शब्द एक साथ उच्चरित हो नहीं सकते इसलिये, उनमें कौन शब्द प्रधान है तथा कौन अप्रधान है अथवा कौन विशेषण है कौन विशेष्य है, इस प्रकार का शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध भी नहीं बन सकता। जब 'गौः गृहम् आयाति' इत्यादि वाक्यों में सभी शब्द एक साथ विद्यमान ही नहीं है तो फिर एक दूसरे की दृष्टि से प्रकर्षाप्रकर्ष या प्रधानाप्रधान-भाव का निर्णय करना तथा यह कहना कि 'गौः' और 'गृहम्' शब्द अप्रधान हैं तथा गच्छति' शब्द प्रधान है या इसी तरह 'शुक्ला गौः' में 'शुक्ला' विशेषण है तथा 'गो' विशेष्य है इस प्रकार का कोई भी निर्धारण या विचार सुसंगत नहीं हो सकता।

औदुम्बरायण के इस सिद्धान्त में तीसरा दोष यह है कि व्याकरण शास्त्र में शब्दों के स्वरूप का प्रदर्शन करते हुए उनमें प्रकृति-प्रत्यय का संयोग या धातु उपसर्ग तथा संयोग आदि दिखलाया गया है। यह सब असंगत हो जायगा क्योंकि जब पूरा छन्द ही विद्यमान नहीं है—विभिन्न ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं नष्ट हो जाती है—तो प्रकृति तथा प्रत्यय धातु और उपसर्ग आदि भी एक साथ विद्यमान है तो प्रकृति नहीं, रह सकती है तो प्रत्यय नहीं और जब प्रत्यय है तो प्रकृति नहीं, जब धातु है तो उपसर्ग नहीं और जब उपसर्ग है तो धातु नहीं—तो ऐसी स्थिति में इन दोनों के योग की कल्पना कैसे सम्भव हो सकती है।

'शास्त्रकृतः' शब्द की दो प्रकार से व्याख्या की जा सकती है एक **शात्रेण कृतो योगः शास्त्रकृतो योगः** अर्थात् व्याकरणशास्त्र में प्रदर्शित प्रकृति

प्रत्ययादि का सम्बन्ध तथा दूसरी **शास्त्रं करोति इति शास्त्रकृत् आचार्यः, तस्य योगः** अर्थात् व्याकरण शास्त्र को बनाने वाले आचार्यों के द्वारा प्रदर्शित प्रकृति-प्रत्ययादि का सम्बन्ध। इन दोनों व्याख्याओं में अर्थ की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है।

दुर्गाचार्य ने यहाँ **युगपद् उत्पन्नानाम् इतरेतरोपदेशः शास्त्रतो योगश्च** यह पाठ मान कर इस स्थल की एक दूसरी व्याख्या यह की है कि यदि 'अखण्ड वाक्यस्फोट', अर्थात वाक्य सर्वथा एक अखण्ड एवं अविभक्त रूप में ही रहता है, वाक्य का पदों और वर्णों में जो विभाग है वह सर्वथा काल्पनिक–असत्य है—का सिद्धान्त माना गया तो भी ये दोष उसी रूप में बने रहते हैं। वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड में भर्तृहरि ने वाक्यस्फोट सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक के रूप में आचार्य **वार्ताक्ष** तथा **औदुम्बरायण** का नाम लिया है।

यास्क का शब्द-नित्यत्व पक्ष

मूल—व्याप्तिमत्वात् तु शब्दस्य।

अनुवाद—परन्तु शब्द के व्याप्तिमान् (नित्य) होने के कारण उपर्युक्त तीनों दोषों का समाधान हो जाता है।

व्याख्या—शब्द तथा ध्वनि ये दोनों पृथक्-पृथक् तत्त्व हैं। शब्द नित्य हैं अर्थात् सदा ही वक्ता और श्रोता की बुद्धि अथवा हृदय में विद्यमान रहते हैं। ध्वनियों के द्वारा केवल उनकी अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं। शब्द की ध्वनियों के द्वारा होने वाली, यह अभिव्यक्ति ही अनित्य है क्योंकि ध्वनियाँ वाग् इन्द्रिय आदि के द्वारा उच्चरित होती हैं तथा तुरन्त नष्ट हो जाती हैं परन्तु शब्द अभिव्यक्त या अनभिव्यक्त चाहे जिस रूप में रहे—दोनों स्थितियों में यह नित्य है। पतञ्जलि ने महाभाष्य (१।१।७०) में **स्फोटस् तावान् एव ध्वनिकृता वृद्धिः** कहकर शब्द के इसी नित्य रूप को स्पष्ट किया है। शब्द के इस नित्य स्वरूप की दृष्टि से ही शब्द का दूसरा नाम 'स्फोट' या 'शब्द ब्रह्म' पड़ा। कात्यायन, पतञ्जलि तथा भर्तृहरि आदि ने न केवल शब्द को ही अपितु शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध तीनों को नित्य माना है। इस रूप में शब्दों के नित्य होने के कारण शब्दों के उपयुक्त चार प्रकार का विभाजन, वाक्य में

विद्यमान शब्दों का पारस्परिक गौण-प्रधान-भाव तथा प्रकृति-प्रत्यय या धातु उपसर्ग आदि का योग अर्थात् सम्बन्ध, सब कुछ उत्पन्न हो जायगा।

शब्द-प्रयोग की आवश्यकता

मूल--अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञकरणं व्यवहारार्थं लोके।

अनुवाद—अत्यन्त सरल (एवं स्पष्ट) होने के कारण लोक में (पारस्परिक) व्यवहार के लिये शब्द से (ही वस्तु या व्यक्ति का) नाम रखा जाता है।

व्याख्या—यहाँ यह पूछा जा सकता है कि विचारों के आदान प्रदान के लिए शब्दों का या शब्दों के समूह भाषा का माध्यम क्यों अपनाया जाये ? विभिन्न शारीरिक चेष्टाओं, जैसे--हाथ या आँख के इशारों, तथा अन्य संकेतों से भी तो काम चलाया जा सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में यास्क ने संक्षेप में यह कहा है कि भावों या विचारों को अधिक से अधिक सरल तथा सुस्पष्ट रूप में शब्दों के माध्यम से ही प्रकट किया जा सकता है। संकेत या शारीरिक चेष्टाओं द्वारा बहुत थोड़ी बातें प्रकट की जा सकती हैं तथा साथ ही उनमें बहुत कुछ अस्पष्टता एवं सन्दिग्धता बनी ही रहेगी। इसके अतिरिक्त इशारों और संकेतों से बातें बताने में देर ही लग सकती है। इसीलिये वस्तुओं तथा व्यक्तियों के नाम शब्दों के द्वारा रखे गये तथा शब्दों का ही विभिन्न अर्थों में संकेत किया गया जिन्हें उन उन शब्दों का अर्थ कहा जाता है। शब्द तथा उनके, विशिष्ट एवं सुव्यवस्थित, समूह भाषा में अर्थ-प्रकाशन की अद्भुत क्षमता को देखकर ही दण्डी ने यह स्वीकार किया कि यदि 'शब्द' नामक ज्योति संसार में प्रदीप्त न हुई होती तो यह सारा संसार घोर अज्ञानान्धकार से आच्छादित रहता। द्र०—

> इदम् अन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
> यदि शब्दाह्वयं ज्योतिर् आसंसारान्न दीप्यते॥ (काव्यादर्श–१।४)

लौकिक तथा वैदिक भाषाओं की समानता

मूल—तेषां मनुष्यवद् देवताभिधानम्।

अनुवाद---वे (शब्द) जिस प्रकार (लौकिक भाषा में) मनुष्यों के प्रति

विभिन्न अर्थों को प्रकट करते हैं, उसी प्रकार वैदिक भाषा में वे देवताओं के प्रति (विभिन्न अभिप्रायों को भी) प्रकट करते हैं।

व्याख्या—जहाँ तक अर्थ-प्रकाशन की क्षमता का सम्बन्ध है, लौकिक भाषा तथा वैदिक भाषा दोनों ही समान हैं। यहाँ 'मनुष्यवत्' शब्द में 'तत्र तस्येव' (अष्टा० ५।१।११६) सूत्र से सप्तमी विभक्ति के अर्थ में 'वत्' प्रत्यय मानना चाहिये तथा 'मनुष्येषु इव' अर्थ करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार लौकिक भाषा में 'गौ' आदि शब्दों का प्रयोग करने पर 'गाय' 'वाणी' आदि अर्थों की प्रतीति होती है, उसी प्रकार वैदिक भाषा में भी इन 'गौ' आदि शब्दों का प्रयोग करने पर 'गाय', 'पृथ्वी', 'किरण', 'वाणी' इत्यादि का ज्ञान होता है। जिस प्रकार 'देवदत्त' ! आयाहि दुग्धं पिव' यह वाक्य देवदत्त को यह बताता है कि 'देवदत्त तुम आओ और दूध पीओ।' उसी प्रकार **वायवायाहि दर्शते सोमा अलंकृता:** (ऋ० वे० १।२।१) इत्यादि वैदिक मन्त्रों के शब्द भी वायु इत्यादि देवों के प्रति यह कहते हैं कि 'वायु देव तुम आओ देखो यह सोम रस से भरे पात्र सजे हुए हैं।' अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार लौकिक भाषा के शब्द अर्थं के वाचक हैं, उसी प्रकार वेद के शब्द भी अर्थवान् हैं। इसी बात को आगे भी मन्त्रों की, सार्थकता सिद्ध करते हुए 'अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्' कह कर भी यास्क ने स्पष्ट किया है तथा इसी दृष्टि से मीमांसकों की—**य एव वैदिका शब्दास् त एव लौकिकाः त एव च तेषाम् अर्थाः**—यह परिभाषा प्रसिद्ध हुई।

वैदिक मन्त्रों की आवश्यकता

मूल—पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर मन्त्रो वेदे।

अनुवाद—पुरुषों के ज्ञान के अनित्य होने के कारण वेद में कर्मों सम्पूरक मन्त्र (संगृहीत) हैं।

व्याख्या—यह पूछा जा सकता है कि यदि वैदिक भाषा और लौकिक भाषा दोनों समान रूप से सार्थक हैं तो फिर यज्ञ आदि कार्यों में वैदिक मन्त्रों के प्रयोग की अनिवार्यता क्यों मानी जाती है। अपनी इच्छानुसार जिस किसी भी भाषा में रचित पद्यों या वाक्यों द्वारा यज्ञ आदि कार्य क्यों न किए जा

इस प्रश्न का उत्तर यास्क यह देते हैं कि दोनों भाषाओं के समान होने पर भी वेद-मन्त्र अपौरुषेय हैं और लौकिक भाषा में निबद्ध वाक्य या पद्य पौरुषेय हैं, मानव निर्मित्त हैं। भारतीत परम्परा इस बात को मानती आयी है कि वेद मानवीय ज्ञान न होकर स्वतन्त्र रूप से समुद्भूत शाश्वत ज्ञान है, जिसका ऋषियों द्वारा साक्षात्कार किया गया। दूसरी ओर मानव का ज्ञान अनित्य है, अपूर्ण है, तथा उसकी शक्ति एवं बुद्धि सीमित है। इसलिये उसकी भाषा में भी यह अपूर्णता अवश्य होगी। अतः मानवीय भाषा का प्रयोग होने पर यज्ञ आदि कार्यों को फलोत्पादकता या दूसरे शब्दों में इनकी सफलता के विषय में सन्देह हो सकता है। परन्तु वेद-मन्त्र के द्वारा किए जाने पर यज्ञ आदि कार्य निश्चित रूप से फल के उत्पादक होंगे। वे यज्ञ आदि कार्य पूर्ण ही तब माने जायेंगे जब उनमें वैदिक मन्त्रों का प्रयोग एवं विनियोग किया जायेगा। ब्राह्मण-ग्रन्थों ने इसी बात को निम्न शब्दों में स्वीकार किया है—**एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत् कर्म क्रियमाणम् ऋग् यजुर् वाभिवदति** (गोपथ ब्राह्मण २।२।६) अर्थात् यज्ञ आदि की पूर्णता तो यही है कि वे रूप से समृद्ध हों—उनमें जो कार्य किया जा रहा है उसे ऋक् तथा यजुष् के मन्त्र भी कह रहें हों।

यहाँ 'कर्म-सम्पत्तिः' शब्द 'मन्त्रः' का विशेषण है। 'सम्पत्ति' शब्द में 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'पत्' धातु से 'करण' अर्थ में 'क्तिन्' प्रत्यय मान कर उसका अर्थ यह करना होगा कि यज्ञ आदि कर्मों की सम्पूर्णता या सफलता जिससे होती है ऐसा मन्त्र।

इस वाक्य के 'पुरुष-विद्यानित्यत्वात्' इस समस्त पद की ऊपर की व्याख्या में 'पुरुषस्यविद्याया अनित्यत्वात्' यह विग्रह किया गया। इसका दूसरा विग्रह किया जाता है—'पुरुष विद्याया नित्यत्वात्' अर्थात् परम पुरुष की विद्या के नित्य होने के कारण वेद में कर्मों को सफल बनाने वाले मन्त्र हैं। इस दूसरे विग्रह में अर्थापत्ति से यह पता लगता है कि मानव की विद्या अनित्य है अतः उनकी भाषा के वाक्य यज्ञ आदि कार्यों को सफल नहीं बना सकते। दोनों विग्रहों में एक ही अर्थ प्रकट होता है। अन्तर केवल

इतना है कि एक में जो बात साक्षात् कही गई है वह दूसरे में अर्थापत्ति से जानी जाती है।

भाव' के छः प्रकार तथा उनके अभिप्राय

मूल—षड् भाव-विकारा-भवन्तीति वार्ष्यायणिः। जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते विनश्यति इति।

'जायते' इति पूर्वभावस्य आदिम् आचष्टे, न अपरभावम् आचष्टे न प्रतिषेधति। 'अस्ति' इत्युत्पन्नस्य सत्त्वस्यावधारणम्। 'विपरिणमते' इत्यप्रच्यवमानस्य तत्त्वाद् विकारम्। 'वर्धते' इति स्वाङ्गाभ्युच्चयम, सांयोगिकानां वाऽर्थानाम्। 'वर्धते विजयेन' इति वा, 'वर्धते शरीरेण' इति वा। 'अपक्षीयते' इत्येतेनैव व्याख्यातः प्रतिलोमम्। 'विनश्यति, इत्यपरभावस्य आदिम् आचष्टे न पूर्वभावम् आचष्टे न प्रतिषेधति। अतोऽन्ये भाव-विकारा एतेषाम् एव विकारा भवन्तीति ह स्माह। ते यथावचनम् अभ्यूहितव्याः।

अनुवाद—छः प्रकार के भाव विकार होते हैं—उत्पन्न होना, रहना, परिवर्तित होना, बढ़ना घटना तथा नष्ट होना यह वार्ष्यायणि का मत है 'जायते' यह (शब्द) पूर्वभाग (उत्पत्ति) के प्रारम्भ को कहता है, अपरभाव होना को न तो कहता है न (उसका) प्रतिषेध करता है। 'अस्ति' (होना) (रूप भाव) उत्पन्न पदार्थ की स्थिति को (कहता) है। 'विपरिणमते' यह (परिणत होना रूप भाव) अपने स्वरूप से अपरिवर्तित वस्तु के विकार को (कहता है)। 'वर्धते' यह (बढ़ना रूप भाव) अपने अङ्गों अथवा स्व-सम्बद्ध पदार्थों की वृद्धि (या पुष्टि) को (कहता है) (जैसे) 'विजयेन वर्धते' अथवा 'शारीरेण वर्धते'। 'अपक्षीयते' यह (घटना) रूप भाव इसी ('वर्धते' की व्याख्या) से विपरीत रूप में व्याख्यात हो गया। 'विनश्यति' यह (नष्ट होना रूप भाव) अन्तिम भाव (नाश) के प्रारम्भ को कहता है। (इससे) पहले के भाव (घटना) को न कहता है और न (उसका) निषेध करता है। इन (छः भाव विकारों से) अन्य भाव विकार इनके ही विकार (अवान्तर) भेद हैं ऐसा (वार्ष्यायणि ने) कहा है।

उन (भाव विकारों) का वचन (प्रसङ्ग या मंत्र) के अनुसार निश्चय कर लेना चाहिये।

व्याख्या—पहले 'आख्यात' की परिभाषा में 'भावप्रधानम्' शब्द आया था। वहाँ 'भाव' का अर्थ 'साध्य-भाव' अथवा व्यापार या क्रिया है। उसी 'भाव' की दृष्टि से यहाँ भाव-भेदों की चर्चा की जा रही है। यद्यपि 'भाव' अथवा सामान्य क्रिया के अनन्त भेद हो सकते हैं। परन्तु प्रमुख रूप से, एक प्राचीन आचार्य, **वार्ष्यायणि** ने 'भाव' के छः भेद माने हैं। बृहद्देवता (२।१।२१), महाभाष्य (१।३।१) तथा वाक्यपदीय (१।३) में भी छः भाव-भेदों की चर्चा मिलती है। पहले दो ग्रन्थों में तो **वार्ष्यायणि** का नाम लिया गया है, पर तीसरे में बिना नाम के ही इन छः विकारों का उल्लेख है।

आचार्य वार्ष्यायणि का विचार यह है कि उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थों में ये छः विकार देखे जाते हैं। इन विकारों का स्वभाव यह है कि वे अपने से पहले आने वाले विकार के समय में ही सूक्ष्म रूप से अपना स्वरूप धारण करने लगते हैं और अपने से पहले वाले विकार के तिरोहित हो जाने पर अपने स्वरूप को पूर्णतः स्पष्ट करते हैं।

यहाँ **प्रथम** भाव-विकार है 'जायते' अर्थात् उत्पन्न होना। बीज से जब अंकुर निकलता है तब यह कहा जाता है कि अंकुर पैदा हुआ। यद्यपि 'पैदा होना' के साथ-साथ 'होना' रूप क्रिया या भाव विकार भी है ही। परन्तु यहाँ 'जायते' शब्द 'उत्पन्न होने' रूप भाव विकार को ही कहता है, 'होने' रूप भाव विकार को नहीं कहता और न उस 'भाव' का प्रतिषेध ही करता है। कहता इसलिये नहीं कि 'जायते' का अर्थ केवल 'होना' न होकर 'उत्पन्न होना' अर्थ है और निषेध इसलिये नहीं करता कि 'उत्पन्न होना' रूप भाव-विकार हो ही तब कह सकता है जब कोई पदार्थ हो, अर्थात् वहाँ 'होना' रूप भाव-विकार भी हो। यदि अंकुर उत्पन्न होता है' यह कहा ही नहीं जा सकता।

दूसरा भाव-विकार है 'अस्ति' जिसका अर्थ है 'होना', 'अपनी सत्ता धारण करना'। वैयाकरणों ने भी 'अस्ति' का अर्थ किया है 'आत्म-धारणानुकूलो व्यापारः'। 'अस्ति', 'भवति', 'विद्यते' 'वर्तते' ये सभी धातुयें सामान्य सत्ता

अथवा 'भाव' को ही कहती हैं, जिसका अर्थ होता है—'अपने को धारण करना'। इसीलिये यास्क ने 'भवति इति भावस्य' कह कर 'सत्ता' को भाव-सामान्य के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। कैयट ने इसी दृष्टि से 'आत्म-भरण-वचनो भवतिः' (महाभाष्य १।३।१ पृ० १६५) कहा भर्तृहरि ने 'अस्ति' के अर्थ के विषय में चर्चा करते हुए यह कहा कि "अपने को अपने द्वारा धारण करने की स्थिति को 'अस्ति' पद के द्वारा कहा जाता है—**आत्मानम् आत्मना बिभ्रद् अस्तीति व्यपदिश्यते**" वाक्यपदीय (३, सं०, ७)।

तीसरा भाव-विकार है—'विपारणमते' जिसका अभिप्राय है 'परिवर्तन'। यहाँ 'परिवर्तन' का अभिप्राय वह सामान्य विकार है जिसमें वस्तु अपने मौलिक धर्म, तत्त्व, या स्वभाव से रहित नहीं होता। जैसे मानव-शरीर में विविध परिवर्तन हो सकते हैं; परन्तु शरीरी के स्वभाव में कोई भी परिवर्तन नहीं होता।

चौथा विकार है 'वर्धते' अर्थात् 'वृद्धि'। यह 'वृद्धि' दो प्रकार की हो सकती है। पहली अपने शरीर की वृद्धि तथा दूसरी अपने से सम्बद्ध या सयुक्त पदार्थों की वृद्धि अथवा पुष्टि। यहाँ निरुक्त में 'स्वाङ्ग' शब्द का प्रयोग शरीर के अर्थ में किया गया है—शरीर के अंग के अर्थ में नहीं। पहले प्रकार की 'वृद्धि' की दृष्टि से 'वर्धते शरीरेण' यह उदाहरण दिया गया तथा दूसरे प्रकार की दृष्टि से 'वर्धते विजयेन' उदाहरण दिया गया। इस प्रकार के और उदाहरण 'वर्धते धनेन', 'वर्धते यशसा' इत्यादि हो सकते हैं। निरुक्त में 'वर्धते शरीरेण' यह उदाहरण 'वर्धते विजयेन' के पहले आना चाहिये।

पाँचवा भाव-विकार है 'अपक्षीयते' अर्थात् 'ह्रास' अथवा 'अपक्षय'। 'अपक्षय' से 'विनाश' को छठे भाव-विकार के रूप में गिनाया गया है। यह 'ह्रास' भी 'वृद्धि' के समान दो प्रकार का हो सकता है—पहला शरीर का ह्रास तथा दूसरा अपने से युक्त या सम्बद्ध पदार्थों का ह्रास। पहले का उदाहरण है—'अपक्षीयते शरीरेण' तथा दूसरे का उदाहरण है—'अपक्षीयते अपजयेन' इत्यादि। इसीलिये यास्क ने यहाँ केवल "अपक्षीयते इत्येतेनैव व्याख्यातः प्रति-लोमम्" इतना कहना ही प्रर्याप्त समझा।

छठा भाव-विकार है 'विनश्यति' अर्थात् 'विनाश' यह इन छः भाव-विकारों में अन्तिम विकार है। जब 'ह्रास' अपनी अन्तिम सीमा पर आ जाता है तब 'विनाश' का प्रारम्भ माना जाता है। इसी कारण यह 'विनश्यति' पद अन्तिम भाव 'विनाश' की प्रारम्भिक अवस्था को कहता है। परन्तु उससे पूर्व के भाव-विकार 'अपक्षय' को न तो कहता ही है और न उसका निषेध ही करता है। कहता इसलिये नहीं कि 'विनश्यति' का अर्थ 'अपक्षय' अथवा 'ह्रास' न होकर 'पूर्ण विनाश' हुआ करता है और निषेध इसलिये नहीं कर सकता कि 'अपक्षय' के हुए बिना 'विनाश' हो ही नहीं सकता।

यास्क के अनुसार, वार्ष्यायणि का यह भी कहना है कि इन छः विकारों के अतिरिक्त अन्य जितने भी भाव-विकार उपलब्ध होते हैं, उन सबको इन छः विकारों के अन्तर्गत ही मान लेना चाहिये।

अनुमान है कि आचार्य **वार्ष्यायणि** ने भाव-विकारों के विषय में अपना कोई विशिष्ट ग्रन्थ लिखा होगा जिसमें अपनी विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की होगी। परन्तु आज न तो उनका ग्रन्थ उपलब्ध है और न उनके विस्तृत विचार। प्रो० राजवाड़े ने अपनी व्याख्या (पृ० २२७–२८) में इस मत पर निम्न आक्षेप किये हैं—

१–'जायते' शब्द का प्रयोग केवल सचेतन के लिये ही हो सकता है। परन्तु संसार में अनेक अचेतन वस्तुएँ क्रियाशील दिखाई देती हैं। जैसे—पृथ्वी तथा अन्य नक्षत्रों का सूर्य के चारों ओर परिभ्रमण। इस तरह की क्रियाओं को किस भाव-विकार के अन्तर्गत माना जाय?

२–'आस्ते' 'शेते', 'तिष्ठति' 'व्रजति' जैसी 'क्रियायें किस भाव-विकार में समाविष्ट होगी?

३–अस्ति (होना) को अलग भाव-विकार क्यों माना गया जबकि 'अस्ति' सभी, 'जायते' इत्यादि भाव-विकारों में विद्यमान है। यहाँ तक कि 'जायते' के पूर्व भी 'अस्ति' की सत्ता माननी होगी क्योंकि सत्ता के बिना तो जन्म

हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार अन्य पाँचों विकार भी तभी सम्भव हैं जब पदार्थ की सत्ता हो—उनका 'अस्ति' भाव हो।

४—'जायते' अथवा 'जन्म' भी तो एक प्रकार का 'विपरिणाम' ही है उसे अलग विकार क्यों माना जाय ? इतना ही क्यों 'वर्धते', 'अपक्षीयते' एवं 'विनश्यति' अर्थात् 'वृद्धि, ह्रास या विनाश ये तीनों विकार भी तो 'विपरिणाम' के ही अन्तर्गत आ जाते हैं। अतः इन्हें अलग भाव-विकार क्यों माना जाय ?

५—'जन्म' के बाद ही 'विपरिणाम' 'वृद्धि' इत्यादि विकारों की स्थिति क्यों मानी गयी जबकि जन्म के पूर्व भी माँ के पेट में 'विपरिणाम', 'वृद्धि' आदि विकार उपस्थित होते हैं।

उपसर्ग अर्थों के वाचक या द्योतक

मूल—'न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान् निराहुः' इति शाकटायनः। नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति। 'उच्चावचाः पदार्था भवन्ति' इति गार्ग्यः। तद् य एषु पदार्थः प्राहुर् इमे तं नामाख्यातयोर् अर्थविकरणम्।

अनुवाद—स्वतन्त्र (रूप से प्रयुक्त) उपसर्ग निश्चय ही अर्थों को नहीं कहते अपितु 'नाम' तथा 'तिङन्त' पद के अर्थ-सम्बन्ध के द्योतक मात्र होते हैं—यह शाकटायन का मत है। परन्तु (इसके विपरीत) गार्ग्य का मत यह है कि (उपसर्ग) विभिन्न अर्थों वाले होते हैं। तो इन (उपसर्गों) में जो पदार्थ (उपसर्ग पदों का अर्थ) है, जिसके द्वारा 'नाम' तथा 'आख्यात' के अर्थ में विकार (परिवर्तन) उत्पन्न हो जाता है, उसको ये (उपसर्ग) अच्छी तरह से कहते हैं।

व्याख्या—संस्कृत-व्याकरण में उपसर्गों के द्योतकत्व तथा वाचकत्व पक्ष को लेकर बहुत प्राचीन काल से आचार्यों में विवाद चलता आ रहा है। इसी विवाद का उल्लेख यहाँ किया गया है। संस्कृत-व्याकरण के प्राचीन आचार्य, शाकटायन प्रथम पक्ष के प्रबल पोषक हैं तथा, सम्भवतः निरुक्त के प्राचीन आचार्य, गार्ग्य दूसरे पक्ष के।

शाकटायन का यह विचार है कि उपसर्ग सदा ही 'नाम' (प्रातिपदिक) अथवा 'आख्यात' (तिङन्त) पदों के साथ सम्बद्ध होकर ही आते हैं। कभी भी वे स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त होकर किसी विशिष्ट अर्थ का प्रकाशन नहीं करते। अतः यही मानना चाहिये कि उपसर्ग जिन 'नाम' या 'तिङन्त' पदों के साथ प्रयुक्त होते हैं उनके ही अर्थों को द्योतित करते हैं—स्वयं किसी ऐसे अर्थ का कथन नहीं करते जो उन 'नाम' या 'तिङन्त पदों के अर्थ से भिन्न अर्थ हों जिनके साथ ये प्रयुक्त होते हैं। अभिप्राय यह है कि उपसर्ग के प्रयुक्त होने से जिस अर्थ का प्रकाशन होता है वह उपसर्ग का न होकर उन्हीं 'नाम' या 'तिङन्त' पदों का होता है—उपसर्ग तो केवल उन अर्थों का प्रकाशन या द्योतक मात्र करते हैं। जैसे घर में सारा सामान विद्यमान होने पर भी अन्धकार के कारण दिखाई नहीं देता पर जब दीपक जल जाता है तो वह सब दिखाई देता है। यहाँ जिस प्रकार दीपक उन सामान या वस्तुओं का द्योतक मात्र होता है—लाने वाला नहीं होता—उसी प्रकार उपसर्ग भी केवल इन अर्थों के द्योतक मात्र होते हैं—वाचक नहीं।

निर्बद्धा उपसर्गा अर्थात् न निराहुः—शाकटायन के इस मत में इस बात पर जोर दिया गया है कि उपसर्ग स्वतन्त्र रूप से अर्थ का कथन निश्चित ही नहीं करते। 'निराहु.' प्रयोग में 'निर्' उपसर्ग निश्चय अर्थ का द्योतन करता है। ये उपसर्ग तो केवल उन अर्थों का द्योतन मात्र करते हैं, जो 'नाम' या 'आख्यात' पदों में सन्निहित (उपसंयुक्त) रहते हैं। कर्मोपसंयोग-द्योतकाः, का विग्रह है—**कर्मणः (अर्थस्य) उपसंयोगः (सम्बन्धः) कर्मोपसंयोगः। तस्य द्योतकाः कर्मोपसंयोग-द्योतकाः।** 'नाम' और 'आख्यात' का अर्थ विशेष के साथ जो सम्बन्ध है—उसके उपसर्ग द्योतक होते हैं वाचक नहीं।

टिप्पणी—वैयाकरणों के सिद्धान्त में उपसर्ग अर्थ के द्योतक होते हैं, का आधार एक और मूलभूत सिद्धान्त यह है कि धातु अनेक अर्थ वाली होती हैं। द्र०—**अनेकार्था हि धातवो भवन्ति। तद् यथा वपिः प्रकिरणे दृष्टश् छेदने चापि वर्तते—'केशश्मश्रु वपति' इति। ईडिः स्तुति चोदना-याच्ञासु दृष्टः प्रेरणे चापि वर्तते—'अग्निर्वा इतो वृष्टिम् ईट्टे मरुतोऽमुतश्च्यावयन्ति'—इति।**

करोतिर् अभूत-प्रादुर्भावे दृष्टो निर्मलीकरणे चापि वर्तते—'कटे कुरु' 'पादौ कुरु' उन्मृदान इति गम्यते। निक्षेपणे चाऽपि वर्तते—'कटे कुरु' 'घटे कुरु' 'अश्मानम् इतः कुरु' स्थापय इति गम्यते। एवम् इहापि तिष्ठतिरेव व्रजिक्रियामाह तिष्ठतिर् एव व्रजिक्रिया या निवृत्तिम्। महाभाष्य (१।३।१) यहाँ पतञ्जलि के इस कथन का संक्षिप्त अभिप्राय यह है कि धातु-पाठ में धातुओं के जिन-जिन अर्थों को प्रदर्शित किया गया है उनसे भिन्न अर्थों में भी धातुओं का प्रयोग होता है इसलिये यही मानना चाहिये कि 'स्था' धातु ही 'तिष्ठति' प्रयोग में 'ठहरने' अर्थ को तथा 'प्रतिष्ठते' प्रयोग में वही 'प्रस्थान करने' या 'जाने' अर्थ को कहती है। 'प्रतिष्ठते' में विद्यमान 'प्र' उपसर्ग तो केवल इस बात का द्योतन करता है कि 'स्था' धातु का अर्थ यहाँ 'ठहरना' न होकर 'जाना' है।

आचार्य गार्ग्य का वाचकत्व पक्ष—नैरुक्त आचार्य गार्ग्य का यह निश्चित मत है कि उपसर्ग भी 'नाम' और 'आख्यात' के समान 'पद' हैं तथा उनके भी अपने-अपने विविध अर्थ होते हैं, द्योतक नहीं। यह दूसरी बात है कि ये उपसर्ग स्वभावतः ऐसे अर्थ के वाचक होते हैं जो 'नाम' या 'अख्यात' पदों के ही अर्थों में विकार पैदा कर देते हैं। 'नाम' तथा 'आख्यात' पदों में उपसर्ग के संयोग से जो अर्थ की भिन्नता आती है और उपसर्ग के हट जाने पर जो अर्थ की भिन्नता समाप्त हो जाती है, उसे अन्वयव्यतिरेक के नियम के अनुसार उपसर्गों का ही अर्थ मानना चाहिये। यह अर्थ भिन्नता ही इन उपसर्ग पदों का अपना अर्थ है तथा उसे ये उपसर्ग 'प्राहुः'—अच्छी प्रकार कहते हैं केवल द्योतन मात्र नहीं करते।

'ते उपेक्षितव्याः' का अर्थ है—इन उपसर्गों के विविध अर्थों के विषय में अच्छी प्रकार विचार करना चाहिये—उनकी परीक्षा करनी चाहिए। इस प्रयोग से यह स्पष्ट है कि यास्क के समय शब्द 'उप' उपसर्ग पूर्वक 'ईक्ष्' धातु उपेक्षा के आधुनिक अर्थ में प्रसिद्ध नहीं हो सका था।

टिप्पणी—उपसर्गों के विषय में नैरुक्तों का मत वैयाकरणों से भिन्न रहा है। नैरुक्त उपसर्गों को अर्थों का द्योतक न मान कर वाचक मानते रहे हैं। यह

गार्ग्य के कथन से अनुमय है। शाकटायन का यह कहना है कि उपसर्ग स्वतन्त्र रूप से अर्थों का कथन नहीं करते बहुत सत्य नहीं है, क्योंकि वेदों में अनेक स्थानों पर केवल उपसर्ग अपने अर्थ से विशिष्ट किसी क्रिया को कहते हुये देखे जाते हैं, जैसे—

उद् उत्तमं वरुण पाशम् अस्मद् अवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयम् आदित्य व्रते तवानागसोऽदितये स्याम ॥

(ऋ० वे० १।२४।१५)

इस मन्त्र के पूर्वार्ध में पहले स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त 'उत्' तथा 'अव' उपसर्ग 'ऊपर की ओर खोलो' तथा 'नीचे की ओर खोलो' इन अर्थों को कहते हैं यह कहना उचित नहीं है कि यहाँ ये उपसर्ग भी स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त न होकर 'श्रथाय' क्रिया से सम्बन्ध हैं क्योंकि 'श्रथय' का तो अध्याहार करना पड़ता है। मन्त्रकर्त्ता ऋषि ने स्वयं उसका प्रयोग नहीं किया है।

उपसर्गों के इन स्वतन्त्र प्रयोगों तथा उनसे प्रकट होने वाले विशिष्ट अर्थों को देखकर ही पतञ्जलि को भी, जो उपसर्गों के द्योतकत्व पक्ष के समर्थक हैं, यह कहना पडा कि उपसर्गो का यह स्वभाव है कि जब उनके साथ किसी क्रियावाचक शब्द का प्रयोग होता है तो वहाँ वे क्रिया विशेष को कहते हैं। परन्तु जहाँ उनके साथ तिङन्त पद का प्रयोग नहीं होता वहाँ साधन (कारक) से विशिष्ट क्रिया को कहते हैं—उपसर्गाश्च पुनर् एवम् आत्मका यत्र क्रिया-वाची शब्दः प्रयुज्यते तत्र क्रिया विशेषम् आहुः। यत्र तु न प्रयुज्यते तत्र ससाधनां क्रियाम् आहुः।

वैदिक प्रातिशाख्यकार भी संभवतः नैरुक्तों के इस वाचकता पक्ष के ही सहमत हैं, क्योंकि उपसर्गों के विषय में ऋक्-प्रातिशाख्य में 'उपसर्गा विशतिर् अर्थवाचकाः (२।२०) तथा 'उपसर्गो विशेषकृत' (१२।२५) कहकर उन्हें विशिष्ट अर्थ का वाचक माना गया है।

वस्तुतः वैदिक-मन्त्रों में उपसर्गों के स्वतन्त्र प्रयोगों को देखते हुये वैदिक भाषा की दृष्टि से उपसर्गों को अर्थ का वाचक मानना उचित भी प्रतीत

होता है हाँ लौकिक भाषा की दृष्टि से, जिनमें उपसर्गों का स्वतन्त्र प्रयो कभी भी नहीं देखा जाता। वैयाकरण शकटायन आदि का मत ग्राह्य है परन्तु नरुक्तों का प्रमुख सम्बन्ध केवल वैदिक भाषा से ही इसलिए रहा है उन्होंने उपसर्गों को अर्थ का वाचक माना तथा सम्प्रति विद्यमान निरुक्त प्रणेता आचार्य यास्क भी गार्ग्य के पक्ष से ही सहमत है। उपलक्षण के रूप उपसर्गों के प्रधान अर्थों का प्रदर्शन करने के पश्चात्—**एवम् उच्चावचान् अर्थ प्राहुः** इस वाक्य में प्राहुः शब्द यास्क की गार्ग्य के साथ सहमति को ही स रूप में कह रहा है। 'प्र+आहुः' अर्थात् उपसर्ग इन विविध अर्थों को अच्छी तरह प्रकृष्ट रूप में कहते हैं—द्योतन मात्र नहीं करते।

उपसर्गों के कुछ प्रधान अर्थ

मूल—'आ' इत्यर्वागर्थे। 'प्र' 'परा' इत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। 'अभि' इत्याभिमुख्यम्। 'प्रति' इत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। 'अति' 'सु' इत्यभिपूजितार्थे। 'निर्' 'दुर्' इत्येतयोः प्रातिलोम्यम्। 'नि' 'अव' इति विनिग्रहार्थीयौ। 'उद' इत्येतयोः प्रातिलोम्यम्। 'सम्' इत्येकीभावम्। 'वि' 'अप' इत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। 'अनु' इति सादृश्यापरभावम्। 'अपि' इति संसर्गम। 'उप' इत्युपजनम्। 'परि' इति सर्वतोभावम्। 'अधि' इत्युपरि भावमैश्वर्यं वा। एवम उच्चावचान् अर्थान् प्राहुः। तं उपेक्षितव्याः।

अनुवाद—'आ' 'इधर' के अर्थ में (प्रयुक्त होता है) तथा 'प्र' और 'परा' इस ('आ') के विपरीत अर्थ (उधर) को (कहते है)। 'अभि' 'साम्मुख्य' (अर्थ) को (कहता है।) तथा 'प्रति' इस ('अभि') के विपरीत पीछे अर्थ को कहता है। 'अति' तथा 'सु' आदर, सम्मान अर्थ में (प्रयुक्त होते हैं) और 'निर्' तथा 'दुर्' अर्थ इन दोनों ('अति' तथा 'सु') के विपरीत (अनादर या अपमान) अर्थ को (कहते हैं) 'नि' तथा 'अव' विनिग्रह अर्थ वाले हैं तथा 'उत्' इस (विनिग्रह) के विपरीत अर्थ को कहता है। 'सम्' एकत्व (अर्थ) को (कहता है) तथा 'अनु' यह 'सादृश्य' तथा 'अपरभाव' (पीछे होने) को (कहता है)। 'उप' यह उपजन (आधिक्य) को (कहता है) 'परि' यह 'चारों ओर होने' को (कहता है)। 'अधि' यह 'ऊपर होना' अथवा 'ऐश्वर्य' को (कहता है)। इस रूप (उपसर्ग) अनेक तरह के अर्थों को अच्छी तरह कहते हैं (द्योतन मात्र नहीं करते)। उन अर्थों पर ध्यान देना चाहिये।

व्याख्या—उपसर्गों के अर्थ प्रदर्शन में यास्क ने अपनी शैली के अनुसार बड़े संक्षेप से काम लिया है। यहाँ तक कि आवश्यक क्रियाओं का भी प्रयोग नहीं करना चाहा तथा उपलक्षण के रूप में उपसर्गों के बहुत प्रसिद्ध अर्थों को ही दिखाया है।

'आ' का अर्थ है अभिमुख, सम्मुख या नीचे जैसे **आगहि दिवो वो रोचनाद् अधि** (प्रकाशयुक्त द्युलोक से यहाँ आओ) 'प्र' तथा 'परा' उपसर्ग 'आ' के अर्थ से विपरीत—'उधर', 'दूर' तथा 'ऊपर'—अर्थ को कहते हैं। जैसे **सुदेवोऽद्य प्रपतेत्** (सुन्दर देव आज 'ऊपर उड़ें') तथा **परा मे यन्तिधीतयः** (मेरी स्तुतियाँ बहुत दूर तक जाती हैं) इसी प्रकार अन्य उपसर्गों का विविध अर्थों में प्रयोग द्रष्टव्य है।

———

द्वितीयः पादः

निपातों के विषय में विचार

मूल—अथ निपाता उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति । अप्युपमार्थे । अपि कर्मोपसंग्रहार्थे । अपि पदपूरणाः ।

अनुवाद—अब निपातों का वर्णन किया जाता है । ये निपात, विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं । कुछ (निपात) 'उपमा' अर्थ में, कुछ (निपात) अर्थ 'समुच्चय' के अर्थ में तथा कुछ निपात 'पद-पूर्ति' के लिए प्रयुक्त होते हैं ।

व्याख्या—'नाम', 'आख्यात' तथा उपसर्गों की चर्चा कर चुकने के पश्चात् यास्क अब निपात विषयक विवेचन आरम्भ करते हैं । 'निपात' शब्द की निष्पत्ति 'नि' उपसर्गपूर्वक 'पत्' धातु से होगी । चूंकि ये निपात विविध अर्थों में प्रयुक्त होते हैं, इसलिये इन्हें 'निपात' कहा जाता है । कुछ विद्वान् 'निपात' शब्द का अर्थ यह करते हैं कि ये शब्द भाषा में अज्ञात रूप से आ गिरे जिनके प्रकृति प्रत्यय आदि के विषय में स्पष्ट कुछ ज्ञात नहीं होता इसलिये उन्हें 'निपात' कहा गया ।

'उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति' कहकर यास्क ने यह स्पष्ट कर दिया कि निपात भी विविध अर्थों के वाचक होते हैं । वैयाकरणों, ने कम से कम नवीन वैयाकरणों ने, निपातों को भी, उपसर्गों के समान, अर्थ का द्योतक ही माना है ।

टिप्पणी—यास्क की निपात विषयक व्युत्पत्ति से तुलना करो— **निपातानाम् अर्थवशात् निपातनात्** (ऋ० प्रा० १२।२६) तथा **वशात् प्रकरणस्यैते निपात्यन्ते पदे पदे** (बृहद्देवता २।९३) ।

अप्युपमार्थे··· ··· अपि पदपूरणाः—सामान्यतया निपात तीन प्रकार के होते हैं । प्रथम वे जो 'उपमा' या 'सादृश्य' अर्थ को कहते हैं । दूसरे वे जो

'कर्मोपसङ्ग्रह' अर्थ वाले (अनेक अर्थों के सङ्ग्राहक या समुच्चायक) होते हैं तथा तीसरे वे निपात हैं जिनका अपना कोई अर्थ नहीं होता—जो केवल पद या वाक्य की पूर्ति के लिये प्रयुक्त होते हैं। यास्क ने यहाँ तीनों प्रकार के निपातों का निर्देश करते हुये, समुच्चय अर्थ वाले 'अपि' उपसर्ग का प्रयोग किया है जो सम्भवतः उनके समय में इस रूप में रखा जा सकता है:—'निपातता उपमार्थे च कर्मोपसंग्रहार्थे च पद पूर्णाश्च भवन्ति' अर्थात् निपात 'उपमा' अर्थ वाले, कर्मोपसंग्रह' अर्थ वाले तथा पद-पूर्ति करने वाले होते हैं।

टिप्पणी—'उपमार्थः अर्थात् **उपमा एवं अर्थ उपमार्थं तस्मिन् उपमार्थे** अभिप्राय यह है कि उपमा, सादृश्य या तुलना रूप अर्थ को कहने के लिये। इसी प्रकार 'कर्मोपसंग्रहार्थे' शब्द का विग्रह है। **कर्मणोः कर्मणां वाःउपसंग्रहः कर्मोपसंग्रहः तस्मिन् कर्मोपसंग्रहार्थे।** निरुक्त में 'कर्म' शब्द का प्रयोग प्रायः 'अर्थ अथवा 'अभिप्राय' के अर्थ में हुआ है। इसलिये 'कर्मोपसंग्रहार्थ' शब्द का अर्थ है अर्थोपसंग्रह' रूप अर्थ वाला। यास्क ने स्वयं 'कर्मोपसंग्रहार्थ' निपातों की परिभाषा करते हुये 'कर्मोपसंग्रह' शब्द को 'अर्थोपसंग्रह' परक माना है 'कर्मोपसंग्रहार्थ' का संक्षेप में तात्पर्य यह हुआ कि वह अर्थ जिसमें दो या दो से अधिक अर्थ एक साथ प्रकट होते हों, इस प्रकार का अर्थ समुच्चायक अथवा अर्थोपसंग्राहक अर्थ हैं जिन निपातों का वे कर्मोपसंग्रहार्थीय निपात माने जाते हैं। इन दोनों से भिन्न 'पदपूरण' निपात वे हैं जिनका कोई अर्थ नहीं होता। जैसे—'कम्', 'इम्', 'इद्', 'उ'। इन निपातों का जहाँ अनर्थक प्रयोग देखा जाता है वहाँ, ऋग्वेद के छन्दोवद्ध मन्त्रों में पदपूर्ति अथवा चरणपूर्ति इनका प्रयोजन माना जाता है। परन्तु छन्द से इतर स्थलों में इनका प्रयोजन केवल वाक्य को अलंकृत करना माना जाता है। इन तीन प्रकार के निपातों की चर्चा वृहद्देवता के निम्न श्लोक में भी की गयी है:—

कर्मोपसंग्रहार्थे च क्वचिच्चौपम्यकारणात्।
ऊनानां पूरणार्था वा पादानाम् अपरेक्वचित्॥ (२।९३-९४)

उपमार्थक निपात

सूल—तेषाम् एते चत्वार उपमार्थे भवन्ति। 'इव' इति भाषायां च,

अन्वध्यायं च । अग्निर् इव' (ऋ० वे० १०।८४।२) 'इन्द्र इव' (ऋ० वे० १०।८४।१) इति ।

'न' इति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम् । उभयम् अन्वध्यायम् । 'नेन्द्र देवम् अमंसत' (ऋ० वे० १०।८६।१) इति प्रतिषेधार्थीयः । पुरस्ताद उपाचारस् तस्य यत् प्रतिषेधति । 'दुर्मदासो न सुरायाम्' (ऋ० वे० ८।२।१२) इति उपमार्थीयः । उपरिष्टाद् उपाचारस तस्य येनोपमिमीते ।

'चिद्' इत्येषोऽनेककर्मा । आचार्यश् चिद् इदं ब्रूयाद्' इति पूजायाम् । (आचार्यः कस्मात् ?) आचार्य आचरं ग्राहयति । आचिनोति अर्थान् । आचिनोति बुद्धिम् इति वा । 'दधिचित् इत्युपमार्थे कुलमाषांश् चिद् आहर' इत्यवकुत्सिते । 'कुलमाषाः' कुलेषु सीदन्ति ।

'नु' इत्येषोऽनेककर्मा । 'इदं नु करिष्यति' इति हेत्वपदेशे । 'कथं नु करिष्यति' इत्यनुपृष्टे । 'नन्वेनद् अकार्षीद्' इति च । अथापि उपमार्थे भवति—'वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः' (ऋ० वे० ६।२४।३) । वृक्षस्येव ते पुरुहूत शाखाः । 'वयः' शाखाः वेतेः, वातायनाभवन्ति । 'शाखाः' खशयाः शक्नोतेर् वा ।

अनुवाद—उन (तीन प्रकार के निपातों) में से ये चार निपात 'उपमा' अर्थ वाले हैं। 'इव' यह (निपात) भाषा (लौकिक संस्कृत) तथा वेद (दोनों) में (उपमा अर्थ वाला है) । जैसे = 'अग्निर् इव' (अग्नि के समान), 'इन्द्र इव' (इन्द्र के समान) ।

'न' यह (निपात) भाषा में निषेध अर्थ वाला है । (परन्तु) वेद में (इसके) दोनों (निषेध तथा उपमा) अर्थ है । जैसे: **नेन्द्रं देवम् अमंसत** (इन्द्र को देव

नहीं माना)। यहाँ 'न' प्रतिषेध अर्थ वाला है। जब (यह 'न' निपात) प्रतिषेध करता है तब उसका (प्रतिषेध) से पहले प्रयोग किया जाता है। **दुर्मदासो न सुरायाम्** (सुरा-पान किये हुये लोगों के समान) यहाँ ('न') उपमा अर्थ वाला है। जिस ('न' निपात) से उपमा अर्थ कहा जाता है उस (उपमावाचक 'न') का प्रयोग उपमान के पश्चात् किया जाता है।

'चित्' यह (निपात) अनेक अर्थ वाला है। जैसे—'आचार्यश् चिद् इदं ब्रूयात् (केवल आचार्य ही इस अभिप्राय को बता सकते हैं)। यहाँ (चित् का प्रयोग) पूजा या आदर के अर्थ में हुआ है। [आचार्य शब्द कैसे बना ?] आचार्य (विद्यार्थी में) आचार (सदाचार) को धारण कराता है, अर्थों (शास्त्रों के अभिप्रायों) का सङ्ग्रह करता है तथा (शिष्य में) बुद्धि (ज्ञान-विज्ञान) का चयन (सङ्ग्रह) करता है। 'दधिचित्' (दहि के समान)। यहाँ ('चित्') उपमा अर्थ वाला है। 'कुलमाषांश चिद् आहर' (कुलमाषों को ही लाओं, और अधिक क्या ला सकते हो ?)। यहाँ 'चित्' निन्दा अर्थ वाला है। 'कुलमाष' कुलो में नष्ट होते हैं या निकृष्ट माने जाते हैं।

'नु' यह (निपात भी) अनेक अर्थ वाला है। 'इदं नु करिष्यति' (चूँकि इस काम को करेगा इस कारण) यहाँ हेतु को कहने के लिये ('नु' का प्रयोग किया गया)। 'कथं नु करिष्यति' (अरे ? अरे वह कैसे करेगा ? यहाँ पुनः प्रश्न करने के लिये ('नु' का प्रयोग किया गया)। 'न न्वेतद् अकार्षीत्' ? क्या इस काम को पहले नहीं किया था ?) यहाँ भी (पुनः प्रश्न के अर्थ में 'नु' का प्रयोग हुआ है)। 'उपमा' अर्थ में भी 'नु' का प्रयोग होता है। जैसे—**वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः** (हे बहुस्तुत ? वृक्ष की शाखाओं के समान तुम्हारी) हे पुरुहुत ? (बहुतों के द्वारा संस्तुत) वृक्ष की शाखाओं के समान तुम्हारी (सहायतायें) 'वयाः (का अर्थ है) शाखायें। 'वी' धातु से ('वयाः' शब्द बना है)। क्योंकि (शाखायें) वातायन (हवा से चलने वाली) होती हैं। अथवा 'शक्' (धातु) से ('शाखा' शब्द बनाया जा सकता है)।

व्याख्या—यहाँ चार उपमार्थक निपातों की चर्चा की जा रही है। ये निपात हैं 'इव', 'न', 'चित्' तथा 'नु'। यद्यपि इनके अतिरिक्त कुछ और भी ऐसे निपात

हैं जिनका प्रयोग उपमा या सादृश्य अर्थ को बताने के लिये किया जाता है। जैसे—'वा' 'यथा' इत्यादि। परन्तु यहाँ उपलक्षण के रूप में केवल इन्हीं चार को प्रस्तुत किया गया है। शौनक ने भी बृहद्देवता के उपमार्थक निपातों के प्रसंग में इन्हीं चार का उल्लेख किया है। द्र०—'इव न चिन्तु चत्वार उपमार्था भवन्ति ते' (२।९०)

इव—'इव' निपात सादृश्य या उपमा के अर्थ में बहुत अधिक प्रसिद्ध है। वैदिक भाषा, लौकिक-संस्कृत भाषा तथा हिन्दी इत्यादि भाषाओं में भी इस निपात का सर्वाधिक प्रयोग 'उपमा' अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये किया जाता है। यास्क ने इसी दृष्टि से **भाषायां च अन्वध्यायं च** यह कहना आवश्यक समझा। यहाँ 'भाषा' का अर्थ है लौकिक संस्कृत भाषा तथा 'अध्याय' शब्द का अर्थ है वेद। यही 'अध्याय' शब्द **स्वाध्यायोऽध्येतव्यः** इत्यादि प्रयोगों के 'स्वाध्याय' शब्द में भी विद्यमान है। वेद के वाचक इस 'अध्याय' शब्द का सप्तमी विभक्ति के अर्थ में 'अनु' उपसर्ग के साथ 'अव्ययीभाव' समास किया गया। यह 'नित्य-समास' है। इसलिये इसका विग्रह होगा—**अध्याये इति अन्वध्यायम्** (वेद में)।

टिप्पणी—वैदिक भाषा तथा अपने समय की लौकिक संस्कृत भाषा के भेद को स्पष्ट करने के लिये यास्क ने 'भाषा' तथा 'अध्याय' इन दो शब्दों का प्रयोग यहाँ किया है। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में भी अनेक बार अपने समय में प्रयुक्त संस्कृत भाषा के लिये 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया है। 'भाषा' शब्द के इस प्रयोग से यह स्पष्ट सूचित होता है कि इन आचार्यों के समय संस्कृत भाषा सामान्यतया बोल-चाल की भाषा थी। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने समय में बोली जाने वाली, हिन्दी भाषा के लिये 'भाषा' शब्द का ठीक इसी रूप में प्रयोग किया है—

स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ-गाथां—
भाषा-निबन्धम् अतिमंजुलम् आतनोति ॥

(रामचरितमानस, मंगलाचरण श्लोक ७

न—

'न' निपात लौकिक संस्कृत तथा आजकल की हिन्दी इत्यादि भाषाओं में भी निषेध के अर्थ में ही प्रसिद्ध है। 'उपमा' के अर्थ में इस निपात का प्रयोग बाद की भाषाओं में नहीं दिखलाई देता। परन्तु वेद की भाषा में 'न' का अर्थ निषेध तो मिलता है साथ ही कुछ स्थलों पर इसका प्रयोग 'उपमा' अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये भी हुआ है। सम्भवतः 'न' की इस उपमार्थता के कारण बाद में 'न' का एक अर्थ सादृश्य भी माना गया। द्र०—

सादृश्यं तद्भावश्च तदन्यत्वं तदल्पता ।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥

साथ ही **नञ्-इव-युक्तम् अन्य सदृशाधिकरणे तथाहि अर्थगतिः** यह परिभाषा भी 'नञ्' की सादृश्यार्थता के कारण ही जन्म ले सकी।

बृहद्देवताकार का कहना है कि मिताक्षर अथवा छन्दोबद्ध ग्रन्थ ऋग्वेद में 'न' का उपमा अर्थ प्रयोग बहुत कम हुआ है। परन्तु निषेध के अर्थ में न का अधिकतर प्रयोग हुआ है। द्र०—

उपमार्थे नकारस्तु क्वचिद् एव निपात्यते ॥
मिताक्षरेषु ग्रन्थेषु प्रतिषेधे त्वनल्पशः ॥

प्रतिषेधार्थीयः—इसका विग्रह है **प्रतिषेधः एव अर्थः = प्रतिषेधार्थः । तत्र भवः प्रतिषेधार्थीयः** । अभिप्राय यह है कि प्रतिषेध अर्थ को कहने वाला 'न'। यहाँ प्रतिषेधार्थ शब्द से 'तत्रभवः' इस अर्थ में 'गृहादिभ्यश्च, (अष्टा० ४। २ १३८) सूत्र से 'छ' प्रत्यय करके 'प्रतिषेधार्थीय' शब्द बन सकता है।

निषेध अर्थ वाले 'न' के प्रयोग का उदाहरण है—**नेन्द्रं देवम् अमंसत**। इस मन्त्रांश का अन्वय है—**इन्द्रं देवं न अमंसत**। अर्थात् इन्द्र को देव नहीं माना। इस निषेध अर्थ वाले 'न' की पहचान निरुक्त में यह बताई गई कि इस 'न' का प्रयोग, जिसका प्रतिषेध करना होता है उससे, पहले किया जाता है। जैसे यहाँ 'अमंसत, से पहले 'न' प्रयोग हुआ है। क्योंकि मानने' का ही निषेध यहाँ अभीष्ट है। 'उपचार शब्द का अर्थ है प्रयोग।

उपमा अर्थ वाले 'न' के प्रयोग का उदाहरण **दुर्मदासो न सुरायाम्** अर्थात् सुरा पीने के पश्चात् उन्मत्त व्यक्ति के समान। 'दुर्मदः' शब्द के प्रथमा विभक्ति

बहुवचन में 'दुर्मदाः' के स्थान पर 'दुर्मदासः प्रयोग किया गया है। इस प्रकार के प्रयोग प्राचीन वैदिक भाषा में अधिक मिलते हैं। द्र०—'आत् जसेर् असुक्' (अष्टा० ७।१।५०)

यास्क का कहना है कि इस उपमा अर्थ वाले 'न' की स्थिति' निषेध अर्थ वाले 'न' की स्थिति से भिन्न प्रकार की है। इस 'न' का प्रयोग उपमान के पश्चात् किया जाता है जैसे—यही 'सुरायाम् दुर्मदासः न' में उपमानभूत 'दुर्मदासः' के पश्चात् न का प्रयोग किया गया है। 'उपरिष्टात्' का अर्थ है ऊपर, आगे चलकर अर्थात् बाद में। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उपमार्थक न की यह स्थिति लौकिक संस्कृत में सर्वत्र पायी जाती है। परन्तु वैदिक मन्त्रों में इसके अपवाद भी मिल जाते हैं। जैसे—**शुशुक्वान्सो न अग्नयः** (ऋग्० वे० ५।८७।६) (अग्न के समान प्रदीप्त) यहाँ उपमानभूत अग्नि के पहले ही 'न' का प्रयोग हुआ है।

चित्—'चित् यह अनेक अर्थों वाला निपात है। इसके तीन अर्थों—'आदर' 'उपमा' तथा 'निन्दा'—की दृष्टि से यहाँ उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। पूजा अथवा आदर वाले 'चित्' का उदाहरण है—'आचार्यश् चिद् इदं ब्रूयात्' अर्थात् केवल आचार्य ही इतने बुद्धिमान् हैं कि वे इस बात को कह सकते हैं—बता सकते हैं—समझा सकते हैं—अन्य कोई भी नहीं बता सकता। यहाँ 'चित्' वक्ता के हृदय में आचार्य के प्रति विद्यमान आदर तथा सम्मान की भावना को प्रकट कर रहा है। यास्क ने यहाँ वैदिक उदाहरण न देकर लौकिक संस्कृत से ही उदाहरण दिया है।

आचार्य 'आचार्य' शब्द के विषय में यास्क ने तीन वड़ी सुन्दर व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत की हैं। यह पहले कहा जा चुका है कि यास्क इस बात की परवाह नहीं करते कि व्याकरण की प्रक्रिया उनकी व्युत्पत्तियों का कहाँ तक साथ देती है वे तो एकमात्र उस शब्द से प्रकट होने वाले अर्थ को अपनी दृष्टि में रख कर उसके अनुसार अपनी व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत करते हैं। यास्क की व्युत्पत्तियों का मूल्य इसी दृष्टि से आँकना चाहिये।

पहली—व्युत्पत्ति है—**'आचार्यः आचारं ग्राहयति'** अर्थात आचार्य

वह है जो विद्यार्थी को सदाचार की शिक्षा देता है—न केवल शिक्षा ही देता है अपितु उसमें सदाचार धारण करवाता है, उसे सदाचारी बनने के लिये प्रेरित करता है। यहाँ 'ग्राहयति' इस अर्थ में 'आ' उपसर्ग पूर्वक 'च' धातु से 'ण्यत्' जैसा कोई प्रत्यय करना होगा।

दूसरी—व्युत्पत्ति है—'आचिनोति अर्थान्' अर्थात् आचार्य वह है जो शिष्य की बुद्धि में विभिन्न अर्थों—शास्त्रों के रहस्यों—का सम्यक् चयन करता है। विद्यार्थी को शास्त्रों में निष्णात बनाता है। यहाँ 'आ' उपसर्ग पूर्वक 'चि' धातु से किसी प्रकार आचार्य शब्द बनाना होगा।

तीसरी—व्युत्पत्ति है—'आचिनोति बुद्धिम् इति वा' अर्थात् आचार्य वह है जो विद्यार्थी में विविध उत्तमोत्तम बुद्धि—ज्ञान, विज्ञान, अनुभव इत्यादि —का चयन करता है, चुन चुन कर उसे अपना ज्ञान देता है। यहाँ भी पूर्ववत् 'चि' धातु से ही आचार्य शब्द बनाना होगा। वस्तुतः इस तीसरी व्युत्पत्ति में 'वा' का अर्थ 'समुच्चय' मानना चाहिये। इन तीनों व्युत्पत्तियों में आचार्य शब्द से प्रकट होने वाले अर्थ को स्पष्ट किया गया है और ये तीनों ही व्युत्पत्तियाँ मिलकर आचार्य की एक परिष्कृत परिभाषा प्रस्तुत करती हैं।

टिप्पणी—क्षीरस्वामी ने अमरकोषोद्घाटन नामक, अमरकोष की टीका में आचार्य शब्द का अर्थ 'आचरणीय' अथवा 'सेव्य' किया है। मनुस्मृति में आचार्य की निम्न परिभाषा मिलती है—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदम् अध्यापयेत् द्विजः।
संकल्पं सरहस्यं च तम् आचार्यं प्रचक्षते॥

उपमार्थक 'चित्' का उदाहरण है 'दधिचित्' अर्थात् 'दही के समान' मट्ठा इत्यादि। दुर्गाचार्य ने 'दही के समान ओदन या भात' अर्थ किया है। यास्क ने यहाँ भी लौकिक उदाहरण ही दिया है। वस्तुतः 'इव' तथा 'न' के उदाहरणों के समान यहाँ वैदिक मंत्रों से ही कोई उदाहरण देना चाहिये था। स्कन्द ने अपनी टीका के इस प्रसङ्ग में, अनेक वैदिक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। जैसे—**कुमारम् चित् पितरं वन्दमानः** (ऋ० वे० २।३३।१२) पिता को प्रणाम करते हुए कुमार के समान) इत्यादि।

'निन्दा' अर्थ वाले 'चित' का उदाहरण है—'कुल्माषांश चिद् आहर' इस वाक्य का अभिप्राय है कि और कुछ तो तुम ला नहीं सकते, चलो कुल्माष ही ला दो। कोई अच्छी भोज्य वस्तु दे सकने की शक्ति तो तुम्हारे अन्दर है नहीं, इसलिये कुल्माष ही दे दो। इस प्रकार यहाँ 'चित्' निन्दा अर्थ को प्रकट करता है। 'कुल्माष' कोई कुत्सित या सामान्यतया गरीब या निम्न कोटि के मनुष्यों द्वारा भक्ष्य, निकृष्ट अन्न प्रतीत होता है।

'कुल्माष' शब्द की व्युत्पत्ति है—'कुलेषु सीदन्ति' अर्थात् कुल्माष को 'कुल्माद' इसलिये कहा जाता है कि वे धनी कूलों में पड़े-पड़े दुखी होते हैं—नष्ट होते हैं—खाये नहीं जाते। 'कुल्माष' की व्युत्पत्ति शबर स्वामी ने 'कुत्सितान् माषान् किया है। वस्तुतः इस प्रकार के अत्यन्त रूढ़ि भूत शब्दों की व्युत्पत्ति न तो बहुत आवश्यक है और न ही बहुत सुसंगत।

टिप्पणी—कोषों में 'कुल्माष' शब्द का अर्थ आधे पके गेहूँ, चने इत्यादि मिलता है। कहीं-कहीं इसका अर्थ जौ भी मिलता है। द्र०—

अर्धस्विन्नास् तु गोधूमा अन्येऽपि चणकादयः।
कुल्माषा इति ख्याताः शब्दशास्त्रेषु पण्डितैः॥

कोषकार भरत ने 'कुलमाष' का अर्थ खिचड़ी किया है। छान्दोग्य उपनिषद् (१।१०) में एक कहानी मिलती है कि एक उषस्ति चाक्रायण नामक व्यक्ति ने किसी धनी से, जो कुल्माष खा रहा था, भोजन माँगा। उस धनी ने कहा मेरे पास तो इन कुलमाषों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यह सुनकर निर्धन ने कहा कि अच्छा इन कुल्माषों में से ही कुछ दे दो। इस कहानी से भी कुलमाष अन्न की निकृष्टता ज्ञात होती है।

निन्दा अर्थ वाले 'चित्' का उदाहरण भी यास्क ने लौकिक प्रयोगों से ही दिया है। 'वेदों में निन्दा अर्थ वाले चित्' के अनेक प्रयोग मिलते हैं। ऋग्वेद के एक ही मंत्र में हीनता के द्योतक के लिये तीन बार 'चित् का प्रयोग किया गया है। द्र०—

य उग्रेभ्यश् चिद् ओजीयान् शूरेभ्यश् चित् शूरतरः।
भूरिदाभ्यश् चिन् महीयान्॥ ऋ० वे० ६।७।१७

यहाँ 'उग्रों', 'शुरों' तथा 'भूरिदाताओं' को इन्द्र से हीन बताया गया है।

'चित्' निपात् 'समुच्चय' के अर्थ में भी मिलता है परन्तु उपलक्षण के रूप में इन 'पूजा' आदि अर्थों का ही यहाँ प्रदर्शन किया गया। वर्धमान ने अपनी गणरत्नमहोदधि में 'चित्' के 'साकल्य', 'अप्यर्थ', 'उपमान' तथा 'असंमति' ये चार अर्थ दिये हैं। (द्र० पृ० २०)

नु०—'चित्' के समान 'नु' उदाहरण है—'इदं न करिष्यति' अर्थात् चूंकि इस काम को करेगा इस कारण। इसका पूर्ण उदाहरण यह है कि जैसे किसी ने पूछा कि आज देवदत्त सुबह क्यों खाना खा रहा है? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा गया कि 'ग्रामं नु गमिष्यति' अर्थात् चूँकि वह गाँव जायगा इस कारण इतने शीघ्र भोजन कर रहा है। इस रूप में 'नु' निपात यहाँ हेतु का बोधक है।

२—पुन: प्रश्न करने के अर्थ वाले 'नु' का उदाहरण है। 'कथं नु करिष्यति' अर्थात् वह इस काम को कैसे कर लेगा? इस बात को इन शब्दों में स्पष्ट किया जा सकता है कि किसी ने किसी से पूछा कि क्या देवदत्त इस काम को कर लेगा। इसके उत्तर में सुनने वाले ने कहा कि हाँ कर लेगा परन्तु इस उत्तर को सुनने के बाद भी प्रश्नकर्त्ता को यह विश्वास नहीं हुआ कि देवदत्त इस काम को कर लेगा। इसलिये वह फिर पूछता है कि 'अरे भला देवदत्त इस काम को कैसे कर लेगा?' ('कथं नु करिष्यति') वह तो इस काम को नहीं कर सकता। पुन: प्रश्न करने के अर्थ में ही एक और उदाहरण यहाँ दिया गया—'नन्वेतद् अकार्षीत् अर्थात् क्या' उसने इस काम को नहीं किया? यहाँ 'न' प्रतिषेध अर्थ में है तथा 'नु' पुन: प्रश्न करने के अर्थ में है। इस बात को स्पष्ट रूप से यों कहा जा सकता है कि जैसे देवदत्त अपने घर से अन्यत्र किसी गाँव गया। इसके जाने के बाद किसी पड़ोसी ने आकर पूछा कि क्या देवदत्त कहीं गया हुआ है, तो उसे उत्तर मिला 'हाँ'—कुछ समय बाद वही व्यक्ति देवदत्त को गाँव में ही देखता है, तो आश्चर्य के साथ वह पूछ बैठता है—क्या देवदत्त गाँव में नहीं गया था? (ननु देवदतो ग्रामम् अगमत्") इसी प्रकार का अर्थ 'नन्वेतद् अकार्षीत्' का भी अभीष्ट है। 'अनुपृष्ट का अर्थ है 'पृष्टस्य पुनर् उक्ति' दुबारा प्रश्न पूछना। स्कन्द ने अनुपृष्ट का अर्थ केवल प्रश्न किया है तथा उसी तरह इन वाक्यों की संगति लगायी है।

उपमा अर्थ वाले 'नु' का उदाहरण है **वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वया व्यूतयो रुरुहुर् इन्द्र पूर्वीः** इस मन्त्रांश का अन्वय है—**हे पुरुहूत इन्द्र वृक्षस्य वया नु ते पुर्वी ऊतयः वि रुरुहुः** अर्थात् बहुतों के द्वारा पुकारे गये हे इन्द्र वृक्ष की शाखाओं के समान तुम्हारी प्राचीन सहायताएँ विविध रूपों में फैली हुई हैं—व्याप्त हैं। यास्क ने केवल **वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः** इतना ही अंश उद्धृत किया है तथा अपने शब्दों में इसका अर्थ किया है—'वृक्षस्य इव ते पुरुहूत शाखाः' अर्थात् 'हे पुरुहूत इन्द्र वृक्ष की शाखाओं के समान तुम्हारी (सहायताएँ), यास्क की यह शैली है कि वे मन्त्र या व्याख्येय अंश का क्रम तोड़े बिना ही व्याख्या करने का प्रयास करते हैं। इसलिये यहाँ 'नु' के स्थान पर 'इव' तथा '**वया**' के स्थान पर 'शाखाः' शब्द का प्रयोग करके वे आगे बढ़ गये।

'वया' शब्द के जहाँ अनेक अर्थ हैं वहाँ 'शाखा' का भी एक अर्थ है। इस मन्त्र में 'वृक्ष' शब्द के प्रयोग से 'वया' का अर्थ शाखायें निश्चित हो जाता है। यास्क के अनुसार 'वया' शब्द 'वी' धातु से निष्पन्न है। 'वी' का अर्थ 'गति' इत्यादि। शाखाओं को 'वया' इसलिये कहा जाता है कि उनके बीच से वायु इधर उधर आती जाती है। ('वातायना भवन्ति')। अथवा वे स्वयं वायु से हिलती रहती हैं।

'**वया**' के पर्यायभूत 'शाखा' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए यास्क कहते हैं—'शाखाः खशया' अर्थात् शाखा को शाखा इसलिये कहते हैं वह आकाश में शयन करती है—रहती है। इसलिये 'खे+शयाः=खशयाः' का वर्ण विपर्यय इत्यादि होकर 'शाखा' शब्द बन गया। 'शाखा' शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति 'शक्' धातु से की गयी। अर्थात् 'शका' से 'शाखा' बना। शाखायें फल फूल पत्ते इत्यादि तथा पक्षी इत्यादि को धारण करने में समर्थ हैं इसलिये उन्हें 'शाखा' कहा जाता है।

टिप्पणी—उपमार्थक 'नु' का प्रयोग लौकिक संस्कृत में प्रायः नहीं मिलता। शिशुपालवध (१०।१४) के 'क्षालितं नु शमितं नु वधूनां द्रावितं नु हृदयं मधुवारैः' इस श्लोक में मल्लिनाथ ने 'नु' को उत्प्रेक्षावाचक माना है—'उत्प्रेक्षा त्रयं नु शब्दानुवृत्तेः। किरात, (९।१५) के 'रंजिता नु विविधास् तरु-शैला नमितं नु

गगनं स्थापितं 'नु' में भी उत्प्रेक्षा मानी जाती है। वर्धमान ने गण-रत्न-महोदधि (पृ० ८-९) में 'नु' के प्रश्न, 'प्रतिवचन', 'उपमान,' 'वितर्क,' 'उत्प्रेक्षा,' 'विशद, तथा 'पदपूरण' अर्थों वाला माना है।

इस प्रकार उपमा अर्थों वाले निपातों का प्रदर्शन करते हुए 'इव', 'न', 'चित्' तथा 'नु' के अर्थों तथा उदाहरणों की चर्चा की गई।' 'चित्' तथा 'नु' के अर्थों तथा उदाहरणों की चर्चा की गई। 'चित्' तथा 'नु' के अन्य अर्थ जो यहाँ दिखाए गए तथा बीच-बीच में जो रूढ़ि शब्दों के निर्वचनों का प्रदर्शन किया गया उससे इन दोनों निपातों की उपमार्थता कुछ दब सी गई है।

'कर्मोपसंग्रह' की परिभाषा

सूल—अथ यस्यागमाद् अर्थ-पृथक्त्वम् अह विज्ञायते न त्वौद्देशिकम् इव विग्रहेण पृथक्त्वात् स कर्मोपसंग्रहः।

अनुवाद—जिस निपात के आ जाने से अर्थ पृथक् रूप में तो ज्ञात होता है परन्तु वह उद्दिष्ट (साक्षात् निर्दिष्ट) अर्थ के समान नहीं होता। क्योंकि उद्दिष्ट अर्थ में) विग्रह (रूप) की भिन्नता होती है।

व्याख्या—ऊपर इस प्रकरण के प्रारम्भ में यह कहा गया है कि निपात तीन प्रकार के होते हैं जिनमें से प्रथम प्रकार अर्थात् उपमा अर्थ वाले निपातों का प्रदर्शन किया जा चुका, अब दूसरे प्रकार के निपातों की चर्चा की जा रही है। इन निपातों का अर्थ 'कर्मोपसंग्रह' अथवा 'अर्थोपसंग्रह' है। अर्थात् ये निपात दूसरे पदों के अर्थों के संग्राहक होते हैं।

'कर्मोपसंग्रह' की परिभाषा यास्क ने जिस वाक्य में दी है उसे भिन्न-भिन्न टीकाकारों और व्याख्याकारों ने भिन्न-भिन्न रूप में समझा है। दुर्गाचार्य की व्याख्या के अनुसार वे निपात जिनके, समास के दो या अनेक पदों के मध्य में, आ जाने से कथित अर्थों अथवा वस्तुओं की निश्चित रूप से भिन्नता ज्ञात हो वह 'कर्मोपसंग्रह' है। यद्यपि उन वस्तुओं की भिन्नता कही नहीं गई है परन्तु समास के विग्रह (विश्लेषण) से जानी गई है। जैसे—'देवदत्त-यज्ञदत्तौ' यह समस्त शब्द है। इसका विग्रह किया जायगा 'देवदत्तश्च-यज्ञदत्तश्च' यहाँ 'च' निपात के द्वारा विग्रह करने के कारण देवदत्त तथा यज्ञदत्त रूप अर्थों की

पृथक्ता ज्ञात होती हैं । यह उदाहरण विरूप समास का है । स्वरूप समास का उदाहरण है—'पुरुषौ' या 'पुरुषाः' इनका विग्रह होगा 'पुरुषश्च पुरुषश्च इति पुरुषौ' तथा 'पुरुषश्च पुरुषश्च पुरुषश्च इति पुरुषाः' यहाँ भी च के साथ विग्रह किये जाने के कारण पुरुष रूप अर्थों की भिन्नता ज्ञात होती है इसी तरह एकशेष का उदाहरण है 'पितरौ' तथा इसका विग्रह है—'माता च पिता च'। कहीं-कहीं तात्पर्य की दृष्टि से भी पृथक्ता की प्रतीति होती है जैसे—'बृहस्पतिश्च' यहाँ बृहस्पति के साथ प्रजापति जैसे किसी अन्य अर्थ की भी प्रतीति होती है। इस प्रकार 'च' निपात के आजाने से, विग्रह के द्वारा पृथक् होने के कारण, वस्तुओं या व्यक्तियों की भिन्नता ज्ञात तो होती है; परन्तु यह भिन्नता औद्देशिक नहीं होती। अर्थात् यह भिन्नता उस प्रकार की नहीं होती जबकि प्रत्येक वस्तु अलग-अलग पहले से ही कथित रहती है। जैसे—'गायों को, अश्वों को, पुरुषों को, पशुओं को लाओ'। इस वाक्य में प्रत्येक वाणी को अलग-अलग कहा गया है। इस तरह समास के पदों में विग्रह वाक्य में च निपात के आ जाने के कारण वस्तुओं की भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीति होती है। ऐसे निपातों को 'कर्मोपसंग्रह' अर्थ वाले निपात मानना चाहिए।

परन्तु दुर्गाचार्य की यह व्याख्या उचित नहीं प्रतीत होती, क्योंकि इस प्रकरण में आगे जिन निपातों का उल्लेख किया जा रहा है, उनका समास के विग्रह से कोई सम्बन्ध नहीं है। 'द्वन्द्व' समास के विग्रह में केवल 'च' निपात का ही प्रयोग होता है। परन्तु इस 'कर्मोपसंग्रह' के प्रकरण में 'वा' 'आ' आदि का भी प्रदर्शन हुआ है जिनकी कोई सगति दुर्गाचार्य की व्याख्या के अनुसार नहीं लगती। इसीलिए आचार्य स्कन्द ने संभवतः इस व्याख्या को अनुचित समझते हुए, अपनी एक दूसरी व्याख्या प्रस्तुत की है।

स्कन्द की व्याख्या संक्षेप में यह है कि कुछ निपात केवल एक आश्रय में रहने वाले अर्थ के वाचक होते हैं। जैसे 'इव' आदि । उपमानत्व-रूप अर्थ के वाचक हैं जो केवल उपमान के वाचक शब्द में हो रहता है । कुछ निपात अनेक आश्रय में रहने वाले अर्थ के वाचक होते हैं। जैसे 'वा', 'च' आदि निपात। ये 'वा' 'च' आदि निपात एक आश्रय के वाचक शब्द के—केवल

एक आश्रय वाले अर्थ के—साथ सुसंगत न होने के कारण द्वितीय आश्रय का आक्षेप कर लेते हैं, क्योंकि द्वितीय आश्रय के बिना समुच्चय जैसे अर्थ का ज्ञान हो ही नहीं सकता। इस प्रकार आक्षिप्त हुआ यह द्वितीय अर्थ कहीं शब्दों के द्वारा ही कथित होता है। जैसे 'अहं च त्वं च' तथा कहीं नहीं भी कथित होता, जैसे 'इन्द्रश्च विष्णो यद् अपस्पृधेथाम्'। परन्तु इन दोनों तरह के स्थलों में समुच्चय अर्थ वाले द्वितीय आश्रय के आक्षेपक 'च' निपात का प्रयोग होने के कारण इस 'च' को कर्मोपसंग्रह निपात माना जाता है।

कर्म का अभिप्राय है 'अर्थ', अर्थात् द्वितीय आश्रय। वह जिसके द्वारा उपसंगृहीत, अर्थात् आक्षिप्त होता है, वह कर्मोपसंग्रह है। **कर्म उपसंग्रहो यस्य स कर्मोपसंग्रहः**। 'कर्मोपसंग्रह' शब्द की इस व्याख्या की पृष्ठभूमि में यास्क की उपर्युक्त पंक्ति का अर्थ होगा—जिस निपात के प्रयोग से पृथक्भूत अर्थ अर्थात् समुच्चय आदि का द्वितीय आश्रय, प्रथम आश्रय से भिन्न रूप में, ज्ञात होता ही है। अभिप्राय यह है कि, चाहे द्वितीय आश्रय शब्द द्वारा कथित हो (जैसे—'अहं च त्वं च') अथवा न कथित हो (जैसे 'इन्द्रश्च विष्णो० में'), दोनों ही स्थितियों में समुच्चय के दोनों आश्रयों का ज्ञान होता ही है। परन्तु यह पृथग्भूत अर्थ अथवा द्वितीय आश्रय का जो ज्ञान होता है, वह औद्देशिक भिन्न-भिन्न अर्थों को कहा जाता है, तब जिस प्रकार भिन्न-भिन्न रूप में अर्थों का ज्ञान होता है, उस रूप में यहाँ ज्ञान नहीं होता। इसका कारण यह है कि 'विग्रह' अर्थात् 'रूप' 'स्वरूप दोनों स्थितियों में भिन्न-भिन्न होता है। जब अलग-अलग शब्दों का प्रयोग होता है तब तो वह द्वितीय आश्रय अभिधेय के रूप में प्रकट होता है। पर जब 'च' के द्वारा उसे कहा जाता है तब वह समुच्चय के द्वितीय आश्रय के रूप में प्रकट होता है।

स्कन्द ने अपनी व्याख्या में 'अर्थपृथक्त्वम्' इस 'भाव-प्रत्ययान्त' शब्द को 'तद्वान्' अर्थात् 'पृथग्भूत अर्थ' को कहने के लिये प्रयुक्त माना है। उनके अनुसार 'अर्थपृथक्त्वम्' का अभिप्राय है 'पृथग्भूत अर्थ'। इसी को वे समुच्चय का द्वितीय आश्रय कहते हैं। उनके अनुसार 'औद्देशिक' का अर्थ है 'अभिधेय'। 'उद्देश' का अर्थ है 'शब्द'। 'उद्दिशति अर्थम् इति उपदेशः' अर्थात् जो अर्थ

को कहता है। 'उद्देशे भवः औद्देशिकः' शब्द में रहने वाला अर्थात् शब्द से कथित — शब्द का अभिधेयभूत अर्थ।

'कर्मोपसंग्रह' के प्रकरण में जिन निपातों की चर्चा हुई है। उन्हें देखने से स्कन्द की यह व्याख्या तथा 'कर्मोपसंग्रह' की परिभाषा सर्वथा उचित प्रतीत होती है।

टिप्पणी—प्रो० गुणे ने इस स्थल को संभवतः समझा ही नहीं क्योंकि उन्होंने 'कर्मोपसंग्रह' का अर्थ किया है 'तरह-तरह के अथवा विविध प्रकार के अर्थ'। उनका कहना है चूँकि तीन ही प्रकार के निपात यास्क ने माने हैं तथा प्रथम प्रकार के निपातों की चर्चा इससे पहले हो चुकी है इसलिये तीसरे प्रकार के अर्थात् 'पद-पूरण' निपातों की चर्चा से पहले 'त्वत्' तक जितने भी निपात प्रदर्शित हुए हैं उन सारे निपातों को यास्क ने इस 'कर्मोपसंग्रह' शब्द द्वारा समेटना चाहा है। वे यास्क की पंक्ति का अर्थ करते हैं कि 'कर्मोपसंग्रह' निपातों के द्वारा विविध अर्थों का ज्ञान होता है। परन्तु पदार्थों के पृथक्-पृथक् गिनाने के समान यह ज्ञान नहीं होता; फिर भी 'विग्रह' की पृथक्ता, अर्थात् निपातों के अलग-अलग प्रदर्शन, के कारण ये निपात विविध अर्थ वाले हैं इस बात का निश्चित ज्ञान होता है (द्र०—Indian Antiquary, Vol XLV, PP. 159—60)

प्रो० वी के० राजवाड़े ने 'कर्मोपसंग्रह' के अभिप्राय को तो अच्छी तरह समझा है परन्तु वे भी 'न त्वौद्देशिकम् इव विग्रहेण पृथक्त्वात्' की संगति नहीं लगा सके और संगति न लगने के कारण ही इस अंश को उन्होंने प्रक्षिप्त मानना चाहा है।

इस 'कर्मोपसंग्रह' के प्रकरण में समुच्चय अर्थ वाले 'च', 'वा', 'आ' के प्रदर्शन के उपरान्त यास्क ने बहुत से ऐसे भी निपात प्रस्तुत किये हैं जिन्हें 'कर्मोपसंग्रह' नहीं माना जा सकता, जैसे 'हि' इत्यादि, जो पदार्थों के समुच्चायक न होकर उन्हें अलग-अलग करने वाले हैं। प्रो० राजवाडे का यह कथन (पृ० २३७) सर्वथा उचित है कि कर्मोपसंग्रह निपातों के प्रदर्शन के उपरान्त अन्य अर्थ वाले निपातों का 'अपि अन्यार्थेषु' कहकर एक अलग

प्रकरण आरम्भ करके उसमें इन 'हि' इत्यादि निपातों की चर्चा की जानी चाहिये थी। स्कन्द ने भी 'हि' निपात से पहले-पहले के निपातों को ही कर्मोपसंग्रहार्थीय माना है। द्र०—**एवम् एते कर्मोपसंग्रहार्थीयाः षण् णिपाता उक्ताः। इदानीं 'हि' इत्यादीनां 'स्वीम्'—पर्यन्तानां तावत् सप्तानां निपातानाम् अकर्मोपसंग्रहार्थीयानां प्रसंगेनार्था उच्यन्ते** (निरुक्त स्कन्द टीका भाग १ पृष्ठ ६१) इसका कारण यह है कि 'हि' इत्यादि निपात अनेक आश्रय में रहने वाले धर्म या अर्थ के वाचक नहीं हैं।

कर्मोपसंग्रहार्थीय निपातः

मूल—'च' इति समुच्चयार्थं उभाभ्यां सम्प्रयुज्यते। **'अहं च त्वं च वृत्रहन्** (ऋ० वे० ८।६२।५१) इति।

एतस्मिन्नेवार्थे **'देवेभ्यश्च पितृभ्य आ'** (ऋ०वे० १०।१६।११) इति 'आकारः'।

'वा' इति विचारणार्थे। **'हन्ताहं पृथिवीम् इमां निदधनानीह वेह वा'** (ऋ० वे० १०।११६।६) इति। अथापि समुच्चयार्थे भवति **'वायुर् वा त्वा मनुर् वा त्वा'** (तैत्तिरीय संहिता १।७।७।२) इति।

'अह' इति च **'ह'** इति च विनिग्रहार्थीयौ पूर्वेण सम्प्रयुज्येते **'अयम् अह इदं करोतु, अयम् इदम्'**। **'इदं ह करिष्यति, इदं न करिष्यति'** इति।

अथापि 'उकार' एतस्मिन्नेवार्थे उत्तरेण। **'मृषेमे वदन्ति, सत्यम उ ते वदन्ति'** इति। अथापि पद-पूरणः—**'इदम उ'** (ऋ० वे० ४।५१।१), 'तद् उ' (ऋ० वे० १।६२।६)।

अनुवाद—'समुच्चय' अर्थ वाला 'च' (कभी-कभी) दोनों (समुच्चीय-मान शब्दों) के साथ प्रयुक्त होता है जैसे अहं च त्वं च वृत्रहन् **(हे वृत्रहन्ता ! मैं और तुम दोनों)।**

इसी (समुच्चय) अर्थ में देवेभ्यश्च पितृभ्य आ (देवताओं तथा पितरों के लिए) यहाँ 'आकार' (आ) का प्रयोग हुआ है।

'वा' निपात हन्ताहं पृथिवीम् इमां निदधानीह वेह वा (अरे ! इस पृथ्वी को यहाँ उठा कर रख दूँ या वहाँ) यहाँ सन्देह (एक प्रकार का अनिश्चय अथवा विकल्प के अर्थ में तथा वायुर् वा त्वा मनुर् वा त्वा (वायु और मनु तुम को) इस मन्त्रांश में समुच्चय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

नियम अर्थ वाले 'अह' तथा 'हि' निपात (प्रस्तुत दो वाक्यों में से) पहले (वाक्य) के साथ प्रयुक्त होते हैं। ('अह' का उदाहरण) 'अयम् अह इदं करोतु' (यह ही इस काम को करें और यह दूसरा व्यक्ति इस दूसरे काम को करे) तथा ('ह' का उदाहरण) इदं ह करिष्यति इदं न करिष्यति (वह इसी काम को करेगा, इस दूसरे काम को नहीं)।

इसी (नियम अथवा विनिग्रह) अर्थ में 'उ' (निपात) का (प्रस्तुत दो वाक्यों में से) दूसरे वाक्य के साथ प्रयोग होता है। जैसे 'मृषे ये वदन्ति, सत्यम उ ते वदन्ति' (ये झूठ बोलते हैं केवल वे सत्य बोलते हैं)। पद-पूर्ति के लिये भी ('उ' निपात) प्रयुक्त होता है। जैसे 'इदम् उ' 'तद् उ'।

व्याख्या—

च—'समुच्चयार्थः शब्द का विग्रह है **समुच्चय अर्थो यस्य स समुच्चयर्थः**। अर्थात् 'च' का अर्थ है दो या दो से अधिक वस्तुओं को एक साथ प्रस्तुत करना। अपनी इस समुच्चयार्थकता के कारण 'च' को कर्मोपसंग्रहार्थीय निपात माना जाता है।

'उभाभ्याम् सम्प्रयुज्यते' का अभिप्राय है कि 'च' का प्रयोग उन दोनों शब्दों के साथ किया जाता है, जिनके अर्थों का समुच्चय 'च' निपात से अभीष्ट होता है। जैसे—उदाहृत मन्त्रांश में 'अहम्' तथा 'त्वम्' दोनों के साथ 'च' का प्रयोग हुआ है। यास्क का यह कथन ऐकान्तिक है—यह आवश्यक नहीं है कि सर्वत्र 'च' का प्रयोग दोनों शब्दों के साथ किया जाय। लौकिक संस्कृत में तो प्रायः सदा ही 'च' का प्रयोग एक बार ही होता है। वैदिक मन्त्रों में भी ऐसे अनेक स्थान मिलते हैं जहाँ 'च' का प्रयोग एक बार ही हुआ है। जैसे

ऋग्वेद ६।६१।८ तथा ७।३०।४ में एक बार ही 'च' का प्रयोग किया गया है। यह अवश्य है कि यास्क ने प्राय: दोनों ही समुच्चयीमान अर्थ वाले शब्दों के साथ 'च' का प्रयोग किया है। जैसे—**विचिकित्सार्थीयश् च पदपूरणाश् च** तथा '**अह' इति च 'ह' इति च विनिग्रहार्थीयौ**।

वा—यहाँ वा' के दो अर्थों 'विकल्प' तथा 'समुच्चय' का प्रदर्शन करते हुये दो उदाहरण दिये गये हैं। परन्तु इन अर्थों से भिन्न 'उपमान' अर्थ में भी 'वा' का प्रयोग होता है। महाभारत के उपमान के अर्थ 'वा' के उदाहरण द्रष्टव्य हैं। 'अ थ', 'उत', 'किम्', 'यद्' तथा 'यदि' के साथ संयुक्त होकर 'वा' कुछ अन्य निपातों की सृष्टि करता है। जैसे—'अथवा', 'उतवा', 'किंवा', 'यद्वा' तथा 'यदिवा' वाचस्पत्यम् कोष में 'वा' के 'विकल्प', 'सादृश्य' 'अवधारण' तथा 'समुच्चय' ये चार अर्थ दिये गये हैं।

'अह' और 'ह'—'अह' तथा 'ह' निपात नियमार्थक हैं। 'विनिग्रह' का अर्थ 'नियम' जैसे दो आदमियों में कार्य के विभाजन की दृष्टि से यह नियम करना कि देवदत्त इस काम को करेगा तथा यज्ञदत्त इस काम को। ऐसे स्थलों में 'अह' का प्रयोग प्रथम वाक्य के साथ होगा। इसी तरह दो या अनेक कार्यों में जब यह कहना हो कि यह व्यक्ति केवल इसी कार्य को करेगा—अन्य कार्य नहीं करेगा—तब भी पहले वाक्य के साथ 'ह' का प्रयोग किया जायगा। ऊपर दोनों के उदाहरण दिये जा चुके हैं।

स्कन्द ने 'अह' का वैदिक उदाहरण—**आदह स्वधाम् अनु पुनर् गर्भत्वम् एरिरे** (ऋ० वे० १।६।४) दिया गया है जहाँ 'अह' एव अर्थ वाला है तथा 'आद् अह' का अर्थ है 'अनन्तरम् एव' इसी प्रकार 'ह' का उदाहरण है **नाकस्य पृष्ठे वा प्रीणाति स ह देवेषु गच्छति** (ऋ० वे० १।१२।५) यहाँ 'स ह' का अर्थ है 'स एव'।

उ—'अह' तथा 'ह' के समान 'उ' भी नियम अर्थ वाला है। परन्तु 'उ' का प्रयोग प्रस्तुत वाक्यों में 'अह' और 'ह' के समान पूर्व वाक्य में न होकर बाद वाले वाक्य के साथ हुआ करता है।

विनिग्रह अथवा नियम अर्थ वाले 'उ' का उदाहरण है '**तम् उ ऋषि तम् उ ब्रह्माणम् आहुः**' (ऋ० वे० १०।१०७।६) मन्त्र में मिलता है।

'उ' निपात का प्रयोग पद-पूर्ति के लिये भी होता है। यद्यपि पद-पूर्ति की दृष्टि से प्रयुक्त होने वाले निपातों का प्रदर्शन यास्क बाद में करेंगे। यहाँ प्रसंगतः 'उ' के पद-पूरणार्थक होने वाली बात कह दी गई। 'उ' निपात का पद-पूरणार्थ किये गये प्रयोग के उदाहरण के रूप में यास्क ने **इदम् उत्यत् पुरुतमं पुरस्ताज् ज्योतिः** (यह, वह प्रसिद्ध एवं विविधरूपा उषा प्राची दिशा में उपस्थित हुई, तथा **तद् उप्रयक्षतमम् अस्य कर्म** (इस इन्द्र का वह प्रपूज्यतम् कार्य) इन मंत्रों की ओर संकेत किया है। यास्क की दृष्टि में इन दोनों स्थलों पर 'उ' केवत पद-पूर्ति के लिये प्रयुक्त हुआ है। परन्तु इन दोनों ही स्थलों में 'उ' का एक विशेष अर्थ प्रतीत होता है और वह है एक प्रकार का नियमन करना अथवा जोर देकर कहना। जैसे यहाँ क्रमशः यह अर्थ है कि 'यही वह प्रसिद्ध उषा' तथा इस इन्द्र का वही पूज्यतम् कर्म उ के प्रयोग से यहाँ के अभिप्राय में एक विशेष बल आ जाता है। इसलिये 'उ' को मेक्डानल आदि Emphatic particle मानते हैं।

टिप्पणी—अब तक 'कर्मोपसंग्रह' अर्थ वाले 'च', 'वा' 'आ' 'अह' 'ह' तथा 'उ' इन छः निपातों की चर्चा हुई। 'च' आदि प्रथम तीन तो अपनी समुच्चयार्थकता के कारण स्पष्ट कर्मोपसंग्रह अर्थ वाले हैं। शेष तीन 'अह', 'ह' तथा 'उ' अपने विनिग्रह अथवा नियम रूप अर्थ के कारण 'कर्मोपसंग्रह' अर्थ वाले बन जाते हैं, क्योंकि जब भी किसी वस्तु या व्यक्ति के साथ 'एव' का अर्थ उपस्थित होगा तो वहाँ वह दूसरा अर्थ भी अवश्य उपस्थित होगा जिसकी निवृत्ति अथवा निवारण वक्ता को अभिप्रेत है।

कुछ अन्य निपात

मूल—'हि' इत्येषोऽनेककर्मा। 'इदं हि करिष्यति' इति हेत्वपदेशे। 'कथं हि करिष्यति' इत्यनुपृष्टे। 'कथं हि व्याकरिष्यति' इत्यसूयायाम्।

'किल' इति विद्या-प्रकर्षे। 'एवं किल' इति। अथापि 'न' 'ननु' इत्येताभ्यां सम्प्रयुज्यतेऽनुपृष्टे। 'न किल एवम्', 'ननु किल एवम्'।

'मा' इति प्रतिषेधे। 'मा' 'कार्षीः' 'मा हार्षीः' इति च।

'खलु' इति च। 'खलु कृत्वा', 'खलु कृतम्'। अथापि पदपूरणः। 'एवं खलु तद् बभूव' इति।

'शाश्वत्' इति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्। 'शश्वद् एवम्' इत्युनुपृष्टे। 'एवं शाश्वत्' इत्यस्वयंपृष्टे।

अनुवाद—'हि' यह (निपात) अनेक अर्थों वाला है। 'इदं हि करिष्यति' (चूँकि इस कार्य को करेगा) यहाँ हेतु को कहने के लिये ('हि' का प्रयोग किया गया), 'कथं हि करिष्यति' (वह भला कैसे कर लेगा?) यहाँ दुबारा पुनः प्रश्न करने के अर्थ में तथा 'कार्यं हि व्याकरिष्यति' (वह कैसे उत्तर दे देगा ?) यहाँ असूया (ईर्ष्या) के अर्थ में ('हि' का प्रयोग हुआ है)।

'किल' यह (निपात) निश्चित ज्ञान को बताने के लिये प्रयुक्त होता है। जैसे 'एवं किल' (यह बात ऐसी ही है)। इसके अतिरिक्त पुनः प्रश्न करने में भी 'न' 'ननु' इन दो (निपातों) के साथ (किल) प्रयुक्त होता है। जैसे 'न किलैवम्' ? 'ननु किलैवम्' ?

'मा' यह (निपात) प्रतिषेध के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसे—'मा कार्षीः' (मत कर), 'मा हार्षीः' (मत छीन)।

'खलु' यह (निपात) भी प्रतिषेध के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसे—'खलु कृत्वा' (न करो), 'खलु कृतम्' (नहीं किया)। इसके अतिरिक्त पदपूरणार्थ भी ('खलु') प्रयुक्त होता है। जैसे—'एवं खलु तद् बभूव' (वह ऐसे हुआ)।

'शश्वत्' यह (निपात) भाषा में 'निश्चय' अर्थ वाला है। जैसे—'शश्वत् एवम् ?' (क्या निश्चित ही ऐसा है ?) यहाँ ('शश्वत्' का से 'एवम्' से पूर्व प्रयोग) पुनः प्रश्न करने के अर्थ में है। 'एवं शश्वत्' (हाँ निश्चित रूप से ऐसा ही है) यहाँ ('शश्वत्' का 'एवम्' के पश्चात् प्रयोग) दूसरे के द्वारा पूछे जाने पर (उत्तर के रूप में) हुआ है।

व्याख्या—अब 'हि' से लेकर 'सीम्' तक ऐसे निपातों की चर्चा की जा रही है, जो कर्मोपसंग्रहार्थीय नहीं हैं। निपातों का प्रसङ्ग होने के कारण तथा उप-

मार्थीय एवं पद पूरणार्थक न होने के कारण इन निपातों की चर्चा करना सम्भवतः यहाँ आवश्यक समझा गया।

हि—'हेत्वपदेश' तथा 'अनुपृष्ट' की व्याख्या पहले 'नु' के प्रसङ्ग में की जा चुकी है। वहाँ भी इसी प्रकार के उदाहरण दिये गये हैं। 'व्याकरिष्यति' का अर्थ राजवाड़े ने 'पूरा करना' किया है। परन्तु स्कन्द ने इसका अर्थ 'व्याख्या करना' अथवा 'समाधान देना' इत्यादि किया है। 'असूया' का अर्थ है किसी योग्यता या अथवा शक्ति के विषय में जानकर उसे सहन न कर पाना तथा उसकी अनावश्यक या असत्य निन्दा करना। जैसे—देवदत्त के विषय मे किसी ने कहा 'अरे वह तो कल सभा में इन प्रश्नों का उत्तर देगा'। इस बात को सहन न करते हुए असूयावश यज्ञदत्त कहता है कि वह मूर्ख देवदत्त भला इन प्रश्नों का उत्तर या समाधान कैसे दे सकता है। द्र०—देवदत्तः सभायां प्रश्नान् व्याकरिष्यति इत्युक्तः असमभाणः कश्चिद् आह कथं हि व्याकरिष्यति अकृतविद्यः। स्कन्द भाष्य, प्रथम भाग, पृ० ६२।

टिप्पणी—प्रो० राजवाड़े ने 'इदं हि करिष्यति', 'कथं हि करिष्य ति' तथा 'कथं हि व्याकरिष्यति' इन तीनों वाक्यों को एक साथ रख कर 'व्याकरिष्यति' का अर्थ 'कार्य को पूरा करना' किया है और 'करिष्यति' तथा 'व्याकरिष्यति' के अन्तर को इसी रूप में स्पष्ट करना चाहा है। परन्तु स्कन्द ने इस वाक्य को अन्य दोनों से अलग करके इसे 'असूया' अर्थ वाले 'हि' का उदाहरण माना है।

'हेतु के कथन' के लिये 'हि' के प्रयोग की दृष्टि से स्कन्द ने इन्द्र वायु इमे सुताः उपप्रयोभिर् आगतम्। इन्दवो वाम् उशन्ति हि (ऋ० वे० १।२।४) इस वैदिक मन्त्र का उदाहरण दिया है।

किल—'विद्या प्रकर्ष' का अभिप्राय है ज्ञान की अधिकता अथवा निश्चित-रूपता। अमरकोश में 'किल' के 'वार्ता' तथा 'सम्भावता' में दो अर्थ माने गये हैं। यहाँ 'वार्ता' का अभिप्राय है भी 'विद्या-प्रकर्ष' ही है परन्तु 'विद्या' 'प्रकर्ष' के साथ साथ 'ऐतिह्म्' अर्थात् प्राचीन घटना या इतिवृत्त भी 'वार्ता का अर्थ है। 'जघान कंसं किल वासुदेवः' इत्यादि 'किल' के उदाहरण इस दृष्टि से द्रष्टव्य हैं।

स्कन्द ने 'विद्या-प्रकर्ष' का अर्थ सम्भावनापरक किया है। द्र०— **किन्तर्हि विद्या प्रकर्षः ? अन्यस्थत्वम्। अन्यैर् एतद् उपलब्धम्। मया तेभ्यः श्रुतम्। न स्वयम् उपलब्धम् इत्ययम् अर्थो विद्याप्रकर्षः** (स्कन्द भाष्य, भा० १; पृ० ६२)।

'किल' के वैदिक प्रयोगों की दृष्टि से निम्न उदाहरण द्रष्टव्य हैं— १—**स्वादुष्किलायं मधुमां उतायं तीव्रः किलायं रसवां उतायम्।** ऋ० वे० ६।४७।१

२—**तादीत्ना शत्रुं न किलाविवित्से।** ऋ० वे० १।३२।८

पुनः प्रश्न करने के अर्थ में भी 'न' अथवा 'ननु' निपातों के साथ 'किल' का प्रयोग होता है। जैसे—'क्या यह बात ऐसी नहीं है'? यह कहने के लिये 'न किल एवम्' तथा इसी प्रकार 'क्या यह बात ऐसी है'? यह कहने के लिये 'ननु किल एवम् ?' इत्यादि प्रयोग होते हैं।

मा तथा खलु—'मा' निपात 'निषेध' अर्थ में वैदिक तथा लौकिक दोनों प्रकार की संस्कृत भाषाओं में बहुत प्रसिद्ध है वैदिक प्रयोगों की दृष्टि से **मानो वधीः पितरं मोत मातरम्** (ऋ० वे० १।१०४।८) इत्यादि द्रष्टव्य है।

खलु निपात लौकिक संस्कृत में 'निषेध' के अर्थ में प्रसिद्ध है। पाणिनि के सूत्र 'अलङ्खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचांक्त्वा' (अष्टा० ३।४।१८) से भी इस बात की पुष्टि होती है तथा अमरकोश में भी 'खलु' के 'निषेध', वाक्यालंकार', 'जिज्ञासा' तथा 'अनुभव' अर्थ बताये गये हैं। यास्क ने यहाँ केवल 'निषेध' तथा 'पदपूरण' या दूसरे शब्दों में 'वाक्यालंकार' अर्थ का उल्लेख किया है।

परन्तु ऋग्वेद में केवल एक मन्त्र—'**मित्रं कृणुध्वं खलु०**' (ऋ० वे० १०।३४।१४) में 'खलु' का प्रयोग हुआ है। स्कन्द ने यहाँ 'खलु' को पद-पूर्णार्थक माना है। मैक्डानल 'खलु' को यहाँ जोर डालने वाला (emphatic particle) मानता है। द्र०–वैदिक ग्रामर (पृ० २२७)। 'प्रतिषेध' अर्थ में 'खलु' का प्रयोग वेदों में नहीं मिलता।

शश्वत्—यास्क ने भाषा में 'शश्वत्' निपात को 'विचिकित्सा अर्थ वाला माना है। उपनिषदों में 'विचिकित्सा' शब्द का प्रयोग सन्देह के अर्थ में हुआ

है । द्र०—**येऽयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये** (कठोपनिषद १।२०) तथा **यदि ते कर्म विचिकित्सा वा वृतिविचिकित्सा वा स्यात्** (तैत्तिरीयो० पृ० १।११।३)। अमरकोश आदि में भी इसका अर्थ 'संशय' ही मिलता है । द्र०—**विचिकित्सा तु संशयः** (अमरकोश १।५।३) । 'शश्वत्' का 'सन्देह' अर्थ में कहीं भी प्रयोग नहीं मिलता । परन्तु दुर्ग तथा स्कन्द का विचार है कि 'शश्वद् '**इति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्**' इस पंक्ति में 'विचिकित्सा' का अर्थ संशय' या 'सन्देह' न होकर 'विवेक पूर्वक अवधारण' अथवा निश्चय है । व्याकरण की प्रक्रिया के अनुसार 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'कित्' धातु से 'सन्' प्रत्यय, धातु को द्वित्व आदि कार्य तथा स्त्रीलिंग में टाप्' प्रत्यय करके बनेगा । यह तो ठीक है कि 'शश्वत्' का अर्थ 'निश्चय' है परन्तु 'विचिकित्सा का अर्थ 'निश्चय' है यह बात विचारणीय है । यास्क ने 'शश्वत् का 'निश्चय' अर्थ समझते हुए ही उसके 'शश्वद् एवम्' इत्यादि उदाहरण दिये हैं ।

देवदत्त ने यज्ञदत्त से पूछा कि क्या यह घटना इस प्रकार हुई ? उत्तर में यज्ञदत्त ने कहा कि हाँ हुई । परन्तु इस बात को अच्छी तरह जानने के लिये देवदत्त फिर यज्ञदत्त से पूछता है कि क्या सचमुच ऐसी बात हुई ? (शश्वत् एवम् ?) । यह 'अनुपृष्ट' हुआ । यहाँ चूँकि पुनः प्रश्न करने के लिये 'शश्वत्' का प्रयोग किया गया है इसलिये 'शश्वत्' को 'एवम्' से पहले रखा गया है । परन्तु जब 'शश्वत्' का प्रयोग 'अनुपृष्ट' के उत्तर के रूप में किया जायगा तब उसे 'एवम्' के पश्चात्, 'एवम् शश्वत्' इस रूप में रखा जायगा ।

यास्क ने यहाँ एक विशेष बात यह कही है कि यदि 'शश्वत्' का प्रयोग प्रश्न कर्त्ता से भिन्न किसी व्यक्ति के द्वारा किये गये प्रश्न (अस्वयं पृष्ट') के उत्तर में होगा तभी 'शश्वद् एवम्' (हाँ निश्चित ही ऐसी बात हुई है) का प्रयोग होगा । जैसे ऊपर के उदाहरण मे देवदत्त से भिन्न किसी और व्यक्ति ने प्रश्न किया हो तभी 'शश्वद् एवम्' कहा जायगा ।

स्कन्द की टीका में 'अस्वयं दृष्टे' के स्थान पर अस्वयं दृष्टे' पाठ तथा उसकी व्याख्या मिलती है । स्कन्द का कहना है कि यदि उत्तर देने वाले ने स्वयं उस घटना को नहीं देखा है तभी वह 'शश्वद् एवम्' का प्रयोग करेगा । परन्तु इस व्याख्या के अनुसार 'शश्वद् एवम्' इस उत्तर में 'शश्वद्'

का निश्चित, अर्थ नहीं रह जाता अपितु उसका 'सन्देह' अर्थ हो जाता है। जो भी हो आज इतने दिनों बाद 'शश्वत्' के प्रयोग के विषय में इस प्रकार के सूक्ष्म भेद को जान पाना बहुत कठिन है।

टिप्पणी—यास्क ने 'शश्वत्' निपात का जो 'विचिकित्सा' (निश्चय) अर्थ किया है वह यास्क-कालीन बोलचाल की भाषा की दृष्टि से सम्भवतः ठीक होगा। परन्तु लौकिक संस्कृत में 'अनारत', निरन्तर' जैसे अर्थों में ही प्रायः 'शश्वत्' का प्रयोग देखा जाता है। द्र०—**शश्वद् अनारते** (अमरकोश ३।४।११)। वर्धमान ने 'शश्वत्' के चार अर्थ दिये हैं—'सर्वकाल', 'सातत्य', 'नित्य' तथा 'सह' (गणरत्न महोदधि पृ० १३)। वेदों में भी इन्हीं अर्थों में 'शश्वत्' का प्रयोग देखा जाता है। जैसे **शश्वद् इन्द्र प्रोत्प्रुथद्भिर् जिगाय** (ऋ० वे० १।३०।१६)। स्कन्द ने भी अपनी टीका में वेद की दृष्टि से 'शश्वत्' का यही अर्थ माना है। द्र०—**वेदेतु शश्वद् इति बहूनामसु पठितम् नित्यत्वे च प्रभुज्यमानं दृश्यते**। (भा० पृ० ६५)।

इतने प्रसिद्ध और स्पष्ट अर्थ को न देखकर, विचिकित्सा जैसे सन्दिग्ध शब्द के द्वारा 'शश्वत्' का अर्थ बतलाकर और उसे भी केवल भाषा तक सीमित करके, वैदिक भाषा की दृष्टि से 'शश्वत्' के विषय में यास्क क्यों मौन रह गये—यह बात समझ में नहीं आती। उपलक्षण का यह तो अभिप्राय नहीं है कि शब्द के अति प्रसिद्ध अर्थ की ओर भी ध्यान न दिया जाय?

———

तृतीय पाद

निश्चयार्थक 'नूनम्' निपात

मूल—'नूनम्' इति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्। उभयम् अन्वध्यायम् विचिकित्सार्थीयश्च पदपूरणश्च। अगस्त्य इन्द्राय हविर् निरूप्य मरुद्भ्यः सम्प्रदित्साञ्चकार। सइन्द्र एत्य परिदेवयाञ्चक्रे:—

न नूनम् अस्ति नो श्वः कस तद वेद यद् अद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तम् अभिसंचरेण यम् उताधीतं विनश्यति॥

न नूनम् अस्त्यद्यतनम्। नो एव श्वस्तनम्। अद्य अस्मिन् द्यवि। 'द्यु:' इत्यह्नो नामधेयम्। द्योतते इति सतः। श्वः उपाशसनीयः कालः। ह्यो हीनः कालः। कस्तद् वेद यद् अद्भुतम्—कस्तद् वेद यद् अभूतम्। इदम् अपि इतरद् अद्भुतम् इव। अन्य चित्तम्। अभिसचरेण्यम्—अभिसंचारि। अन्यो–न आनेयः। चित्तं चेततेः। उताधीतं विनश्यति [अप्याध्यातं विनश्यति] आध्यातम्—अभिप्रेतम्।

अनुवाद—'नूनम्' यह (निपात) भाषा में निश्चय के अर्थ में प्रयुक्त होता है। परन्तु वेद में निश्चयार्थक तथा पद-पूरणार्थक दोनों रूपों में इसका प्रयोग मिलता है।

अगस्त्य ने इन्द्र को हवि देने का निश्चय करके भी उसे मरुतों को देने की इच्छा की (इस पर) वह इन्द्र आकर (निम्न मंत्र द्वारा) विलाप करने लगा।

मन्त्रान्वय—नूनं नास्ति । नः श्वः (अस्ति) । यद् अद्भुतं तत् कः वेद । अन्यस्य चित्तम् अभिसंचरेण्यं (भवति) । अधीतम् उत विनश्यति ।

मन्त्रानुवाद—(हवि) निश्चित ही (आज) नहीं है । (और) न कल (ही) है । जो हुआ नही है उसे कौन जानता है । दूसरे का चित्त चंचल होता है । सोचा हुआ भी नष्ट हो जाता है ।

यास्कीय व्याख्या का अनुवाद—(हवि का भोजन) निश्चित ही आज नहीं है । और न ही कल है । 'अद्य' (अर्थात्) आज के दिन । 'द्यु.' चमकने हुये दिन का नाम है । 'श्वः' (अर्थात्) जिसके आने की आशा की जाती है ऐसा समय (आने वाला कल) 'ह्यः' (अर्थात्) बीता हुआ समय (विगत कल) । कस् तद् वेद यद् अद्भुतम्—(अर्थात्) उसको कौन जानता है जो (अभी) हुआ ही नहीं है ? यह दूसरा ('आश्चर्य' अर्थ वाला) 'अद्भुत्' (शब्द) भी 'न हुये' के समान ही है । दूसरे का चित्त 'अभिसंचरेण्यं' (अर्थात्) अभिसंचारी (चंचल) होता है । 'अन्य' (शब्द का अर्थ है) न आनेय (अर्थात्) अविश्वसनीय । 'चित्त' (सोचना) से बना है । उताधीतं विनश्यति (का अर्थ है) अच्छी तरह चाही हुई (या सोची हुई वस्तु या बात) भी नष्ट हो जाती है । (अधीतं के नियमित रूप) आध्यात (का अर्थ है) अभिप्रेत (अर्थात्) अभीष्ट ।

व्याख्या—यहाँ भी यास्क ने निश्चय' के पर्याय के रूप में 'विचिकित्सा' शब्द का प्रयोग किया है । निश्चय' अर्थ वाले 'नूनम्' निपात के उदाहरण की दृष्टि से यास्क जिस वैदिक मंत्र को प्रस्तुत करना चाहते हैं उसे लिखने से पूर्व वे दो वाक्यों में एक आख्यायिका का उल्लेख कर रहे हैं । इस आख्यायिका में यह कहा गया है कि अगस्त्य ऋषि ने संकल्प तो यह किया कि मैं अपनी हवि इन्द्र को दूंगा । परन्तु जब देने का समय आया तो उसने अपनी वह हवि मरुतों को दे दी । अगस्त्य के चित्त की चंचलता को देखकर इन्द्र वहाँ आकर विलाप करने लगा । उसका विलाप जिन मंत्रों में निबद्ध है उनमें से ही एक मंत्र यहाँ, 'नूनम्' के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है ।

'निरूप्य'—'निर्' उपसर्ग पूर्वक 'वय' धातु से 'ल्यप' प्रत्यय तथा 'वय्' का सम्प्रसारण । 'सम्प्रदित्साञ्चकार'—'सम्' तथा 'प्र' उपसर्ग के साथ 'दा'

धातु के 'सन्' प्रत्यय तथा द्वित्व आदि कार्य होकर सन्नन्त् धातु 'सम्प्रदित्स्' बनी। फिर उससे लिट् लकार में 'आम्' प्रत्यय तथा 'कृ' धातु का अनुप्रयोग करके अन्य पुरुष एकवचन में सम्प्रदित्साञ्चकार' बना। "दुर्ग" ने इस शब्द का अर्थ 'सम्प्रदातुम् ऐच्छत्' (अर्थात् देना चाहा) किया हैं। 'स्कन्द' ने 'सम्प्रदित्सा' का अर्थ 'सम्यक् प्रदातुम् इच्छा' करके इस शब्द का अर्थ किया है 'सम्प्रददौ' अर्थात् अगस्त्य ने 'हवि' मरुतों को दे दी। 'परिदेवयाञ्चक्रे' का अर्थ है—विलाप किया। 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'दिव' धातु से 'णिच्' प्रत्यय करके णिजन्त धातु 'परिदेवय्' बनी। उससे लिट् लकार में 'आम्' प्रत्यय तथा 'कृ' का अनुप्रयोग आत्मनेपद, अन्य पुरुष, एक वचन में 'परिदेव्याञ्चक्रे' बना 'परिदेवना' का दुर्ग ने 'क्रोध पूर्वक विलाप' अर्थ किया है।

"दुर्ग" ने इस आख्यायिका को 'निदान' अर्थात् मन्त्र रचना का कारण माना है। "स्कन्द" ने इसे 'इतिहास' नाम दिया है। प्रो० "राजवाड़े" (प्र०पृ० २३९–४०) ने 'निदान' को सर्वथा असंगत एवं असम्बद्ध बतलाया है। परन्तु यह उनका एक दुस्साहस मात्र कहा जा सकता है। क्योंकि यही 'निदान' इतिहास तथा पुरावृत्त के नाम से वृहद्देवता में भी मिलता है तथा उसमें एक सूक्त से पहले के चार सूक्तों तथा इस सूक्त (ऋ० वे० १।१७०) के तीन-चार मन्त्रों की दृष्टि से इस निदान का विस्तार से उल्लेख किया गया है। (द्र० बृहद्देवता (४।४६–५३)

यास्कीय व्याख्या की व्याख्या— मन्त्रों की व्याख्या करने में "यास्क' की शैली यह है कि वे मन्त्र में जिन शब्दों का अध्याहार करना आवश्यक समझते हैं उन्हें दे देते हैं तथा मन्त्र के किसी कठिन शब्द के स्थान पर सरल लौकिक शब्दों का प्रयोग करते चलते हैं। मन्त्रों के शब्द-क्रम को प्रायः नहीं बदलते। बीच-बीच में मन्त्रों के शब्दों का निर्वचन, वैदिक शब्दों के पर्याय के रूप में प्रस्तुत किये गये लौकिक या सरल शब्दों का निर्वचन तथा निर्वचन के मध्य में आये कठिन या रूढ़िभूत शब्दों का निर्वचन भी करते चलते हैं। इसके अतिरिक्त समान शब्द स्वरूप वाले परन्तु भिन्न-भिन्न अर्थ वाले कई शब्दों के प्रकृति, प्रत्यय का भी निर्देश प्रसंगतः कर देते हैं।

इन प्रवृत्तियों के अनुसार प्रस्तुत मन्त्र के 'न नूनम् अस्ति' इस अंश के साथ 'अद्यतनम्' शब्द का, अध्याहार किया गया। यह इसलिये आवश्यक था कि मन्त्र के अगले वाक्य में 'श्वः' पद विद्यमान है। 'मेक्डानल' ने 'नूनं' का अर्थ 'अब' (Now) किया है (द्र० वैदिक ग्रामर पृ० २३९)। मेक्डानल के अनुसार यहाँ 'अद्यतनम्' के अध्याहार की आवश्यकता नहीं है। चूंकि 'अद्यतनम्' में 'तन' प्रत्यय विद्यमान है, इसलिए यास्क ने 'श्वस्' के साथ भी 'तन' प्रत्यय लगाकर तथा पहले चरण में 'नूनं' के समान अर्थ वाले 'एव' का अध्याहार करके मन्त्र के 'नो श्वः' इस अंश की व्याख्या 'नो एव श्वस्तनम्' के 'रूप' में की। इसके बाद अपनी व्याख्या में अध्याहृत 'अद्यतनम्' शब्द 'अद्य' के निर्वचन की ओर यास्क का ध्यान गया और उसकी उन्होंने व्युत्पत्ति की 'अस्मिन् द्यवि' (आज के दिन)। यहाँ द्यवि' 'द्य' शब्द के सप्तमी के एक वचन का रूप है। इसलिये 'द्यु' शब्द का अर्थ तथा उसकी व्युत्पत्ति भी दी गयी। 'द्य' का अर्थ है दिन क्योंकि वह प्रकाशित होता है—चमकता है। 'द्योतते इति सतः' का अर्थ है 'द्योतमानस्य' और यह 'अह्नः' का विशेषण है। इस प्रकार अन्वय हुआ—'द्योतते इति सतः अह्नः द्यु: (इति) नामधेयम् अर्थात् प्रकाशमान दिन का नाम 'द्यु' है। इस शैली 'द्यु' शब्द का अर्थ बताने से 'द्यु' शब्द के अर्थ के साथ-साथ यह भी ज्ञात हो गया कि 'द्यु' शब्द 'द्युत्' (दीप्तौ) से बना है। इस रूप में 'अद्य' शब्द का निर्वचन हुआ 'अस्मिन् द्यवि' जिसका अर्थ है —'आज'।

श्वः इस शब्द का निर्वचन है 'उपाशंसनीयः' जिसका विशेष्य है 'काल' अर्थात् एक ऐसा काल, जिसकी अभी प्रतीक्षा है। यद्यपि व्याख्येय मन्त्र में 'ह्यः' पद नहीं आया है फिर 'श्वः' के साथ यास्क ने 'ह्यः' (बीता हुआ कल) का भी निर्वचन कर दिया क्योंकि 'श्वः' के साथ उसकी समानता है। दोनों ही शब्द 'कल' को कहते हैं।

अद्भूतम्' इस पद का अर्थ यास्क ने 'अभूतम्' (अनुत्पन्न अथवा अकृत) किया है। तथा समान रूप वाले आश्चर्यार्थक 'अद्भूत' के साथ इसका समन्वय इस प्रकार किया है कि आश्चर्य भी अनुत्पन्न जैसा ही होता है।

उसी कार्य को अद्‌भूत या आश्चर्यपूर्ण कहा जाता है जो पहले कभी नहीं हुआ रहता।

अभिसंचरेण्यम्—इस पद में 'अभि', 'सम्' उपसर्ग के 'चर्' धातु से 'एन्य' प्रत्यय माना जा सकता है। पाणिनि ने 'एन्य' (केन्य) प्रत्यय का विधान 'तुमुन्' के अर्थ में किया है। परन्तु यहाँ 'तुमुन्' का अर्थ नहीं है। इसीलिये यास्क ने इस शब्द का अर्थ 'अभिसंचारी' अर्थात् अभिसंचरणशील-परिवर्तन-शील' या चंचल किया है।

अन्य:—इस पद की व्युत्पत्ति 'न आनेय:' दूसरे शब्दों में 'न आनेतव्य:' (जिसे अपने घर न लाया जा सके—न ठहराया जा सके) अथवा न विश्वसनीय: किया है। अर्थात् वह व्यक्ति जिसका विश्वास न किया जाय। 'दुर्ग' ने 'नानेय:' शब्द का एक और अर्थ किया है—'नाना रूप से व्यवस्थित अर्थात् दुष्ट कुल में उत्पन्न किसी नीच व्यक्ति का पुत्र' परन्तु यह शब्दों में खींचा-तानी मात्र है ('चित्त' शब्द 'चित् संज्ञाने' से बना है)।

अधीतम्—यह शब्द 'आ' उपसर्ग के साथ 'ध्यै' धातु का 'क्त' प्रत्यान्त रूप है। यहाँ व्याकरण के अनुसार 'आध्यात' रूप बनना चाहिये। इसी का अनियमित रूप 'अधीत' माना गया। इसीलिये यास्क ने 'अधीतम्' के पर्याय के रूप में 'आध्यातम्' का प्रयोग किया। इस प्रसंग में 'आध्यातम्' का अर्थ है अभिप्रेत अथवा वांछित।

पद-पूरणार्थक 'ननु'

मूल—

अथापि पद-पूरणः—

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयद् इन्द्र दक्षिणा मघोनी

शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग् भगो नो बृहद् वदेम विदथे सुवीराः।

सा ते प्रतिदुग्धां वरं जरित्रे । वरो वरयितव्यो भवति । जरिता गरिता । दक्षिणा मघोनी-मघवती । मघम् इति धन नामधेयम्, मंहतेर् दान कर्मणः । दक्षिणा दक्षतेः समर्धयति-कर्मणः । व्यृद्धं समर्धयति इति । अपि वा प्रदक्षिणागमनात् दिशम् अभिप्रेत्य । दिग् हस्तप्रकृतिः । दक्षिणः हस्त दक्षतेर् उत्साहकर्मणः दाशतेरर् वा स्याद् दान कर्मणः । हस्तो हन्ते, प्राशुर् हनने । देहि स्तोतृभ्य कामान् । मा अस्मान् अतिदंहि—मा अस्मान् अतिहाय दाः । भगो नोऽस्तु । बृहद् वदेम स्वे वेदने । भगो भजतेः । बृहद् इति महतो नामधेयम् । परिवृढं भवति । वीरवन्तः कल्याणवीरा वा । वीरो वीरयत्यमित्रान् । वेतेर् वा स्याद् गतिकर्मण, वीरयतेर् वा ।

अनुवाद—इसके अतिरिक्त ('ननु' निपात) 'पद-पूरण' अर्थ वाला भी है ।

मन्त्रान्वय—हे इन्द्र ! सा ते मघोनी दक्षिणा जरित्रे नूनं वरं प्रति दुहीयत् । स्तोतृभ्यः शिक्ष । माति धग् भगः न (अस्तु) । सुवीराः (वयं) विदथे बृहद् वदेम ।

मन्त्रानुवाद—हे इन्द्र तुम्हारी वह (प्रसिद्ध) धन वाली दक्षिणा (पुरस्कार) स्तोता के लिये आज ही (अभी) वर (अभीष्ट वस्तु) प्रदान करे । हमें छोड़कर मत दो (हमें भी दो) । हमको भी ऐश्वर्य प्राप्त हो । सुन्दर वीरों (पुत्रों) वाले (हम लोग अपने) घर (या यज्ञ) में ऊँचे स्वर से तुम्हारी स्तुति करें ।

यास्कीय व्याख्या का अनुवाद—वह तुम्हारी (दक्षिणा) वर (अभीष्ट वस्तु को) स्तोता के लिये (प्रदान करे) वर वरणीय होता है । जरिता (का अर्थ है) गरिता (स्तोता) । मघोनी (अर्थात्) मघवती । 'मघ' यह धन का नाम है तथा 'दान' अर्थ वाली 'मह्' धातु से (निष्पन्न है) । 'दक्षिणा' (शब्द) 'समृद्धि' अर्थ वाली 'दक्ष्' धातु से (निष्पन्न है) । (क्योंकि दक्षिणा) निर्धन को समृद्ध बना देती है । अथवा दक्षिण (दिशा) की ओर आने के कारण दिशा की दृष्टि से ('दक्षिणा') शब्द बना है । (दक्षिण) 'दिशा' (को 'दक्षिण' कहे जाने) का मूल (कारण) है दाहिना हाथ । 'दक्षिणः हस्तः' यहाँ 'दक्षिण' (शब्द') 'उत्साह' अर्थ

वाली 'दक्ष्' अथवा 'दान' अर्थ वाली 'दाश्' (धातु) से (निष्पन्न है)। 'हस्त' (शब्द) 'हन्' (धातु) से (निष्पन्न है)। क्योंकि वह मारने (अथवा गति) में तेज है। स्तुति करने वाले को अभीष्ट वस्तु दो। ('मा अतिधक्' का अर्थ है) 'मा अस्मान् अतिहाय देहि' (अर्थात् हमें छोड़कर (अन्यों को) मत दो। हमें (भी) धन आदि (ऐश्वर्य) की प्राप्ति हो। (बृहद् वदेम विदथे' का अर्थ है) बृहद् वदेम स्वे वेदने' अर्थात् (हम) अपने घर (या यज्ञ) में उच्च स्वर से या (या विस्तृत रूप में) बोलें (स्तुति करें)। भग' शब्द 'भज' (सेवायाम्) से (निष्पन्न है)। 'बृहत्' (शब्द) 'महत् का पर्याय है क्योंकि वह चारों ओर बढ़ा हुआ होता है। (सुवीराः' का अर्थ है) 'वीरवन्तः' अर्थात् वीरों (या पुत्रों) से युक्त अथवा सुन्दर या कल्याणकारी वीरों (या पुत्रों) से युक्त। 'वीर' शत्रुओं को कंपाता है इसलिये 'वि+ईर्' से निष्पन्न है) अथवा 'गति' अर्थ वाले 'वी' या (चुरादिगणीय) 'वीर' (धातु) से (निष्पन्न है)।

व्याख्या—पद-पूरणार्थक 'ननु' निपात के उदाहरण के रूप में 'नूनं साते०' यह मन्त्र यहाँ प्रस्तुत किया गया है तथा इसीलिये यास्क ने 'ननु' शब्द को अपनी व्याख्या में स्थान नहीं दिया। परन्तु यह निश्चयपूर्वक कह सकना कठिन है कि इस मन्त्र में 'नूनम्' का अर्थ यहाँ भी 'आज', 'अभी', 'इसी समय' इत्यादि न केवल सम्भव है अपितु सर्वथा उचित है और इसलिये आवश्यक भी है क्योंकि 'नूनम्' का इस प्रकार से अर्थ करने में मंत्रार्थ में एक विशेष प्रभाव आ जाता है। Geldner ने यहाँ 'नुनम्' का अर्थ 'अब' ही किया है।

यास्कीय व्याख्या की व्याख्या—

प्रतिदुहियत्—'प्रति' उपसर्ग पूर्वक 'दुह्' (आत्मनेपदी) धातु के 'लिङ्' लकार अन्य पुरुष एक वचन का रूप है। "यास्क" ने उसके स्थान पर 'लोट्' लकार के 'प्रतिदुग्धाम्' रूप का प्रयोग किया है। वैदिक भाषा में यह आवश्यक नहीं कि क्रिया पद से अव्यवहित पूर्व में ही उपसर्गों का प्रयोग हो। यह नियम केवल लौकिक संस्कृत में ही पाया जाता है। वेदों में से तो उपसर्गों का क्रियापद से बहुत पहले अथवा बहुत बाद में भी प्रयोग मिलता है। यहाँ 'प्रति' तथा 'दुहीयत्' दोनों पदों के बीच पर्याप्द व्यवधान है परन्तु अर्थ करने

में दोनों एक साथ सम्बद्ध हो जायेंगे। वैदिक मन्त्रों में मिलने वाले उपसर्गों तथा क्रिया पदों की इस व्यवहित स्थिति की सूचना पाणिनि ने अपने 'छन्दसि परेऽपि' तथा 'व्यवहिताश्च' (अष्टा० १।४।८१, ८२) इन दो सूत्रों द्वारा दी है।

वर—इस शब्द की व्युत्पत्ति करते यह कहा गया कि **वर** को 'वर' इसलिये कहा जाता है कि वह वरणीय, स्वीकरणीय अथवा चुनने योग्य होता है। "स्कन्द" ने 'वर' का अर्थ प्रार्थित या अभिलषित वस्तु किया है।

जरित्रे—'जरिता' शब्द के चतुर्थी विभक्ति एक वचन में 'जरित्रे' बना है। 'जरिता' शब्द यास्क की दृष्टि से 'गरिता' शब्द से वर्णविपर्यय ('ग' का 'ज') होकर बना है। 'जृ' धातु लौकिक संस्कृत में वृद्ध होने (वयो हानौ) के अर्थ में प्रसिद्ध है। सम्भवतः इसीलिये यास्क ने 'जरिता' शब्द की निष्पत्ति 'जृ' से न मानकर 'गृ' से मानी। 'गृ' धातु पाणिनीय धातु पाठ में 'शब्द' अर्थ में पठित है इसलिये 'गरिता' का अर्थ स्तोता हो सकता है। परन्तु 'जरिता' शब्द 'को' 'गृ' धातु से निष्पन्न मानने की अपेक्षा, सीधे 'जृ' धातु से ही निष्पन्न मानना चाहिये। ऋग्वेद में 'जृ' धातु 'वृद्धावस्था' तथा 'स्तुति' दोनों ही अर्थों में प्रचलित है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में 'जरितृ' अनेकों बार 'स्तोता' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैसे 'एतद् वचो जरितर् माऽपि मृष्ठाः' (ऋ० वेद ३।३३।८) इत्यादि।

मघोनी—'मघ' शब्द से 'वतुप्' प्रत्यय तथा स्त्रीलिङ्ग में 'ईकार' करके लौकिक संस्कृत में 'मघवती' रूप बनेगा। पर वैदिक भाषा में 'मघवती' के स्थान पर 'मघोनी' प्रयोग मिलता है। यास्क ने 'मघ' शब्द को 'दान' अर्थ वाली 'मंह' धातु के निष्पन्न माना है। पाणिनि धातु पाठ में 'मंह्' धातु 'वृद्धि' अर्थ में मिलती है पर 'दान' अर्थ में नहीं। परन्तु ऋग्वेद में दानार्थक 'मंह्' धातु का प्रयोग अन्यत्र भी मिलता है। जैसे—'स्तौतृभ्यो मंहते मघम्' (ऋ० वे० १।११।३)।

दक्षिणा—'समृद्ध करने' अथवा 'समृद्ध बनाने' अर्थ वाली 'दक्ष्' धातु से 'दक्षिणा' शब्द बनेगा। इस 'दक्ष्' धातु में 'आदक्षते', 'दक्षमाणा', 'ददक्षे' इत्यादि

प्रयोग वेदों में मिलते हैं। 'दक्ष्' धातु से 'दक्षिण' शब्द को निष्पन्न मानने का कारण यह है कि (प्रचुर) 'दक्षिणा' निर्धन को भी समृद्ध बना देती है। 'दक्षिणा' शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति यह है कि दक्षिण दिशा से सम्बद्ध होने के कारण दक्षिण को 'दक्षिणा' कहा जाने लगा दक्षिणा में दी जाने वाली गायें यज्ञवेदी के बायें तरफ से दक्षिण दिशा की ओर लाकर फिर ऋत्विज आदि को दान के रूप में दी जाती हैं। इसलिये दक्षिण दिशा की ओर आने के कारण 'गौ' इत्यादि को 'दक्षिणा' कहा जाने लगा।

इसी प्रसंग में 'यास्क' ने दक्षिण दिशा को 'दक्षिण' कहे जाने का भी कारण बताया है और वह यह है कि पूर्वाभिमुख स्थित प्रजापति के दाहिने हाथ की तरफ होने के कारण इस दिशा को 'दक्षिण' दिशा कहा जाने लगा। कोई भी व्यक्ति पूर्व की ओर मुख करके खड़ा हो जाये तो उसके दक्षिण हाथ की ओर ही दक्षिण दिशा पड़ती है। (दक्षिणः) हस्तः प्रकृतिर् यस्य 'असौ' इस प्रकार का 'बहुव्रीहि' समास सम्बन्धी विग्रह करके तथा 'दिक्' का 'हस्त प्रकृतिः' को विशेषण मानकर यह अर्थ प्रकट किया गया। यहीं इस प्रश्न पर भी विचार किया गया कि दाहिने हाथ को दक्षिण क्यों कहा जाता है। यास्क का कहना कि 'हस्त' के लिये जिस 'दक्षिण' शब्द का प्रयोग होता है उसे 'उत्साह' अर्थ वाले 'दक्ष्' धातु से निष्पन्न मानना चाहिये, क्योंकि दाहिने हाथ से ही सभी उत्साह-पूर्ण या शक्ति सापेक्ष कार्य किये जाते हैं। पाणिनीय धातु में 'उत्साह' अर्थ वाली 'दक्ष्' धातु नहीं मिलती। वहाँ 'दक्ष्' वृद्धौ शीघ्रार्थे 'च' इस रूप में यह धातु पठित है। यास्क ने, 'दक्ष' के विकल्प के रूप में, 'दान' अर्थ वाली 'दाश्' धातु से इस 'दक्षिण' शब्द को बनाया है, क्योंकि दान देने का कार्य दाहिने हाथ से किया जाता है। यास्क यहीं नहीं रुके। उन्होंने 'हस्त' शब्द की व्युत्पत्ति भी प्रस्तुत की तथा यह कहा कि 'हस्त' शब्द 'हन्' धातु से बनेगा। यहाँ 'हन्' धातु के अभीष्ट अर्थ की ओर उन्होंने संकेत नहीं किया। 'हन्' के दो अर्थ हैं 'हिंसा' तथा 'गति' (हन् हिंसागत्योः')। इसलिये 'प्राशुः हनने' के दोनों ही अर्थ हो सकते हैं। अर्थात् हाथ को 'हस्त' इसलिये कहते हैं कि 'मारने' अथवा 'गति करने' में दाहिना हाथ बहुत तेज है।

शिक्ष—यह लोट लकार माध्यम पुरुष एक वचन का प्रयोग है। 'शिक्ष' के स्थान छान्दस दीर्घ होकर 'शिक्षा' बन गया है। "यास्क" ने 'शिक्ष' का अर्थ

'देहि' करके 'देहि स्तोतृभ्यः' के साथ 'का मान्' पद का अध्याहार किया है। 'शिक्ष' धातु मूल धातु न होकर सम्भवतः 'देने' अर्थ वाली 'शक्' धातु के सन्नन्त रूप से बनी हुई है। यह 'शिक्ष' धातु वेद में अनेक बार परस्मैपदी धातु के रूप में 'देने' अर्थ के लिये प्रयुक्त हुई है। सम्भवतः बाद में लौकिक संस्कृत में आकर यह धातु केवल 'विद्या देने' के अर्थ में सीमित हो गयी। इसीलिये पाणिनि ने भी 'शिक्ष' का अर्थ 'विद्योपादाने' किया है।

मा अति धक्—इस वाक्य का अर्थ पहले यास्क ने 'मा अस्मान् अतिदं ही:' किया तथा उस अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा 'मा अस्मान् अतिहाय दाः' अर्थात् हमें छोड़ कर मत दो। 'अतिधक्' प्रयोग 'अति' उपसर्ग पूर्वक 'दह' धातु के लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एक वचन का रूप है। यास्क ने 'मातिधक्' की व्याख्या के रूप में जो 'मातिदंहि:' तथा 'माऽस्मान् अतिहाय दाः' कहा है उससे यह प्रतीत होता है कि वे 'अधिक्' को दानार्थक 'दंह्' धातु से निष्पन्न मानते हैं। परन्तु 'दान' अर्थ वाली 'दंह्' धातु न तो वेद में और न लोक में कहीं भी प्रयुक्त नहीं है। 'दुर्ग' तथा 'स्कन्द ने 'मातिदं ही' की कोई चर्चा ही नहीं की है। स्कन्द ने 'दह' को दानार्थक मान कर इस स्थल की व्याख्या कर दी है। द्र०—**धग् 'इति पदं, दहेर्' दानार्थस्य रूपम्। मा अस्मान् अतिहाय दाः। प्रथमम् अस्मभ्यं देहि पश्चाद् अन्येभ्य इत्यर्थः** (स्कन्द भाष्य, भाग १, पृ० ६८)

टिप्पणी—'नूनं' सा ते०' यह मंत्र ऋग्वेद के दूसरे मण्डल में सात बार प्रयुक्त हुआ है। यहाँ 'अतिधक्' का अर्थ 'वेंकटमाधव' ने 'मा अस्मान् अधाक्षीत्' (हमें मत जलाओ) किया है तथा इसे अन्य पुरुष एक वचन का रूप माना है। 'सायण' ने, सम्भवतः यास्क के अनुकरण पर, 'अतिधक' को दानार्थक 'दह्' धातु का रूप मानकर 'हमें छोड़कर मत दो' यह अर्थ किया है तथा विकल्प के रूप में 'मा अधाक्षी:' अर्थ भी कर दिया है। एक अन्य मंत्र **मा परिवक्तंम माऽतिधक्तम्** (ऋ० वे० १।१८३।४) में भी यही धातु 'लोट्' लकार के द्विवचन में प्रयुक्त हुई है। यहाँ भी सायण ने 'मा अस्मान् अति-क्रम्य अन्यस्मै दत्तम्' अर्थ किया है। यों 'धक्' प्रयोग 'दंघ्' (दधि पालने

चकाराद् वर्जने च) धातु से बनाना अधिक उचित प्रतीत होता है। इसी धातु से यास्क का 'दं ही:' प्रयोग भी सम्भवत: सम्बद्ध हो।

'भ गो न:'—इस अंश के साथ यास्क ने 'अस्तु' इस क्रिया पद का अध्याहार किया है। 'भग' शब्द 'भज् सेवायाम्' से निष्पन्न हो गया।

'विदथे'—इस शब्द का यास्क अर्थ करते हैं 'स्वे वेदने' अर्थात् 'अपने घर में' दुर्ग तथा स्कन्द ने 'वेदने' का उल्लेख अपनी टीका में नहीं किया है। दुर्ग 'विदथे' का अर्थ 'यज्ञ' अथवा 'घर' करता है। स्कन्द ने केवल 'यज्ञ' अर्थ किया है। 'विदथ' शब्द 'विध्' (पूजा अथवा स्तुति करना इत्यादि) या 'विद्' धातु से विद्वानों ने बनाया है। यास्क 'विदथे' का अर्थ वेदने' कह कर उसे संभवत: 'विद्' से निष्पन्न मानते हैं। 'बृहत्' शब्द यास्क के अनुसार 'वृद्धि' अर्थ वाले 'बृह्' धातु से बनेगा। तथा 'बृहत्' 'महत्' का पर्याय है क्योंकि 'बृहत्' चारों ओर बढ़ा हुआ होता है।

सुवीरा:—यास्क ने 'सुवीरा:' का अर्थ पहले 'वीरवन्त:' किया है जिसका अभिप्राय है 'सन्तान या वीरों से युक्त'। उसके बाद इस शब्द का दूसरा अर्थ 'कल्याणवीरा:' किया जिसका अभिप्राय है कल्याणकारी पुत्रों या वीरों से युक्त। यही प्रसंगत: 'वीर' शब्द की तीन प्रकार की व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। **पहली व्युत्पत्ति है—'वीरयति अमित्रान्'** अर्थात् 'वीर' शब्द 'वि' उपसर्ग पूर्वक **'ईर्'** धातु से बना क्योंकि 'वीर' शत्रुओं को अनेक रूपों में कंपा देता है (**विविधम् ईरयति**), पीछे धकेल देता है या छिन्न भिन्न कर देता है। **दूसरी** व्युत्पत्ति है। **'वेतेर् वा स्याद् गतिकर्मण:'** 'अर्थात्' शब्द 'गति' अर्थ वाली 'वी' धातु से 'र' प्रत्यय करके बनेगा। 'वीर' युद्ध क्षेत्र में विविध रूपों में गति गमन-करता है या शत्रु के अभिमुख जाता है इसलिये उसे 'वीर' कहा जाता है। **तीसरी व्युत्पत्ति है**—'वीरयतेर्वा' अर्थात् **'वीर'** शब्द चुरादि गणीय 'वीर' (विक्रान्तौ) धातु से निष्पन्न होगा क्योंकि 'वीर' अनेक पराक्रम-युक्त कार्य करता है।

यहाँ यास्क ने 'नूनम्' निश्चयार्थ तथा पदपूरणार्थक माना है। 'वर्धमान' ने 'नूनम्' के 'तर्क' 'निश्चय' तथा 'उत्प्रेक्षा' अर्थ माने हैं।

सीम्

मूल—

'सीम्' इति परिग्रहार्थीयो वा पद पूरणो वा ।

प्रसीम् आदित्यो असृजत् (ऋ० वे० २।२८।४) ।

'प्रासृजत्' इति वा । प्रासृजत् सर्वत इति वा ।

अनुवाद—'सीम्' यह (निपात 'परिग्रह' (सर्वत्र) अर्थ वाला है अथवा पद-पूरणार्थक है । जैसे प्रसीम् आदित्यो 'असृजत्' । (सीम् को पद-पूरणार्थक मानते हुए उस मंत्रांश का अर्थ होगा) आदित्य ने (नदियों को) तेजी से बहाया । (यदि सीम् को परिग्रहार्थीय माना जाय तो इस अंश का अर्थ होगा) आदित्य ने (नदियों को) चारों ओर तेजी से बहाया ।

व्याख्या—'यास्क' का विचार है कि 'सीम्' निपात का अर्थ या तो 'सर्वत्र' या 'सर्वतः' होता है अथवा उसे सर्वथा अनर्थक मानकर उसका प्रयोग केवल पद-पूर्ति के लिए माना जाय । अपनी इस धारणा के अनुसार **'प्रसीम् आदित्योऽसृजत्'** इस मंत्रांश के उन्होंने दो अर्थ के किये पहला यह कि आदित्य ने तेजी से बहाया । यहाँ 'सीम्' को अनर्थक समझकर उसे केवल पद-पूर्ति के लिए माना गया । दूसरा अर्थ यह किया कि आदित्य ने चारों ओर तेजी से नदियों को बहने दिया । इस अर्थ में 'सीम्' को 'परिग्रह' अर्थात् 'सर्वत्र' या चारों ओर अर्थ वाला माना है ।

टिप्पणी—इस 'सीम्' निपात का प्रयोग केवल ऋग्वेद में ही मिलता है । 'मैकडानल' का विचार है कि यह 'स' सर्वनाम के द्वितीया विभक्ति एक वचन का रूप है । जिस प्रकार 'कीम्' का सम्बन्ध 'क' सर्वनाम से है, उसी प्रकार सीम् का सम्बन्ध 'स' सर्वनाम से है । इसकी स्थिति प्रायः उपसर्ग और क्रिया के मध्य देखी जाती है । जैसे-**परिसीं नयन्ति** अथवा यहाँ उद्धृत **प्रसीम् आदित्योऽसृजत्** इत्यादि । इस रूप में यह 'सीम्' ऐसी वस्तु या व्यक्ति को कहता है जिसका निर्देश पहले हो चुका हो अथवा तत्काल बाद में किया जाने वाला हो । **प्रसीम् आदित्योऽसृजत्** में 'सीम्' नदियों को संकेतित कर

रहा है। जिनका उल्लेख मंत्र के दूसरे चरण 'सिंधवः' शब्द द्वारा हुआ है। इसी प्रकार **ससार सीं परावतः** (ऋ० वे० ४।३०।११) में 'सीम्' उषा का निर्देश कर रहा है। कभी-कभी 'सीम्' 'सब कुछ' का अर्थ देता है, जैसे **यत् सीम् आगश् चकृमा शिश्रयस् तत्** (हम लोगों ने जो कुछ भी पाप किया है वह सब दूर कर दो) इन प्रयोगों से यह भी पता लगता है कि सामान्यतया द्वितीया विभक्ति के रूप में अन्य पुरुष के सभी लिंगों तथा वचनों में 'सीम्' का प्रयोग हुआ है । परन्तु कहीं भी ऐसा प्रयोग नहीं मिलता जहाँ 'सीम्' केवल पद-पूर्ति के लिए ही प्रयुक्त हुआ हो।

इस प्रकार 'हि' से लेकर 'सीम्' तक इन सात निपातों का, जो यद्यपि कर्मोपसंग्रह अर्थ वाले नहीं हैं, अर्थ प्रसंगतः दिखलाया गया।

सीमतः

मूल—

वि सीमतः सुरुचो वेन आवः (अथर्व वे० ४।१।१) इति च।

व्यवृणोत् सर्वत आदित्यः 'सुरुचः' आदित्यरश्मय,, सुरोचनात्। अपि वा 'सीम्' इत्येतद् अनर्थकम् उपबन्धम् आददीत पंचमीकर्माणम्। सीम्नः सीमातः। मर्यादातः। सीमा मर्यादा, विषीव्यति देशौ इति।'

अनुवाद—विसीमतः सुरुचो वेन आवः यहाँ ('सीमतः' भी) परिग्रहार्थीय अथवा पद-पूरणार्थक है। (इसका अर्थ है) आदित्य ने प्रशस्त दीप्ति वाली रश्मियों को सब ओर उन्मुक्त कर दिया। 'सुरुचः' (शब्द का अर्थ है) आदित्य की रश्मियाँ क्योंकि वे अच्छी तरह प्रकाशित होती हैं।

अथवा ('सीमतः' शब्द में 'सीम्' को प्रातिपदिक मानकर यह माना जाय कि) 'सीम्' (शब्द) ने (प्रायः) पंचमी अर्थ वाले, (पर यहाँ) अनर्थक (स्वार्थ में) 'तस्' प्रत्यय को अपने साथ युक्त कर लिया है। इस दृष्टि से) 'सीमतः' का पर्याय 'सीम्नः' है या (दूसरे शब्दों में) 'सीमतः' अथवा मर्या-

वातः' 'सीमा मर्यादा को कहते हैं क्योंकि 'सीमा' दो देशों को अलग करती है।

व्याख्या—'सीमतः निपात का 'यास्क' ने स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, इसलिये यहाँ 'वि सीमतः सुरुचो वेन आवः' के साथ प्रयुक्त इति च' का अर्थ विवादास्पद प्रतीत होता है। 'दुर्ग' ने 'इति च' से यह अर्थ निकाला है कि यास्क 'सीम्' निपात का ही एक दूसरा उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। द्र०—**सीमतः सुरुचो वेन आवः इति च द्वितीयम् उदाहरणम्** (दुर्गभाष्य आनन्दाश्रमसंस्करण पृ० ५२) दुर्ग के अनुसार इस मंत्रांश में भी 'सीम्' निपात का प्रयोग मानते हुए 'सीमतः' शब्द को 'सीम् + अतः इस रूप में अलग-अलग करना होगा। तथा 'सीम्' को परिग्रह अर्थ वाला मानते हुए और 'अतः' का अर्थ 'अस्मात् स्थानात्' करके उपर्युक्त मंत्रांश का अर्थ यह करना होगा कि 'आदित्य ने इस स्थान से (किरणों के मूल स्थान से) किरणों को सभी दिशाओं की ओर उन्मुक्त किया।' और यदि 'सीम्' को केवल पद पूर्त्यर्थ माना गया तो मंत्रांश का अर्थ होगा 'आदित्य ने इस स्थान से किरणों को उन्मुक्त किया।' 'व्यावः' 'वि' तथा आङ् उपसर्गों के साथ 'वृ' धातु के 'लङ्' लकार का वैदिक रूप है। 'वृ' का अर्थ हैं 'ढकना' परन्तु 'वि' और 'आ' के साथ प्रयुक्त होने के कारण 'व्यावः' का अर्थ होगा अच्छी तरह उन्मुक्त कर देना अथवा अनावृत कर देना।

इस रूप में, दुर्ग के अनुसार यह मानना चाहिये कि 'इति च' कहते हुए यास्क की धारणा यह है कि 'सीमत' यह शब्द 'सीम्' तथा अतः इन दो निपातों से बना हुआ है तथा यहाँ 'सीम्' का वही परिग्रह या पद-पूरण अर्थ है। यह दूसरी बात है 'सीम्' को पद-पूरण मानकर इस मंत्रांश की दूसरी व्याख्या 'यास्क' ने नहीं की है। जिस प्रकार 'प्रसीम् अदित्योऽसृजत्' की यास्क ने दो व्याख्यायें कीं उसी तरह यहाँ भी, **व्यवृणोद आदित्यः व्यवृणोत् सर्वत आदित्य इति वा** इस रूप में दो व्याख्यायें की जानी चाहिये थीं। परन्तु 'सीमतः' में 'सीम्' तथा अतस्' इन दो निपातों की कल्पना नहीं की जा सकती' क्योंकि, 'सीमतः' शब्द में 'त' उदात्त है। यदि 'सीम् + अतस्' होता तो 'सीम्' के अनुदात्त तथा 'अतस्' के आद्युदात्त होने के कारण 'सीमतः' पद मध्योदात्त होता। इसके अति-

रिक्त पदपाठ में 'सीमतः' को एक पद माना गया है दो नहीं । इसीलिये 'इतिच' से सन्तुष्ट न होकर 'अपि वा०' इत्यादि पंक्तियों में 'यास्क' ने एक दूसरा पक्ष रखा जिसमें 'सीम' इस प्रातिपदिक शब्द के साथ अनर्थक उपबन्ध ('तस् प्रत्यय) की कल्पना करके 'सीमतः' के शब्द की निष्पत्ति मानी गयी तथा 'सीमतः' के पर्याय के रूप में 'सीम्नः' शब्द को प्रस्तुत किया गया । जिस प्रकार सीमन्' के पंचमी विभक्ति के एक वचन में 'सीम्नः' प्रयोग बनता है, उसी प्रकार उसी अर्थ के वाचक 'सीम' शब्द से पंचमी विभक्ति के अर्थ में 'तस्' प्रत्यय आया हुआ है । अतः दोनों शब्दों का अर्थ एक है । 'सीमतः' को और अधिक स्पष्ट करने के लिये 'यास्क' ने दो और लौकिक-प्रयोगों—'सीमातः' तथा 'मर्यादातः' को प्रदर्शित किया है । सीमन्' तथा 'सीमा' में अन्तर केवल इतना ही है कि एक पुल्लिग है तो दूसरा स्त्रीलिंग और पहले की अपेक्षा दूसरा अधिक प्रसिद्ध है । 'सीमा' का ही लगभग दूसरा पर्याय 'मर्यादा' है । अतः उसके साथ भी 'तस्' प्रत्यय लगाकर यास्क ने उसे भी यहाँ प्रस्तुत किया ।

'स्कन्द' ने 'सीमतः' शब्द विषयक प्रकरण का उपक्रम करते हुये यह कहा है कि 'सीमतः' को 'नाम' शब्द माना जाय या निपात । इस विषय की विवेचना के लिये यास्क ने इस प्रकरण का आरम्भ किया है तथा 'सीमत' को निपात मानकर 'वि सीमत सुरुचोवेन आव' इस मंत्र को उद्धृत किया है । 'इति च' का अर्थ स्कन्द के अनुसार, यह है कि यह एक दूसरा 'सीमतः' निपात भी या तो

१—डा० लक्ष्मण स्वरूप ने यहाँ के इस पाठ को नीचे के पाठभेदों में स्थान दिया है तथा ऊपर ग्रन्थ भाग में 'अपि वा 'सीम्' इत्यनेन् 'नाम' पदम् इत्यादि पाठ स्वीकार किया है । परन्तु ग्रन्थभाग का यह पाठ सर्वथा अशुद्ध है क्योंकि 'सीम्' तो निश्चित रूप से निपात है ही—उसमें संदेह के लिए कोई स्थान ही नहीं है । इसलिये इस प्रकरण की संगति तथा स्वारस्य की दृष्टि से 'अपि वा 'सीम्' इत्येतन् 'नाम' पदम, पाठ ही ठीक है । निरुक्त में भी 'सीम्' तो इत्येद् अनर्थकम्······पंचमीकर्माणम्' पाठ से भी इसी बात की पुष्टि होती है ।

परिग्रहार्थीय है या पदपूर्णार्थीय है। परन्तु स्कन्द का यह कथन इसलिये असंगत है कि 'सीमत:' के 'नाम' (प्रातिपदिक) होने की तो बात ही नहीं उठती क्योंकि 'अभित:' आदि के समान वह तो सदा ही निपात है। चाहे सिम्+अतस्' सिमतः शब्द बनाया जाय या 'सीम+तस् से दोनों ही स्थितियों में निपात ही मानना होगा। 'नाम' नहीं। वस्तुत: प्रश्न यह है कि 'सीमत:' इस निपात में 'सीम्' इस निपात की सत्ता मानी जाय या 'सीम्' इस 'नाम' शब्द की ? कुछ लोग जो 'सीमत:' में 'सीम्' निपात मानते थे, सम्भवतः उनकी दृष्टि से यास्क ने 'इति च' कहा है। परन्तु इस मत के अनौचित्य को' जिसका प्रतिपादन ऊपर किया जा चुका है, देखते हुए यास्क ने दूसरे पक्ष की 'अपि वा०'। इत्यादि के द्वारा विस्तार से स्थापना की। स्वयं स्कन्द ने भी 'अपि वा०' इत्यादि की संगति लगाते हुए तथ्य का उल्लेख करते हुए यह कहा है कि 'सीमत:' में 'सीम्' यह निपात न होकर सीम्, यह नाम पद है, इस बात को यास्क की ये पंक्तियाँ स्पष्ट कर रही हैं। द्र०—"अपि वा सीमेत्येतन् नामपदं न निपात इत्याचष्टे"। 'सीम्' इत्येतत् प्रातिपादिकम्······आददीत पंचमी कर्माणम्। (स्कन्दभाष्य, भाग १, पृ० ७१)।

एक प्रश्न यहाँ विचारणीय यह है कि यास्क ने 'सीमत:' में 'तस्' प्रत्यय को अनर्थक क्यों माना ? 'सीमत:' में 'सीम' नाम मानते हुए तथा 'सीम्न:', 'सीमात:' 'मर्यादात:' इन प्रयोगों को 'सीमत:' की तुलना से प्रस्तुत करते हुए सीमतः के 'तस्' को किस प्रकार अनर्थक माना जा सकता है—यह बात समझ में नहीं आती। स्कन्द का यह कथन बहुत युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता कि चूँकि प्रत्यय को पंचम्यर्थक कह दिया गया तथा 'पंचमी' के अतिरिक्त 'तस्' का और दूसरा कोई अर्थ है नहीं इसलिए इस दृष्टि से 'तस्' प्रत्यय अनर्थक है। इसके विपरीत यह भी तो कहा जा सकता है कि जब प्रत्यय को 'पंचमी कर्मा' (पंचम्यर्थक) कहा गया तो फिर वह अनर्थक कैसे है ? यह तो 'वदतो व्याघात' दोष है। यह तो हो सकता है कि यदि 'सीम्' से 'सीमत:' बनाया जाय तो चूँकि 'सीम्' का यास्क के अनुसार, अपना ही अर्थ 'परिग्रह' (सर्वत:) है जैसा कि 'प्रसीम् आदित्योऽसृजत्' इस मंत्रांश की व्याख्या से स्पष्ट है। इसलिये उस

स्थिति में, 'तस्' को अनर्थक माना जा सकता है । परन्तु जहाँ प्रत्यय की अनर्थकता की बात कही गयी है, वहाँ 'सीमतः' में 'सीम्' नाम माना जा रहा है जिसका अर्थ 'परिग्रह' न होकर 'सीमा' है ।

प्रसंगतः 'सीमा' शब्द की व्युत्पत्ति तथा अर्थ भी यहाँ यास्क ने स्पष्ट कर दिया है । 'सीमा' मर्यादा को कहते हैं क्योंकि वह दो देशों प्रान्तों ग्रामों इत्यादि को एक दूसरे से अलग करती है । 'सीमा' शब्द यास्क की दृष्टि में 'वि' उपसर्ग के साथ 'सीव्' धातु से बना है । 'सीव्' का अर्थ है सीना परन्तु 'वि' उपसर्ग से संयुक्त होने के कारण उनका अर्थ होगा 'सिले हुए को उधेड़ना 'अलग करना' इत्यादि ।

टिप्पणी—'सीमतः' के बारे में यहाँ जो कुछ कहा गया—'वि सीमतः……' विषीव्यति देशों—उस पूरे अंश को राजवाड़े ने निरुक्त का मौलिक भाग न मानकर उसे प्रक्षिप्त माना है तथा इसका कारण यह दिया है कि एक शब्द के ही दो उदाहरण देना यास्क की शैली नहीं है । इसके अतिरिक्त यह अंश स्वयं में बहुत असम्बद्ध है । (द्र० पृ० २४५) परन्तु ये कारण बहुत महत्त्व नहीं रखते कि 'उ' निपात की पद-पूर्णार्थकता की दृष्टि से यास्क ने 'इदम् उ तद् उ' ये दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं । जहाँ तक असंगति और असम्बद्धता का प्रश्न है थोड़ी कठिनाई अवश्य उपस्थित होती है पर यह कहना उचित नहीं है कि उसका समाधान हो ही नहीं सकता, क्योंकि स्कन्द ने अपनी टीका में इस स्थल की अच्छी संगति लगाई है । सम्भवतः इस टीका को न देखने के कारण राजवाड़े ने इस स्थल को प्रक्षिप्त कहने का दुस्साहस किया ।

त्व सर्वनाम

मूल—

'त्व इति विनिग्रहार्थीयं सर्वनामानुदात्तम् । अर्धनाम इत्येके ।

ऋचां त्वः पोषम् आस्ते पुपुष्वान्
गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्याम्
यज्ञस्य मात्रां विमिमीतं उ त्वः ॥ (ऋ० वे० १०।७१।११)

इति ऋत्विक्कर्मणां विनियोगम् आचष्टे। ऋचाम् एकः पोषम् आस्ते पुपुष्वान् होता। ऋग् अर्चनी। गायत्रं एको गायति शक्वरीषु उदगाता। गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः शक्वर्यः ऋचः शक्नोतेः। (तद् यद् आभिर् वृत्रम् अशकद हन्तुम् तच् छक्वरीणां शक्वरीत्वम् इति विज्ञायते। ब्रह्म को जाते जाते विद्यां वदति। ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुम् अर्हति। ब्रह्मा परिवृढः श्रुततः। ब्रह्म परिवृढं सर्वतः। यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकः-अध्वर्युः। अध्वर्युर् अध्वरयुः। अध्वरं युनक्तिः। अध्वरस्य नेता। अध्वरं कामयत इति वा। अपि वाऽधीयाने युरः उपबन्धः। अध्वर इति यज्ञनाम। ध्वरतिर् हिंसाकर्मा, तत्प्रतिषेधः।

अनुवाद—'त्व विनिग्रह (निपमन) अर्थ वाला अनुदात्त सर्वनाम है। कुछ विद्वान् इसे 'आधे' अर्थ का वाचक मानते हैं। विनिग्रह अर्थ वाले 'त्व' का उदाहरण है—'ऋचां त्वः पोषम्'।

मन्त्रान्वयः—त्वः ऋचां पोषं पुपुष्वान् आस्ते। त्वः शक्वरीषु गायत्रं गायति। त्वः ब्रह्मा जातविद्यां वदति। उ त्वः यज्ञस्य मात्रां विमिमीते।

मन्त्रानुवाद—(यज्ञ में) एक ('होता' नाम ऋत्विज) ऋग्वेद के मन्त्रों के उच्चारण में लगा हुआ है। एक (उदगाता नामक ऋत्विज) 'शक्वरी' ऋचाओं पर 'गायत्र' (नाम साम) का गान करता है। एक 'ब्रह्मा' (नामक ऋत्विज)

प्रत्येक अवसर पर विशेष ज्ञान को प्रगट करता है। एक (दूसरा ऋत्विज 'अध्वरयु') के सम्पूर्ण क्रिया कलाप को करता है।

यास्कीय व्यवस्था का अनुवाद—(ऋचां त्वः०) इस मन्त्र के द्वारा (वेद) ऋत्विजों के कार्य की व्यवस्था बताता है। (एक) अर्थात् 'होता' ऋचाओं का उच्चारण करता है। 'ऋक्' (का अर्थ है) अर्चनी (जिसके द्वारा अर्चन-स्तुति) की जाय। एक उद्गाता 'शक्वरी' ऋचाओं पर 'गायत्र' (नामक साम) गाता है। 'गायत्र' (शब्द) स्तुति अर्थ वाले 'गै' (स्तुतौ) धातु से निष्पन्न होगा। 'शक्वरी' 'कुछ' ऋचाओं का नाम है तथा 'शक्' 'धातु' से बना है। 'ब्राह्मण ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि इन ऋचाओं के द्वारा 'इन्द्र' वृत्र को मारने में समर्थ हुआ। यह 'शक्वरी' ऋचाओं का शक्वरीत्व है। एक 'ऋत्विज' 'ब्रह्मा' अवसर अवसर पर अपने ज्ञान को प्रकट करता है। 'ब्रह्मा' सब विद्याओं का ज्ञाता है—सब कुछ जान सकता है। 'ब्रह्मा' शब्द 'बृह' धातु से बनेगा क्योंकि ज्ञान के द्वारा बहुत बढ़ा हुआ होता है। 'ब्रह्म' (परमब्रह्म या वेद) सबसे बढ़ा हुआ होता है। एक (ऋत्विज) अध्वर्यु है यज्ञ की इति कर्तव्यता (सम्पूर्ण क्रिया कलाप) को मापता है (पूर्ण करता है)। 'अध्वर्यु' शब्द वस्तुतः 'ऊध्वरयुः' है (जिस की चार व्युत्पत्तियाँ सम्भव हैं)। १—'अध्वरं युनक्ति'—यज्ञ का संयोजक। २—'अध्वरस्य नेता'—यज्ञ का नेतृत्व अथवा सम्पादन करने वाला। ३—'अध्वरं कामयते'—यज्ञ की जो कामना करता है। ४—अथवा यज्ञ के अध्ययन करने के अर्थ में (अध्वर शब्द से) 'यु' प्रत्यय (लगाया गया)। 'अध्वर' शब्द 'यज्ञ' का पर्याय है। 'ध्वृ' (धातु) 'हिंसा' अर्थ वाली है। उस (हिंसा) का (यज्ञ में) निषेध होता है।

व्याख्या—'त्व' शब्द के विषय में भी यास्क ने दो मत प्रस्तुत किये हैं। कुछ विद्वान् 'त्व' को सर्वनाम मानते हैं तो कुछ निपात। जो लोग 'त्व' को निपात मानते हैं उनकी दृष्टि से ही यास्क ने 'त्व' को, निपात विषयक चर्चा के इस प्रसंग में, यहाँ प्रस्तुत किया। परन्तु स्वयं यास्क 'त्व' को निपात न मान कर सर्वनाम मानते हैं क्योंकि यहाँ यास्क ने 'त्व' को स्पष्ट शब्दों में 'सर्वनाम' कहा है तथा आगे 'त्व' को निपात मानने के सिद्धान्त का खण्डन भी किया है।

'त्व' का अर्थ यास्क ने विनिग्रह अर्थात् कुछ इस प्रकार का नियम या व्यवस्था करना कि यह इस काम को करेगा। तथा दूसरा इस दूसरे काम को करेगा। सरल शब्दों में 'त्व' का अर्थ है 'एक' या 'कुछ'। यहाँ यास्क ने यह भी कहा है कि कुछ विद्वान् 'त्व' का अर्थ 'आधा' मानते हैं। स्वयं यास्क ने भी निरुक्त तीसरे अध्याय में 'त्व' तथा नेम को अर्ध का वाचक माना है। द्र०—'त्व नेम इत्यर्धस्य' (निरुक्त ३।२०)

टिप्पणी—वस्तुतः 'त्व' का अर्थ 'समुदाय में से कुछ या एक व्यक्ति या वस्तु' होता है। इस रूप में विनिग्रह, (पृथक् करना, या नियमन करना) अर्थ तो तब भी होता है जब 'त्व' का अर्थ 'आधा' या 'कुछ' माना जाता है। जैसे—
पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति (ऋ० वे० १।१४७।२)। 'अर्ध'-वाचक 'त्व' के उदाहरण के रूप में यास्क ने इसी मन्त्र को उद्धृत किया है। दुर्ग आदि कुछ विद्वान् यास्क के अनुकरण पर, यहाँ आधे लोग' ('त्व' इति एकम् अर्धम्) करते हैं। परन्तु सायण ने यहाँ भी 'त्व' का अर्थ 'एकः' ही किया है। Geldner भी यहाँ 'त्व' का अर्थ one (एक) करता है। द्र०—'One speaks with dislike (पीयति) another speaks with praise (अनुगृणाति)। इस रूप में यह स्पष्ट है कि 'त्व' का व्यापक अर्थ विनिग्रह ही है—'अर्ध', 'एक' या 'कुछ' इत्यादि अर्थ तो प्रसङ्गानुसार, उस नियम या व्यवस्था को प्रस्तुत करने के लिये, मान लिये जाते हैं। इसलिये 'त्व' के विषय में यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि 'त्व" को कुछ लोग अर्ध का वाचक मानते हैं" (**अर्धनाम इत्येके**) और न ही तृतीयाध्याय में **त्वो नेम इत्यर्धस्य** यह कहने की ही आवश्यकता है। मेकडानल भी 'त्व' Demonstrative Pronoun मानता है।

यह सर्वनाम केवल ऋग्वेद में ही मिलता है। अथर्ववेद तथा तैत्तिरीय संहिता में भी एक बार यह सर्वनाम प्रयुक्त हुआ है। यहाँ इसका अभिप्राय है 'एक', 'बहुत', 'अथवा दो या बहुतों में से एक'। जब 'त्व' की पुनरावृत्ति होती है तो उस पुनरावृत्त 'त्व' का अभिप्राय होता है—'दूसरा व्यक्ति या वस्तु।

यास्कीय व्यवस्था की व्याख्या—'विनिग्रह' अर्थ वाले 'त्व' के उदाहरण के रूप में यहाँ 'ऋचां त्वः पोषमः' मन्त्र प्रस्तुत किया गया है तथा यह कहा गया है कि इस मन्त्र के द्वारा वेद यज्ञ में ब्रह्मा इत्यादि चार ऋत्विजों के भिन्न-भिन्न कर्मों की व्यवस्था करता है। 'विनियोग' का अर्थ है यज्ञ-विषयक 'व्यवस्था'। यहाँ 'आचष्टे' का कर्ता वेद को माना जा सकता है। स्पष्ट है कि यास्क ने इस मन्त्र को यज्ञपरक मान कर इसकी व्याख्या विशुद्ध याज्ञिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत की है।

मन्त्र के प्रथम चरण में 'होता' के कर्म की व्यवस्था बतायी गई है। 'त्वः' अर्थात् एक ऋत्विक्—'होता'—ऋचाओं अर्थात् ऋग्वेद के मन्त्रों के दोष को पुष्ट करता रहता है। 'ऋक्' शब्द 'अर्च्' (स्तुतौ) धातु से बनेगा। 'ऋक्' का अर्थ है 'अर्चनी' जिससे स्तुति की जाय। 'अर्च्यतेऽनया इति अर्चनी 'इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'अर्च्' धातु से 'करण' में 'ल्युट्' (अन) प्रत्यय तथा स्त्रीलिंग में 'ङीष' (ई) प्रत्यय करके 'अर्चनी' शब्द बनेगा। इस रूप में 'ऋक्' तथा 'अर्चनी' शब्द समानार्थक हैं। **पोषम् पुपुष्वान् आस्ते** यहाँ 'पोषम्' (पुष्+णवुल्) का अर्थ है 'पुष्टि' तथा उसका प्रासंगिक अर्थ है 'उच्चारण'। इसी प्रकार 'पुपुष्वान् (पुष्+क्वसु, धातु को द्वित्व, प्रथमा विभक्ति, एकवचन) का अर्थ है पुष्ट करता हुआ अर्थात् उच्चारण करता हुआ अथवा स्कन्द के अनुसार ऋचाओं का यथाविधि कर्म में प्रयोग करता हुआ। यज्ञकर्म में ऋचाओं का पाठ या उच्चारण 'होता' ही करता है—इस तरह की व्यवस्था शतपथ (११।४।२।७) तथा ऐतरेय (२५।८) में भी मिलती है।

द्वितीय चरण में 'उद्गाता'-'उद्गाता' के कार्य की व्यवस्था है। एक दूसरा 'ऋत्विक--शक्वरी' नामक ऋचाओं पर 'गायत्र' साम का गान करता है। 'गायत्र' शब्द 'स्तुति' अर्थ वाले 'गै' धातु से औणादिक प्रत्यय करके निष्पन्न माना गया है। 'गायत्र' एक साम-विशेष का नाम है। इसी प्रकार 'शक्वरी' शब्द 'शक्' धातु से 'औणादिक वनिप्' स्त्रीलिंग में 'र का आगम' और 'इ' प्रत्यय होकर निष्पन्न माना जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी 'शक्वरी' शब्द की व्युत्पत्ति 'शक्' धातु से मानी गई है। ब्राह्मणों में यह कहा गया है कि चूँकि इन ऋचाओं से इन्द्र वृत्र को मार सका

इसलिये इन ऋचाओं का नाम 'शक्वरी' पड़ गया। द्र०—**एताभिर् वै इन्द्रो वत्रम् अशकद् हन्तुम्। तद् यद् आभिर् वृत्रम् अशद् हन्तुं तस्मात् शक्वर्यः** (कौषीतकी ब्रा० २३।२ तथा **यद् इमान् लोकान् प्रजापतिः सृष्ट्वा इदं सर्वशक्नोद् यद् इदं किंच तच् छक्वर्योऽभवंस्तच् छक्वरीणां शक्वरीत्वम्** (ऐतरेय २२।२)। यहीं सायणभाष्य के एक स्थल से पता लगता है कि **विदा मघवन्** इत्यादि नव ऋचाओं को, जिनका एक सामान्य नाम 'महानाम्नी' ऋचायें भी हैं, 'शक्वर' साम से गाया जाता है। सम्भवतः इसी कारण इन 'महानाम्नी' ऋचाओं को 'शक्वरी' भी कहा जाने लगा। यहाँ मंत्र में, यास्क की व्याख्या के अनुसार, 'शक्वरी' ऋचाओं को 'गायत्र' साम पर गाने का उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण [२५।८] में कहा है—**साम्ना उद्गीथम्** अर्थात् साम-गान 'उद्गाता' का कार्य है।

तीसरे चरण में ब्रह्म' के कार्य की व्यवस्था है। यज्ञ में जब जब किसी 'विधि' आदि के विषय में कोई विवादास्पद प्रसंग उपस्थित होता या कोई निर्णय देने की आवश्यकता पड़े तब तब 'ब्रह्मा' का यह कर्तव्य होता है कि उन विवादों का समाधान ब्रह्मा करे तथा अपना निर्णय दे। इस प्रकार के विभिन्न अवसरों पर 'ब्रह्मा' अपनी विशिष्ट विद्या एवं ज्ञान को प्रकट करता है। मंत्र के 'जात विधाम्' शब्द का अर्थ यास्क ने 'जाते-जाते विधाम्' किया है। 'जाते-जाते' अर्थात् जब-जब कोई अवसर उपस्थित हो। 'दुर्ग' तथा 'स्कन्द' ने जाते-जाते का अर्थ किया है 'जाते-जाते प्रायश्चित्ते' अर्थात् जब कोई विधि अपूर्ण रह गयी हो, अनुचित रूप से की गई हो या इसी तरह का कोई और दोष या अपराध हो गया हो तो 'ब्रह्मा' यह बताता है कि इस दोष के निवारण के लिये यह प्रायश्चित करना चाहिये। 'ब्रह्मा' के वैशिष्ट्य को बताते हुए यास्क ने यह कहा है कि 'ब्रह्मा' सर्वविद्य होता है—सभी विद्याओं (वेदों तथा कर्मकाण्ड सम्बन्धी ज्ञानों) का जानने वाला होता है तथा जिस बात को नहीं जानता उसे भी अपनी प्रतिभा के द्वारा जानने की योग्यता रखता है। अन्य ऋत्विजों का ज्ञान एक-एक वेद तक सीमित होता है—'होता' को केवल ऋग्वेद का ज्ञान होता है, 'अध्वर्यु' को यजुर्वेद तथा 'उद्गाता' को सामवेद का। परन्तु ब्रह्मा को इन तीनों वेदों का ज्ञान होता है

इसलिये उन्हें 'त्रयीविद्य' भी कहा गया है। ऋत्विजों में 'ब्रह्मा' के लिये यह आवश्यक माना गया था कि वह सबसे अधिक ज्ञानी हो तथा वेदों और शास्त्रों का पूर्ण ज्ञाता हो। इसलिये शतपथ-ब्राह्मण (११।४।२।७) में यह कहा गया **'अथ केन ब्रह्मत्वम् इति ? अनया त्रय्या विद्यया इति'** इसी प्रकार का कथन ऐतरेय ब्राह्मण (२५।८) में भी मिलता है।

'ब्रह्मा' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए यास्क ने यह कहा कि 'ब्रह्मा' 'श्रुत' अर्थात् ज्ञान के द्वारा बहुत आगे बढ़ा हुआ होता है (परिवृढः श्रुततः)। 'ब्रह्मा' शब्द के समान ही एक दूसरा नपुंसक लिंग 'ब्रह्मन्' शब्द है जिसका अर्थ होता है—'परम विधाता प्रभु' अथवा 'वेद'। उसकी दृष्टि से व्युत्पत्ति करते हुए यास्क ने कहा कि ब्रह्मन् को 'ब्रह्मन्' इसलिए कहा जाता है कि वह सबसे आगे, सबसे बढ़ा हुआ, सबसे श्रेष्ठ होता है (ब्रह्म परिवृढं सर्वतः) इन व्युत्पत्तियों से यह भी स्पष्ट होता है कि 'ब्रह्मा' शब्द 'वृह्' धातु से 'मनिन्' प्रत्यय करके निष्पन्न होगा। परिवृढ' शब्द 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'वृह्' धातु से 'क्त' प्रत्यय करके बना है।

मंत्र के चौथे चरण में चौथे ऋत्विक्—'अध्वर्यु' के कार्य की व्यवस्था है। यज्ञ करते हुए जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है, उन सबका प्रबन्ध 'अध्वर्यु' ही करता है। इसीलिए यज्ञ से सम्बद्ध सभी क्रियाकलापों तथा वस्तुओं के लिये यहाँ मंत्र में यज्ञस्य मात्राम् शब्द का प्रयोग किया गया। 'विमिमीते' शब्द का अर्थ है बनाता है-सम्पादन करता है। द्र०—**यज्ञो यया मीयते अभिषवग्रहणादिकया क्रियया तां मात्रां यज्ञ शरीरम्**... ... ... **विमिमीते-अत्यर्थं निर्मिमीते** (सायण भाष्य.......................) यहाँ मंत्र में 'अध्वर्यु' शब्द यद्यपि प्रयुक्त नहीं हुआ है फिर भी यास्क ने विशेष विस्तार के साथ इस शब्द का निर्वचन किया है। पहले तो 'अध्वर्यु' शब्द को 'अध्वर्यु' शब्द के द्वारा, दोनों को समानार्थक बताते हुए, स्पष्ट किया गया। उसके बाद 'अध्वरयु' शब्द की चार व्युत्पत्तियाँ दी गईं। **पहली-अध्वरं युनक्ति'** अर्थात् अध्वर्यु को 'अध्वर्यु' इसलिए कहा जाता है कि वह 'अध्वर' अर्थात् यज्ञ की संयोजना अथवा व्यवस्था करता है। इस प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार 'अध्वर' शब्द तथा 'युज्' धातु से अध्वर्यु बनेगा। **दूसरी** व्युत्पत्ति है—

'अध्वरं नयति' अर्थात् यज्ञ का नेता। यज्ञ के विविध क्रिया कलापों का सम्पादन करने वाला। अर्थ की दृष्टि से प्रथम और द्वितीय व्युत्पत्ति में कोई विशेष अन्तर नहीं है परन्तु शब्द निष्पादन की दृष्टि से अवश्य अन्तर है। इस दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार जैसा कि स्कन्द का कहना है, 'अध्वर' शब्द तथा 'पा' धातु (जिसमें 'णिच्' का अर्थ अन्तर्भाव है) से 'अध्वर्यु' शब्द बन सकेगा। तीसरी व्युत्पत्ति है 'अध्वरं कामयते' अर्थात् जो यज्ञ के सम्पादन की इच्छा करता है। यहाँ इच्छा अर्थ में 'अध्वर' शब्द से 'क्यच्' प्रत्यय, 'अध्वर' के अन्तिम वर्ण अ का लोप तथा 'उ' प्रत्यय करके 'अध्वर्यु' शब्द बनेगा। द्र०—'कव्यध्वर-पृतनस्यर्चि लोपः' (अष्टा० ७।४।३९) तथा '**क्याच्छन्दसि**' (अष्टा० ३।२।१७०)। **चौथी** व्युत्पत्ति है "(अध्वरम्) अधीयाने 'यु' प्रत्ययः" अर्थात् जो 'अध्वर' (यज्ञ) से सम्बन्ध वेद (यजुर्वेद) का अध्ययन करता है उसे कहने के लिए तद्धित 'यु' प्रत्यय करके 'अध्वर्यु' शब्द बनेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि अध्ययन करने के अर्थ में 'यु' प्रत्यय का विधान करने वाला सूत्र उस समय के व्याकरण में विद्यमान था। पाणिनि ने 'तद्धीते तद् वेद' (अष्टा० ४।२।५९) सूत्र के अधिकार 'अध्ययन' के अर्थ में विभिन्न प्रत्ययों का विधान तो किया है पर वहाँ 'यु' प्रत्यय का उल्लेख नहीं मिलता।

'अध्वर्यु' शब्द के निर्वाचन के प्रसंग में यास्क ने 'अध्वर' के निर्वचन पर भी विचार किया है तथा यह कहा है कि 'अध्वर' शब्द यज्ञ का पर्याय है। यज्ञ को 'अध्वर' इसलिए कहा जाता है कि उसमें हिंसा नहीं होती—हिंसा का निषेध होता है। हिंसा' अर्थ वाले 'ध्वृ' धातु से 'अच्' प्रत्यय करके 'ध्वर' शब्द, तथा उसके साथ 'नञ्' समास करके 'अध्वर' शब्द बनेगा। इस रूप में 'अध्वर' शब्द की व्युत्पत्ति होगी—**अविद्यमानो ध्वरो (हिंसा) यस्मिन् सोऽध्वरः**'। यहाँ यास्क ने 'ध्वृ' धातु को हिंसार्थक माना है तथा निघण्टु में 'वध' अर्थ वाली धातुओं में 'ध्वर' का भी पाठ है परन्तु पाणिनीय धातु पाठ में 'ध्वृ' का अर्थ है 'हूर्च्छन' अर्थात् ठगना, प्रवंचना करना। इसी से आजकल का प्रसिद्ध 'धूर्त' शब्द निष्पन्न है।

टिप्पणी—'अध्वर' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए यास्क ने यह माना कि यज्ञ में हिंसा नहीं होती। परन्तु यज्ञ सम्बन्धी विविध विधानों के विधायक ब्राह्मण

तथा श्रोत आदि ग्रन्थ अनेक भागों में पशु हिंसा तथा यहाँ तक कि मानव हिंसा का भी विधान करते हैं। परन्तु इन हिंसापूर्ण विधि-विधानों का समाधान यास्क तथा उनके टीकाकार यह करते हैं कि यज्ञ में हवि के रूप में जो पशु आदि की हिंसा की जाती है वह उनकी हिंसा नहीं है अपितु यह तो, एक प्रकार से, उन पशु आदि पर उपकार है। क्योंकि यज्ञार्थ उनका वध करके उन्हें स्वर्ग पहुँचाया जाता है। स्वयं संहिताओं में भी इस आशय के वाक्य मिलते हैं कि यज्ञ में वध किये पशु आदि वस्तुतः मरते नहीं अपितु कल्याणकारी मार्ग से देवलोक को प्राप्त होते हैं। द्र० **न वा एतन् म्रियसे नोत रिष्यसि। देवम् इद् एषि पथिभिः शिवेभिः। यत्र यन्ति सुकृतो नापि दुष्कृतः तत्र त्वा देवः सविता दधातु** (मैत्रायणी संहिता १।२।११५)। इस प्रकार के आम्नाय वचनों अर्थात् वेद-वाक्यों के आधार पर यज्ञीय हिंसा को हिंसा नहीं माना जा सकता द्र०- **आम्नायवचनाद् अहिंसा प्रतियेत** (निरुक्त १।१७) संभवतः इस आशय को मीमांसकों ने **वैदिक हिंसा हिंसा न भवति** इस परिभाषा में व्यक्त किया है।

इस रूप में **ऋचां त्वः पोषम्०** इस मन्त्र में चार बार 'त्वः' शब्द का प्रयोग हुआ है जो, यास्क की उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार, चारों ऋत्विजों के भिन्न-भिन्न कार्यों के निर्देश के लिये किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'त्व' का अर्थ नियमन करना है।

'त्व' को निपात मानने के सिद्धान्त का खण्डन

मूल—

निपात इत्येके। तत् कथम् अनुदात्त प्रकृति नाम स्यात्? दृष्ट व्ययं तु भवति उतत्वं सख्ये स्थिर पीतम् आहुः (ऋ० वे० १०।७१।५) इति द्वितीयायाम् उतो त्वस्मै तन्वं ? विसस्रे (ऋ० वे० १०।७१।४) इति चतुर्थ्याम्। अथापि प्रथमा बहुवचने:—

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायः मनोजवेष्वसमा बभूवुः।

आदघ्नास उपकक्षास उत्वे ह्रदा इव स्नात्वा उत्वे ददृश्रे ॥

अक्षिमन्तः कर्णवन्तः [सखायः] । अक्षिः चष्टेः । अनक्तेर् इत्याग्रायणः । तस्माद् एते व्यक्ततरे इव भवतः । इति विज्ञायते । कर्णः कृन्ततेः । निकृन्तद्वारौ भवति । ऋच्छतेर् इत्याग्रायणः । ऋच्छन्तीव खे उद्गन्ताम् इति ह विज्ञायते । मनसां प्रजवेषु असमा बभूवुः । आस्य-दघ्ना अपरे । उपकक्ष दघ्ना अपरे । आस्यम् अस्यते । आस्यन्दते एनद् अन्नम् इति वा । दघ्नम् दध्यतेः स्रवतिकर्मणः । दस्यतेर्वा स्यात् विदस्ततरं भवति । प्रस्नेभा ह्रदा इव एके ददृशिरे । प्रस्नेया स्नानार्हा । ह्रदो ह्रादतेः शब्दकर्मणः । ह्लादतेर् वा स्याच् छीती भावकर्मणः ।

अनुवाद—('त्व') निपात है ऐसा कुछ लोगों का मत है। (परन्तु 'त्व') निपात न होकर सर्वनाम है क्योंकि) यदि ऐसा न होता (निपात होता) तो 'त्व' अनुदात्त स्वर वाला कसे होता? ('त्व' शब्द के रूप का) परिवर्तन (भी) तो देखा जाता है। जैसे—उत त्वं सरत्ये स्थिर धीतम् आहुः (और कुछ को ज्ञान के विषय में प्रौढ़ अभ्यास वाला मानते हैं) यहाँ द्वितीय विभक्ति में, उत त्वस्मै तन्वं विसस्त्रे (और किसी विशिष्ट व्यक्ति के लिये शरीर को अनावृत कर देती है) यहाँ चतुर्थी (विभक्ति) में ('त्व') का प्रयोग हुआ है। इसके अति-रिक्त प्रथमा विभक्ति में भी ('त्व के) प्रयोग मिलते हैं। जैसे—अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः० ।

मन्त्रान्वय—अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायः मनोजवेषु असमा बभूवुः उत्वे आदघ्नास (ह्रदा इव, उत्वे) उपकक्षासः (ह्रदा इव), उत्वे स्नात्वा ह्रदा इव ददृश्रे ।

मन्त्रानुवाद—(समान) आँख वाले तथा (समान) कान वाले और समान इन्द्रिय (अथवा 'नाम') वाले (व्यक्ति भी) मन की गतियों में समान नहीं होते।

कुछ मुख तक (जल वाले तालाबों के समान और कुछ) कांख के समीप तक (जल वाले तालाब के समान) और कुछ (अच्छी तरह) स्नान करने योग्य (जल वाले) तालाब के समान दिखाई देते हैं।

यास्कीय व्याख्या का अनुवाद—(समान) आँख वाले, कान वाले तथा समान इन्द्रिय वाले। 'अक्षि' शब्द 'चक्ष्' धातु से निष्पन्न होगा काञ्ज्' (प्रकाशित होना या करना) से ('अक्षि' शब्द) बनेगा **आग्रायण** (आचार्य) मानते हैं। (ब्राह्मण ग्रन्थों से) यह पता लगता है कि "इस कारण ये (आँखे अन्य अंगों की अपेक्षा) अधिक व्यक्त सी होती हैं।" 'कर्ण' (शब्द) 'कृन्त' (कृती छेदने) धातु से निष्पन्न हुआ है क्योंकि कान कटे हुए द्वार वाला होता है। 'ऋच्छ' (धातु) से (कर्ण शब्द) बनेगा ऐसा **आग्रायण** मानते हैं। (ब्राह्मण ग्रन्थों से) यह ज्ञात होता है कि 'दोनों कानों के दोनों आकाश (बिल) मानों ऊपर की ओर चले गये हैं (ऊपर की ओर स्थित हैं)।

(परन्तु) मन, बुद्धि तथा अहंकार की वेगों (स्थितियों) में वे (समान आँख, कान तथा नाक वाले व्यक्ति भी) असम होते हैं। (जिस प्रकार समान रूप तथा नाम वाले भी) कुछ तालाब मुख तक (जल वाले) होते हैं। कुछ (तालाब) काँख तक (जल वाले) होते हैं। 'आस्य' शब्द 'अस' (क्षेपणे) से बनेगा अथवा ('स्यन्द प्रस्रवणे' से 'आस्य' शब्द बनाया जा सकता है क्योंकि अन्न मुख में जाकर गीला हो जाता है। 'दघ्न' शब्द 'स्रवण' अर्थ वाली 'दघ्' (धातु) से बन सकता है अथवा 'दस्' (दसु उपक्षेय धातु) से ('दघ्न' शब्द) बन सकता है, क्योंकि (सभी परिमाण अपने से बड़े परिमाण की अपेक्षा) क्षीणतर होता है। ('स्नात्वा:' का अर्थ है) 'प्रस्नेया:' (अच्छी तरह से स्नान करने योग्य)। कुछ लोग नहाने योग्य तालाब के समान दिखाई देते है। (प्रस्नेया: का अर्थ है) 'स्नानार्हा:'। 'ह्रद' (शब्द) 'शब्द करना' अर्थ वाली 'ह्राद' (धातु) अथवा 'शीतल होना' अर्थ वाले 'ह्लाद् (धातु) से बनेगा।

व्याख्या—'त्व' नाम (सर्वनाम) है निपात नहीं—

निरुक्त के इस स्थल से यह पता लगता है कि कुछ विद्वान् 'त्व' को निपात मानते थे। यह स्पष्ट है कि ये कौन से विद्वान् थे। यहाँ यास्क इन विद्वानों के मत का संकेत करके उसका खण्डन करने की दो युक्तियाँ देते हैं।

पहली युक्ति यह है कि 'त्व' सदा ही अनुदात्त स्वर वाला मिलता है। यदि यह निपात होता तो **निपाता आद्युदाता:** (निपात आद्युदात होते हैं) इस फिट् सूत्र (८०) के अनुसार इस 'त्व' को भी उदात्त होना चाहिये था। दूसरी युक्ति यह है कि 'त्व' का भिन्न-भिन्न लिंगों तथा भिन्न-भिन्न विभक्तियों में रूप-परिवर्तन देखा जाता है। जैसे पुंल्लिग 'त्व' के प्रथमा विभक्ति एकवचन में 'त्व:' बहुवचन में 'त्वे' द्वितीया विभक्ति एकवचन में 'त्वम्', तृतीया विभक्ति एकवचन में 'त्वेन' तथा चतुर्थी विभक्ति एकवचन में 'त्वस्मै' प्रयोग मिलते हैं। इस प्रकार स्त्रीलिंग 'त्व' के प्रथमा एकवचन में 'त्वा' चतुर्थी एकवचन में 'त्वस्मै' प्रयोग मिलते हैं तथा नपुंसकलिंग वाले 'त्वत् का प्रयोग ब्राह्मणों में मिलता है। यास्क ने, उपलक्षण के रूप में पुंल्लिग 'त्व' के द्वितीया तथा चतुर्थी विभक्तियो के एकवचन और प्रथमा विभक्ति के एकवचन तथा बहुवचन के प्रयोग, बिना किसी क्रम के, प्रस्तुत किये हैं। इन विविध रूपों में परिवर्तित होने के कारण 'त्व' को निपात नहीं माना जा सकता क्योंकि निपात सदा ही अपरिवर्तित रूप वाले होते हैं। इसीलिये निपातों का एक दूसरा नाम 'अव्यय' भी है। अव्ययों के स्वरूप तथा 'अव्यय' नाम की सार्थकता निम्न कारिका में स्पष्ट की गई है :—

सदृशं त्रिषु लिंगेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तद् अव्ययम्।

टिप्पणी—यहाँ यास्क ने 'तत् कथम् अनुदात्त प्रकृति नाम स्यात्' इस वाक्य से 'त्व' को निपात मानने वाले विद्वानों पर पहला आक्षेप किया तथा 'द्रष्टव्ययं' तु के द्वारा दूसरा। प्रथम आक्षेप में इस पंक्ति में विद्यमान 'नाम' शब्द को वाक्यालंकार के रूप में प्रयुक्त मानना चाहिये न कि प्रातिपदिक अर्थ वाले 'नाम' शब्द के रूप में। दूसरे आक्षेप में 'द्रष्टव्ययम्' शब्द 'त्वपदम्' का विशेषण है। **दृष्ट: व्यय: (परिवर्तनं विकारो वा) यस्य तत् दृष्टव्ययं** इस विग्रह के अनुसार इस वाक्य का अर्थ है कि 'त्व' शब्द के रूप में परिवर्तन देखा जाता है। यहाँ 'तु' को पहले आक्षेप या हेतु की दृष्टि से समुच्चय (च) का वाचक मानना चाहिये।

"स्कन्द माहेश्वर" ने अपनी टीका में तत् कथम् अनुदात्त प्रकृति नाम

स्यात् ? इस वाक्य की जो व्याख्या की है उसके अनुसार इस वाक्य में निपात-वादियों की ओर से 'त्व' को 'नाम' (प्रातिपदिक) मानने वालों पर यह आक्षेप किया गया है कि अनुदात्त स्वर वाला 'त्व' शब्द 'नाम' अर्थात् प्रातिपदिक कैसे हो सकता है। 'प्रातिपदिक' शब्द तो 'किषोऽन्त उदात्तः' (फिट् सूत्र १) के नियम से अन्तोदात्त होना चाहिये। वे इस वाक्य में प्रयुक्त 'नाम' शब्द को 'प्रातिपदिक' अर्थ का वाचक मानते हैं तथा 'दृष्टव्ययं तु भवति में विद्यमान 'तु' को पक्ष-व्यावृत्ति का सूचक मानते हैं। परन्तु यदि यह व्याख्या मानी जाय तो इसका यह अर्थ हुआ कि निपातवादियों के इस आक्षेप को, कि 'अनुदात्त' स्वर वाला 'त्व' नाम (प्रातिपदिक) कैसे हो सकता है ?' सुनकर बिना उसका उत्तर दिये ही यास्क ने 'दृष्टव्ययं तु भवति' यह अपनी बात कह दी। इसलिये यह व्याख्या उचित नहीं प्रतीत होती।

'त्व' शब्द सर्वनाम है या दूसरे शब्दों में 'नाम' पद है। परन्तु 'नाम' पद होते हुये भी अनुदात्त स्वर वाला है। और न केवल 'त्व' अनुदात्त स्वर वाला है अपितु 'त्व' 'त्वत्', 'नेत्र', 'सम' तथा 'सिम' शब्द भी ऐसे हैं जो 'नाम' हैं और साथ ही अनुदात्त भी। इसीलिए फिट् सूत्रकार शन्तनु 'किषोऽन्त उदात्तः' अर्थात् 'नाम' या प्रातिपदिक शब्द अन्तोदात्त होते हैं। यह नियम बनाकर फिर उसके अपवाद के रूप में 'त्वत् त्व-नेत्र-सम-सिमेत्यनुत्त्यानि' (फिट सूत्र ७८) यह सूत्र बनाया जिसमें 'त्व' आदि नाम पदों की अनुदात्तता को स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त शन्तनु का यह सूत्र इस बात की भी स्पष्ट सूचना दे रहा है कि 'त्व' निपात न होकर सर्वनाम है क्योंकि 'त्व' को 'नेम' इत्यादि सर्वनाम पदों के साथ सूत्र में प्रयुक्त किया गया है। पाणिनीय गणपाठ के सर्वादिगण में भी, जिसमें सर्वनाम शब्दों का संग्रह किया गया है, 'त्व' तथा उसके बाद 'त्वत्' 'नेम' 'सम', 'सिम' इत्यादि शब्दों का पाठ मिलता है। अतः उससे भी 'त्व' के सर्वनाम होने की पुष्टि होती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यास्क 'त्व' को 'नाम' (सर्वनाम) मानते हैं निपात नहीं—और वही मत युक्तियुक्त है। समझ में नहीं आता कि बृहद्-देवताकार शौनक ने किस प्रकार यह कहने का दुस्साहस किया कि यास्क को 'त्व' पद की 'जाति' का पता नहीं लग सका। द्र०—**पदजातिर् अविज्ञाता त्वः**

पढे (बृहद्देवता २।११४) क्या शौनक 'त्व' को निपात मानने वाले विद्वानों में से हैं ? यदि ऐसा है तो स्वयं उनका मत ही भ्रमपूर्ण है। और यदि वे यह समझ रहे हैं कि यास्क ने 'त्व' को निपात माना है और यह यास्क की भूल है तो भी उन्हीं को भ्रान्त माना जायगा—यास्क को नहीं।

यास्कीय व्यवस्था की व्याख्या—मंत्र के 'अक्षण्वन्तः' शब्द के स्थान पर, उसे सरल करने के लिये, यास्क ने अपनी व्याख्या में 'अक्षिमन्तः' शब्द का प्रयोग किया है। ऋग्वेद में 'अक्षन्' तथा 'अक्षि' दोनों प्रकार के शब्दों का प्रयोग हुआ। लौकिक संस्कृत में 'अक्षन्' शब्द प्रयुक्त तो नहीं हुआ है पर 'अक्षि' शब्द के विभक्ति रूपों में 'अक्षन्' शब्द अनेक बार प्रयुक्त दिखाई देता है। द्र०—**अस्थि-दधि-सक्थ्यक्ष्णाम् अनङ् उदात्तः** (अष्टा० ७।१।७५)। 'अक्षण्वता' यह प्रयोग 'अक्षन्' शब्द से 'मतुप् प्रत्यय करके निष्पन्न हुआ है। इसलिये पद-पाठ में 'अक्षन्' के बाद अवग्रह देखा जाता है। पाणिनि ने सम्भवतः 'अक्षन्' शब्द मानते हुए भी 'णत्व' आदि व्याकरण शास्त्रीय कार्यों की दृष्टि से 'अनो नुट्' (अष्टा० ८।१।१६) सूत्र के द्वारा 'न्' को 'अन्' का अंशम मानकर 'मतुप्' का अंश मान लिया है।

'अक्षि' शब्द की व्युत्पत्ति यास्क ने 'चक्ष्' (देखना) धातु से की है। यास्क से प्राचीन आचार्य **आग्रायण** ने 'अञ्ज्' (प्रकाशित होना या करना) धातु से 'अक्षि' शब्द की निष्पत्ति मानी थी। ब्राह्मणग्रन्थकारों को भी 'अञ्ज्' धातु से ही 'अक्षि' शब्द बनाना अभीष्ट था। इसी दृष्टि से यास्क ने किसी ब्राह्मण का—**तस्माद् एते व्यक्ततरे इव भवतः** यह वाक्य उद्धृत किया है जिसमें यह कहा गया है कि आँखें अधिक व्यक्त सी होती हैं। महाभाष्य में पतञ्जलि ने दो स्थानों पर 'अक्षि' शब्द की व्युत्पत्ति की है। एक स्थान पर 'अश्' धातु से द्र०—**अश्नोतेर् अयस् औणादिकः करणसाधनः 'सि' प्रत्ययः। अश्नुतेऽनेन इत्यक्षि** (महाभाष्य ३।२।११५) तथा दूसरे स्थान पर 'अञ्ज्' धातु से। (द्र०—**अञ्जेरअञ्जनम्। अञ्जनं च प्रकाशनम् 'अङ्क्तेऽक्षिणी' इत्युच्यते** (महा-भाष्य ८।२।४८) उणादिकोश (३।१५६) में 'अश्' धातु से 'अक्षि' शब्द बनाया गया है।

'कर्ण' शब्द की व्युत्पत्ति यास्क ने 'छेदने' या 'काटने' अर्थ वाले 'कृन्त्'

(कृती छेदने) धातु से की है तथा हेतु यह दिया है कि कान का द्वार कटा हुआ होता है (निकृतद्वारो भवति)। यहाँ भी **आग्रायण** की व्युत्पत्ति यास्क से भिन्न है। **आग्रायण** 'कर्ण' को 'ऋच्छ्' (गतौ) धातु से निष्पन्न मानते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थकारों को भी 'ऋच्छ्' धातु से ही 'कर्ण' शब्द बनाना अभीष्ट था। इसी दृष्टि से **ऋच्छन्ति इव खे उद्गन्ताम्** यह उद्धरण किसी ब्राह्मण-ग्रन्थ से दिया गया। यह वाक्य बहुत अस्पष्ट है। 'दुर्ग' ने इस वाक्य की जो व्याख्या की है उसका अभिप्राय यह है कि आकाश में अभिव्यक्त शब्द कानों की ओर आते हैं (**ऋच्छन्ति इव एतौ कर्णौ खेऽभिव्यक्ता शब्दाः**) तथा कान उन शब्दों को ग्रहण करने के लिये शरीर में ऊपर की ओर गये हुये होते हैं। (**एतावपि च उद्गन्ताम् प्रत्युद्गच्छत् इव ग्रहणाय**)। परन्तु इस व्याख्या में ऊपर से अनेक शब्दों का अध्याहार करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त इस व्याख्या के अनुसार 'ऋच्छन्ति' क्रिया से कर्त्ता 'शब्द' बनते हैं न कि 'कर्ण'। जब कि अभीष्ट यह है कि 'कर्ण' इस 'ऋच्छन्ति' क्रिया के कर्त्ता हों। क्योंकि 'कर्ण' को 'ऋच्छ्' धातु से व्युत्पन्न मानने में इस ब्राह्मण वाक्य को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। साथ ही इस व्याख्या में 'खे' शब्द को 'सप्तमी' का एकवचन मानना होगा तथा ऐसा मानने पर 'खे' शब्द की 'प्रगृह्य' संज्ञा न होने के कारण 'खे उद्गन्तम्' यह सन्धिरहित पाठ साधु नहीं माना जा सकता।

इसीलिये, इन आपत्तियों के कारण, इस व्याख्या को अरुचिर मानते हुए स्कन्द ने इस वाक्य की दूसरी व्याख्या की है। स्कन्द-व्याख्या के अनुसार 'ऋच्छन्ति' तथा 'खे' ये दोनों शब्द क्रमशः 'ऋच्छत्' (ऋच्छ + शतृ) तथा 'खम्' (कर्ण विवर) इन नपुंसकलिंग वाले शब्दों के प्रथमा विभक्ति द्विवचन के रूप हैं। यहाँ 'खे' का अर्थ है दोनों कानों के दोनों द्वार या विवर। इस प्रकार वाक्य का अभिप्राय यह हुआ कि 'जाते हुए से कानों के दोनों बिल शरीर के ऊपरी भाग में जाकर स्थित हैं। इस तरह कानों का 'ऋच्छति' क्रिया से सीधा सम्बन्ध हो जाता है। इस व्याख्या के अनुसार यहाँ **ऋच्छन्ति इव खे उद्गन्ताम** यह सन्धिरहित पाठ मानना होगा क्योंकि द्विवचनान्त 'ऋच्छन्ती' की प्रगृह्य संज्ञा हो जाने से 'ऋच्छन्ती' तथा 'इव' में सन्धि नहीं हो सकेगी।

'सखायः' शब्द को सम्भवतः सरल समझ कर यास्क ने उसकी कोई

व्याख्या नहीं की है । 'सखा' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—'समान इन्द्रिय वाले' तथा 'समान नाम वाले' । यहाँ दूसरा अर्थ ज्यादा सुसंगत प्रतीत होता है । 'समानं ख्यानं येषाम्' इस विग्रह के अनुसार 'सखा' शब्द दूसरे अर्थ को प्रकट करेगा । यास्क ने सवर्ग आगे (निरुक्त ७।३०) 'सखा' शब्द का अर्थ 'सामानख्याना:' किया है । 'ख्यायते अनेन इति ख्यानम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार करण में 'ल्युट्' प्रत्यय मानकर 'समानख्याना:' का अर्थ होगा वे लोग जिनका समान अर्थात् एक नाम है । जैसे—मानव समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति का एक नाम 'मानव' है । विद्यार्थी वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति का नाम विद्यार्थी है । टीकाकारों ने 'ख्यान' का अर्थ 'ज्ञान' भी किया है । इस दृष्टि से 'सखाय:' का अर्थ होगा सामान्य ज्ञान की दृष्टि से सर्वथा समान होते हुए भी ।

'मनोजवेषु' का अर्थ यास्क ने 'मनसां प्रजवेषु' किया है । 'मनोजवेषु' शब्द में षष्ठी तत्पुरुष समास है । अत: इस शब्द का विग्रह होगा—'मनसां जवेषु' । यास्क ने 'जव' शब्द के स्थान पर 'प्रजव' शब्द का प्रयोग अधिक उचित समझा । यहाँ मन्त्र का अभिप्राय यह है कि आँख, कान आदि इद्रियों के सर्वथा समान होते हुए तथा 'मानव', 'विद्यार्थी' इत्यादि नामों अथवा सामान्य ज्ञान या व्यवहार की दृष्टि से समान होते हुए भी मन बुद्धि आदि की शक्तियों की दृष्टि से व्यक्तियों में पर्याप्त विषमता पायी जाती है । 'जवे' शब्द से 'वेग', 'गति', 'शक्ति', 'तीव्रता', 'तीक्ष्णता इत्यादि अर्थ यहाँ अभिप्रेत हैं । 'जव' शब्द के स्थान पर यास्क ने 'प्रजव' शब्द का जो प्रयोग किया है वह प्रसंग की दृष्टि से उचित ही है । क्योंकि जहाँ तक मन की सामान्य गति की बात है उस दृष्टि से तो सभी मनुष्य या विद्यार्थी आदि समान होते हैं परन्तु 'प्रजव' अर्थात् विशिष्ट गति, शक्ति, प्रतिभा, ज्ञान इत्यादि की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति में पर्याप्त अन्तर होता है । इस प्रकार का अन्तर सर्वथा स्वाभाविक है । सर्वथा समान रूप से अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों में से कुछ तो बताई हुई बात को समझ पाते हैं पर कुछ नहीं । इस तथ्य का उल्लेख करते हुए ही पतञ्जलि ने लिखा है—**समानम् ईहमानानां चाधीयानानां च केचिद् अर्थैर युज्यन्ते अपरे न** (महाभाष्य द्वितीयाह्निक–५) ।

मन्त्र के उत्तरार्थ में मन की प्रकष्ट गति की दृष्टि से मनुष्यों के तीन

विभागों की कल्पना की गई है—कुछ अधिक ज्ञान वाले तथा कुछ बहुत अधिक ज्ञान वाले माने गए। पहले प्रकार के लोगों की तुलना उन तालावों से की गई जिनमें यदि स्नान किया जाय तो उनका पानी मुख तक ही आ पाता है, अर्थात् जिनमें मनुष्य के मुख के परिमाण तक ही पानी भरा रहता है। दूसरे प्रकार के लोगों की तुलना उन तालाबों से की गई जिनमें पानी केवल काँख तक ही आ पाता है तथा तीसरी प्रकार के ज्ञानी मनुष्यों की तुलना उन तालाबों से की गई जिनमें अच्छी तरह तैर कर स्नान किया जा सकता है।

आदघ्नास:—'आदघ्न' शब्द के बहुवचन के रूप में, 'आदघ्ना:' के स्थान पर आदघ्नास: का प्रयोग हुआ है। इस तरह के अनेक प्रयोग वेद में मिलते हैं। जैसे 'जना:' के स्थान पर 'जनास:', 'सोम्या:' के स्थान पर 'सोम्यास:' इत्यादि। ऐसे प्रयोगों की सिद्धि के लिये ही पाणिनि ने 'आज् जेसर् असुक्' (अष्टा ७।१।५०) सूत्र की रचना की। 'आदघ्न' शब्द को यास्क ने 'आ+दघ्न' इन दो शब्दों से बना हुआ माना है। यह 'आ उपसर्ग न होकर मुख के वाचक 'आस्' (आस्य) शब्द का संक्षिप्त रूप है। 'दघ्न' शब्द परिमाण का वाचक है तथा 'दघ्' धातु से निष्पन्न माना गया है। इस रूप में यास्क ने 'आदघ्नास:' का 'आस्यदघ्ना:', अर्थ किया है, जिसका अभिप्राय है कि कुछ तालाब मुख रूप परिमाण तक जल वाले हैं, जिनमें स्नान करने में विशेष आनन्द नहीं आता। 'आस्य' शब्द को यास्क ने 'अस्' (क्षेपणे) धातु से (ण्यत्) प्रत्यय करके अथवा 'आ' उपसर्ग पूर्वक 'स्यन्द' (प्रस्रवणे) धातु से निष्पन्न माना है। दूसरी व्युत्पत्ति (**आस्यन्दतेए नद् अन्नम् इति वा**) का अर्थ यह है कि मुख में आकर अन्न गीला होता है या अन्न को पाकर मुख गीला होता है। अत: 'आ+स्यन्द्' 'आस्य' शब्द निष्यन्द माना जा सकता है। 'दघ्न' शब्द की सिद्धि 'बहने' अर्थ वाली 'दघ्' धातु अथवा 'क्षीण होना' अर्थ वाली 'दस्' धातु से की गई है। यहाँ भी दूसरी व्युत्पत्ति–'विदस्ततरं भवति' में यह कहा गया कि परिमाण को 'दघ्न' इसलिये कहा जाता है कि वह बड़े परिमाण की अपेक्षा, 'विदस्ततर' अर्थात् विशेष रूप में क्षीणतर (न्यूनतर) होता है। अथवा वह चारों ओर से कटा हुआ या सीमित होता है। 'दघ्न' शब्द को, 'जाना' 'प्राप्त होना' अथवा 'पहुँचना' अर्थ वाली 'दघ्' धातु

से 'न' प्रत्यय करके निष्पन्न मानना अधिक स्वाभाविक है। निघण्टु में गत्यर्थक धातुओं में 'दघ्' धातु भी पठित है। पाणिनि ने 'दघ्न' को स्वतन्त्र शब्द न मानकर व्याकरण की प्रक्रिया की सुविधा की दृष्टि से इसे प्रत्यय मान लिया है। द्र० 'प्रमाणे द्वयसज्-दघ्नच्-मात्रचः' (अष्टा० ५।२।३७)। 'दघ्न' शब्द के समस्त प्रयोग के रूप में, अथवा पाणिनि के अनुसार 'दघ्नच्' प्रत्यय से सम्बद्ध, अनेक शब्द कोषों में मिलते हैं जैसे—अंसदघ्न, उरुदघ्न, काष्ठदघ्न, गुल्फदघ्न, जानुदघ्न, नाभिदघ्न स्तनदघ्न इत्यादि। इनमें से कुछ शब्दों का प्रयोग शतपथ ब्राह्मण में मिलता है।

उपकक्षासः—यह शब्द भी 'उपकक्ष' शब्द के प्रथमा विभक्ति बहुवचन के रूप में 'उपकक्षाः' के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। 'उपकक्ष' शब्द का अर्थ है 'कक्ष' (काँख) के समीप–'कक्षस्य समीपम् उपकक्षम्'। अर्थात् कुछ तालाब या नदियाँ ऐसी होती हैं, जिनमें बहुत ही थोड़ा पानी होता है। तथा नहाने वाले की काँख तक ही पानी आता है। इस कारण नहाने वाला असंतुष्ट ही रह जाता है। यास्क ने 'आस्यदघ्नाः' के अनुकरण पर 'उपकक्ष' शब्द के साथ भी 'दघ्न' का प्रयोग कर दिया है जो अनावश्यक प्रतीत होता है क्योंकि यहाँ 'उप' उपसर्ग के साथ समास होने के करण परिमाण अर्थ स्वतः प्रकट हो जाता है।

स्नात्वाः—'स्नात्व' शब्द के बहुवचन के रूप में 'स्नात्वाः' का प्रयोग हुआ है। 'स्नान करना', 'पवित्र' होना' इत्यादि अर्थ वाली 'ष्णा' (स्ना) धातु से 'त्व' प्रत्यय करके 'स्नात्व शब्द' बना है। यहाँ 'त्व' प्रत्यय 'अर्हं' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह 'त्व' प्रत्यय 'तव्य' अथवा 'अनीय' के समान ही है। इसलिये 'स्नात्व' का अर्थ है 'स्नातव्य' या 'स्नानीय' अथवा स्नान के योग्य। 'स्नात्वा' शब्द 'ह्रदाः' (तालाबों) का विशेषण है इसलिये 'स्नात्वाः' ह्रदाः' का अर्थ हुआ वे तालाब जिसमें पर्याप्त जल है, जो काफी गहरे हैं और जिनमें खूब तैर कर पूरे आनन्द के साथ स्नान आदि किया जा सकता है। यास्क ने 'स्नात्वाः' को स्पष्ट करने के लिये 'प्रस्नेयाः' शब्द का प्रयोग किया है। 'प्रस्नेयाः' शब्द 'प्रस्नेय' का बहुवचन है। 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'स्ना' धातु से 'योग्य' अथवा 'अर्हं

अर्थ में 'यत्' प्रत्यय करके 'प्रस्नेय' शब्द बनेगा। जैसे—'दा' से 'देय' 'पा' से 'पेय' इत्यादि। अतः 'प्रस्नेया' का भी अर्थ है स्नान के योग्य। यास्क ने स्वयं 'प्रस्नेयाः' को और अधिक स्पष्ट करने के लिये उसके पर्याय के रूप में 'स्नानार्हाः' इस सरल शब्द को प्रस्तुत किया है।

दद्दृश्रे—'दृश्' (देखना) धातु के लिङ्' लकार, अन्य पुरुष, बहुवचन का प्राचीन वैदिक रूप 'दद्दृश्रे' है। बाद में इसके स्थान पर 'दद्दृशिरे' प्रयोग मिलता है। इसीलिये यास्क ने मन्त्र के 'दद्दृश्रे' पद को 'दद्दृशिरे' शब्द से स्पष्ट किया।

ह्रदाः—'ह्रदाः' शब्द का अर्थ है तालाब, नाला, छोटी नदी। यास्क ने 'शब्द करना अर्थ वाली 'ह्राद्' धातु अथवा 'शीतल होना' अर्थ 'ह्लाद्' धातु से 'ह्रद' शब्द को निष्पन्न माना है, क्योंकि इसमें स्नान आदि के कारण या जल-जन्तुओं के कारण एक विशेष प्रकार की आवाज होती रहती है अथवा वे सदा शीतल रहते हैं। पाणिनीय धातु पाठ के 'ह्राद्' धातु का अर्थ—'अव्यक्त शब्द करना' तथा 'ह्लाद्' का अर्थ सुखी होना माना गया है।

इस व्याख्या में ज्ञानियों की तीन कोटियाँ की गईं—प्रथम, मध्यम तथा उत्तम। मध्यम कोटि में आने वालों को 'आस्यदघ्ना अपरे' कहा गया। यहाँ 'अपरे' का अर्थ है कुछ लोग और 'आस्यदघ्नाः' का अर्थ है—'आस्यदघ्ना' ह्रदा इव'—मुख तक जल वाले तालाबों के समान। प्रथम कोटि वाले लोगों को 'उपकक्षदघ्ना' (ह्रदा एव) अपरे' कहा गया, जिसका अर्थ है—कुछ लोग काँख तक जल वाले तालाबों के समान होते हैं। तथा तीसरी कोटि, जो असाधारण ज्ञानियों की कोटि है, में आने वाले महान् मनीषियों और ज्ञानियों के लिए 'एके प्रस्नेया ह्रदा इव' कहा गया है। अर्थात् जिनमें ज्ञान का एक ऐसा अथाह-सागर हिलोरें लेता है, जिसमें जिज्ञासु जन असीम आनन्द प्राप्त करते हैं।

त्वत्

मूल—अथापि समुच्चायार्थे भवति—**पर्याया इव त्वद् आश्विनम्** (कौषीतकी ब्राह्मण १७।४ अश्विनं च पर्यायाश्चेति।

अनुवाद—इसके अतिरिक्त (एक अन्य 'नाम' अथवा सर्वनाम 'त्वत्' भी)

समुच्चय के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसे—पर्याया इव त्वद् आश्विनम् (**अर्थात् अश्विन और पर्याय**)।

व्याख्या—'त्व' तथा 'त्वत्' ये दोनों ही शब्द 'सर्वनाम के रूप में संभवतः प्राचीन वैदिक भाषा में प्रयुक्त होते रहे हैं। यास्क ने ऊपर 'त्व' के विषय में जो बातें कहीं हैं उनका सम्बन्ध 'त्वत्' के साथ भी मानना चाहिये। 'त्व' तथा 'त्वत्' की इस अभिन्न रूपता को बताने के लिये ही सम्भवतः यास्क ने 'त्व' की चर्चा के पश्चात् 'त्वत्' का नाम लिये बिना ही, 'त्वत् तथा उसके अर्थ और उदाहरण का निर्देश किया। इन दोनों शब्दों की 'सर्वनामता' शन्तनु रचित फिट् सूत्र 'त्वत्-त्व-नेम सम-सिमेत्यनुच्चानि' से भी, जिसमें कुछ 'नाम' शब्दों का स्वरविधान किया गया है, प्रमाणित होती है जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। पाणिनीय गणपाठ के 'सर्वादिगण' से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है।

'त्वत्' का अर्थ यास्क ने 'समुच्चय' माना है तथा उसके उदाहरण के रूप में **पर्याया इव त्वद आश्विनम्** इस ब्राह्मण वाक्य को प्रस्तुत करके उसका अर्थ किया है 'पर्याय और आश्विन'। ब्राह्मण वाक्य के क्रम को उलट कर 'आश्विन और पर्याय' इस रूप में अर्थ क्यों किया गया यह समझ में नहीं आता जब कि यास्क मत्रों के क्रम में आवश्यक परिवर्तन भी नहीं करते। यास्क के अनुसार **पर्याया इव त्वद् आश्विनम्** इस वाक्य में 'इव' पद अनर्थक अथवा वाक्यालंकार के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इसी कारण उनकी व्याख्या में 'इव' पद अनुपलब्ध है। 'त्वत्' के अथ 'समुच्चय' का ही यास्क ने दो बार प्रयोग किया है क्योंकि संभवतः प्राचीन काल में ऐसी शैली थी जिसे 'च' इति समुच्चयार्थ उभाभ्यां प्रयुज्यते' इस वाक्य के द्वारा पहले कह आये हैं।

टिप्पणी—'समुच्चय' अर्थ वाले 'त्वत्' के उदाहरण के रूप में यास्क ने कौषीतकी ब्राह्मण के जिस वाक्य को प्रस्तुत किया है वहाँ 'त्वत्' का अर्थ 'समुच्चय' न होकर 'एक' या 'अन्य' है। 'पर्याय' कुछ सूक्तों के उस संग्रह को कहते हैं जिसका पाठ 'होता' रात्रि में करता है तथा 'आश्विन' कुछ सूक्तों के, उस दूसरे संग्रह को कहा जाता है जिसका पाठ, 'पर्याय' नामक सूक्त संग्रह के पश्चात् स्वयं 'होता' ही करता है। द्र०—ऐतरेय ब्रा० (१६।६ तथा १७।१-५)

कौषीतकी ब्राह्मण के उस प्रसंग में, जहाँ से यास्क ने उपर्युक्त वाक्य प्रस्तुत किया है, इस विषय पर विचार किया गया है कि 'पर्याय' मंत्रों के समान ही 'आश्विन' मन्त्रों का भी पाठ किया या उससे भिन्न रूप में ? बात यह है कि रात्रि को तीन सम प्रहरों में बाँटकर 'पर्याय' नामक सूक्त संग्रह की सम्पूर्ण ऋचाओं में से एक तिहाई भाग का रात्रि के पहले प्रहर में तथा दूसरे तथा तीसरे भाग का क्रमशः रात्रि के दूसरे और तीसरे भाग में 'होता' पाठ करता है। इस तरह 'पर्याय' (क्रम) के रूप में पाठ किये जाने के कारण ही इस संग्रह को 'पर्याय' कहा जाता है। इस संग्रह में अभिप्रेत ऋचायें 'गायत्री' छन्द वाली हैं जिनमें तीन-तीन चरण होते हैं। इन तीन चरण वाले 'गायत्री' छन्द से निबद्ध मंत्रों को, यज्ञ की विधि के अनुसार 'अनुष्टुप्' छन्द में परिणत कर दिया जाता है जिसमें चार-चार चरण होते हैं और यह इस रूप में किया जाता है कि प्रथम प्रहर में पाठ किये जाने वाले मंत्रों के प्रथम चरण को पुनरावृत्ति कर दी जाती है जैसे—

पुरुहूतं पुरुष्टुतं गाथान्यं सनश्रुतम् इन्द्र इति ब्रवीतन ॥

इस मंत्र में प्रथम चरण 'पुरुहूतं पुरुष्टुतम्' की पुनः आवृत्ति करके इसका पाठ किया जायेगा। इस तरह चार चरण हो जाने के कारण यह 'गायत्री' छन्द 'अनुष्टुप्' के रूप में परिणत हो जायेगा। इसी प्रकार द्वितीय तथा तृतीय प्रहर में उच्चार्यमाण मंत्रों के क्रमशः द्वितीय तथा तृतीय चरण की पुनरावृत्ति की जायगी। परन्तु 'आश्विन' नामक सूक्त संग्रह, जिसमें एक हजार ऋचाओं का संग्रह अभिप्रेत है, के मन्त्रों के पाठ में इस प्रकार की, चरण सम्बन्धी, कोई पुनरावृत्ति नहीं की जाती। स्पष्ट है कि इन दोनों प्रकार के संग्रह का पाठ भिन्न-भिन्न रूप में किया जायगा। परन्तु कुछ विद्वानों का मत है 'पर्यायों' के समान ही 'अश्विन' मन्त्रों का भी पाठ किया जाना चाहिये। अर्थात्— 'आश्विन' मन्त्रों के उच्चारण में भी मन्त्रों के चरणों की आवृत्ति, 'पर्याय' मन्त्रों के समान होनी ही चाहिये इस मत को ही **'पर्याय इव त्वद् आश्विनम्'** इस वाक्य में प्रस्तुत किया गया है। इस रूप में न तो 'इव' निपात ही अनर्थक या

वाक्य-पूरण के लिये प्रयुक्त है और न 'त्वत्' का अर्थ 'समुच्चय' ही है। (द्र०-पो० राजवाड़े पृ० २५१–५२)

'समुच्चय' के अर्थ वाले 'त्वत्' के उदाहरण के लिये **प्रजायै मृत्यवे त्वत् पुनर् मार्ताण्डम् आभरत्** (ऋ० वे० १०।७३।९) मन्त्र द्रष्टव्य है क्योंकि इसका अर्थ किया जाता है "(अदिति ने)" प्रजाओं की उत्पत्ति तथा उनके विनाश के लिये पुनः 'मार्ताण्ड' को धारण किया।"

'पद-पूरण' निपातों की परिभाषा

मूल—अथ ये प्रवृत्तेऽमिताक्षरेषु ग्रन्थेषु वाक्यपूरणा आगच्छन्ति, पद-पूरणास्ते मिताक्षरेषु अनर्थकाः 'कम्,' इम्, इद्, 'उ' इति।

अनुवाद—(विवक्षित) अर्थ के परिसमाप्त (पूर्णतया प्रकट) हो जाने पर गद्यात्मक ग्रन्थों में वाक्य-पूरण के रूप में जो कम्, 'इत्', 'उ' निपात प्रयुक्त होते हैं वे (ही) अनर्थक (निपात) छन्दोबद्ध ग्रन्थों में 'पद-पूरण' (माने जाते) हैं।

व्याख्या—'पद-पूरण' निपातों की परिभाषा करते हुये यास्क ने यह कहा है कि **'पद-पूरण' निपात वे हैं जिनका प्रयोग छन्दोबद्ध ग्रन्थों में केवल छन्द या चरण की पूर्ति के लिये तथा गद्यात्मक शैली में लिखे गये ग्रन्थों में वाक्य को अलङ्कृत करने के लिये किया जाता है।** स्पष्ट है, कि चाहे इनका प्रयोग छन्द की दृष्टि से या चरण की पूर्ति के लिये किया जाय अथवा गद्य शैली की रचना में वाक्य को अङ्कृत करने के लिये, दोनों ही स्थितियों में ये निपात सर्वथा अनर्थक होते हैं। इसी बात को बताने के लिये, यास्क ने अपनी परिभाषा के अन्त में पुनः 'अनर्थकाः' शब्द का प्रयोग किया है। यद्यपि 'प्रवृत्तेऽर्थे' (अर्थ पूर्णतः प्रकट हो जाने पर) इस अंश से भी निपातों की अनर्थकता का ज्ञान हो जाता है इसलिये पुनः 'अनर्थकाः' कहने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

ऐसे भी कुछ निपात हैं जो कुछ प्रयोगों में किसी विशिष्ट अर्थ को प्रस्तुत करते हैं पर कुछ प्रयोगों में सर्वथा अनर्थक प्रतीत होते हैं। इसलिये दुर्ग

का यह विचार है कि जहाँ तक सम्भव हो निपातों का अर्थ जानने का प्रयास करना चाहिये—यदि किसी का भी अर्थ पता न लगे तो उसे 'पद-पूरण' मान लेना चाहिये।

'पद-पूरण' निपातों में उपलक्षण के रूप में यास्क ने केवल चार निपातों का ही नाम लिया है। इसलिये इस श्रेणी में 'घ', 'वै', 'खलु', 'किल' इत्यादि अन्य निपातों का भी अन्तर्भाव मान लिया जाना चाहिये जिनका प्रयोग 'पद-पूरण' के रूप में हुआ है। 'उ' निपात के 'पद-पूरण' होने की बात स्वयं यास्क ही, पहले, 'उ' के प्रसंग में, कह आये हैं इसलिये उसके स्थान पर किसी अन्य निपात का नाम लेना सम्भवतः अधिक उचित होता।

पद-पूरण निपातों के उदाहरण

मूल—

निष्ट्वक्त्रासश् चिद् इन् नरो भूरितोका वृकाद् इव।
बिभ्यस्यन्तो ववाशिरे शिशिरं जीवनाय कम्॥

शिशिरं जीवनाय। शिशिरं शृणातेः शम्नातेर् वा। **एम्** एनं **सृजता सुते** (ऋ० वे० १।९।२) आसृजत एन सुते। **तम् इद् वर्धन्तु नो गिरः** (ऋ० वे० ८।९२।२१)। तं वर्धयन्तु नो गिरः स्तुतयः। गिरो गृणातेः। **अयम् उ ते समतसि** (ऋ० वे० १।३०।४) अयं ते समतसि। 'इवो' ऽपि दश्यते—**सुविदुर इव** (काठक संहिता ८।३), **सुविज्ञायेते इव** (काठक संहिता ६।२)

अनुवाद—('कम्' का उदाहरण—'निष्ट्वक्त्रासः'०—वस्त्र रहित तथा बहुत सन्तान वाले मनुष्य (ही) भेड़िये से डरते हुए के समान चिल्लाते हैं कि शिशिर (ऋतु) जीवन के लिये (सुखदायी) है। शिशिर (ऋतु) जीने के लिये है। 'शिशिर' (शब्द) 'शृ' या 'शम्' (धातु) से बनेगा। ('ईम्' का उदाहरण)—'एम् एनं सृजता सुते' छान लिये जाने पर सोम को बहने दो। ('इत्' का उदाहरण है) 'तम् इद् वर्धन्तु, नो गिरः'—हमारी स्तुतियाँ उसको (ही) 'अयम् उ ते समतसि'—यह (ही वह सोम) तुम्हारे लिये है (जिसके प्रति तुम) अच्छी तरह

जाते हो। 'इव' (निपात) भी (पद-पूरण के रूप में प्रयुक्त) दिखाई देता है। जैसे—'सुविदुर् इव'—उन्होंने जाना, 'सुविज्ञायेते इव' अच्छी तरह जाने जाते हैं।

व्याख्या—

कम्—इस निपात के उदाहरण के रूप में यास्क ने जो श्लोक प्रस्तुत किया है उसका केवल शिशिरं जीवनाय 'कम्' इतना अंश ही उदाहरण के लिये पर्याप्त है। व्याख्या में यास्क ने इतने ही अंश की व्याख्या की है। सम्भव है मूल निरुक्त में इतना ही पाठ हो। 'जीवनाय' के समान, चतुर्थ्यन्त शब्दों के साथ अनेक बार 'कम्' निपात का प्रयोग मिलता है। जैसे—**आविः तन्वं कृणुषे दृशे कम्** (ऋ० वे० १।१२।११३), **पिबा सोमं मदाय 'कम्'** इत्यादि। इन सभी स्थलों में 'कम्' का अर्थ 'वस्तुतः' 'सम्यक्', या 'अच्छी प्रकार' भी किया जा सकता है। जहाँ 'नु', 'सु', आदि निपातों के साथ 'कम्' का प्रयोग होता है वहाँ अवश्य वह अनर्थक होकर पद-पूरण वन जाता है।

ईम्—यह निपात भी अनेकत्र 'एनम्' अर्थात् 'इसको' या 'इनको' जैसे अर्थों को प्रकट करता है। इसका सम्बन्ध 'इदम्' (इ) से कथंचित् स्थापित किया जा सकता है परन्तु अनेक प्रयोगों में अनर्थक भी दिखाई देता है। जैसा—**एम् एनं सृजता सुते** इस प्रयोग में 'इम्' तथा 'एनम्' दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ। इसलिये ऐसे स्थलों में 'ईम्' को अनर्थक ही मानना होगा।

इत्—अनेक स्थलों पर 'इत्' का प्रयोग 'एव' या केवल के अर्थ में हुआ है। यहाँ **तम् इद् वर्धन्तु नो गिरः** इस मंत्र में भी 'तम् इत्' का अर्थ 'उसको ही' या 'केवल उसी को' अर्थ प्रतीत होता है। पता नहीं क्यों यास्क ने यहाँ 'इत्' को पद-पूरण मान लिया है।

उ—अयमु ते समतसि इस मंत्रांश का पूरा अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि **यं सोमं प्रति त्वं सम् अतसि स एव अयं सोमः** अर्थात् जिस सोम के लिए तुम निरन्तर या अच्छी तरह जाते हो-जो तुम्हें बहुत प्रिय है—वही यह सोम है। यहाँ 'उ' का अर्थ भी 'एव' प्रतीत होता है।

इव—'पद-पूरण' निपातों की चर्चा के इस प्रसंग में यास्क ने 'इव' का भी नाम लिया है। ऊपर 'पर्याया इव त्वद् आश्विनम्' इस वाक्यांश की यास्क कृत व्याख्या—'आश्विनं च पर्यायाश्च' में 'इव' को अनर्थक एवं पद-पूरणार्थक

माना गया है। इसीलिये वहाँ 'इव' का कोई अर्थ नहीं किया गया—परन्तु वहीं टिप्पणी में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि 'इव' अनर्थक न होकर 'सादृश्य' अर्थ वाला है। यहाँ 'इव' के जो उदाहरण दिये गये हैं उनमें भी 'इव' अनर्थक नहीं प्रतीत होता। 'इव' का जो पहला उदाहरण 'सुविदुर् इव' दिया गया है, वह काठक संहिता में दो स्थलों पर मिलता है। पहला स्थल है—**न वै सुविदुर इव ब्राह्मणा नक्षत्रं मीमांसन्ते इव हि उदितेन पुण्याहम्** (काठक संहिता ८।३) यहाँ यह बात ही गई है कि एक विशिष्ट नक्षत्र में यजमान अग्निहोत्र करे। परन्तु निश्चित रूप से नक्षत्रों का ज्ञान ब्राह्मणों को भी नहीं हो पाता इसलिये वे यह निर्णय देते हैं कि सूर्योदय के समय यज्ञ करना चाहिये। इसीप्रकार दूसरे स्थल—**न वै सुविदुर् इव मनुष्या यज्ञं तस्मान् न सर्व इव ऋध्नोति** (काठक संहिता ८।१३)—में भी यह अभिप्राय प्रतीत होता है चूंकि यज्ञ करने वाला मनुष्य यज्ञ सम्बन्धी विधि-विधानों को पूर्ण रूप से नहीं जानता और इस कारण उन्हें यथोचित रूप में नहीं कर पाता, इसीलिये उसे पूरा फल नहीं मिलता। यहाँ प्रथम स्थल पर 'इव' के प्रयोग से यह बात प्रकट होती है कि वक्ता न तो यह कहना चाहता है कि ब्राह्मणों को नक्षत्रों का ज्ञान नहीं है और न ही यह कहना चाहता है कि ब्राह्मणों को नक्षत्रों का पूर्ण ज्ञान है। इस द्विविधात्मक स्थिति को बताने के लिये ही वह 'इव' का प्रयोग करता है। इसी प्रकार दूसरे स्थल में भी वक्ता की स्थिति द्विविधात्मक है। वह यह नहीं मानता कि यज्ञ करने वाला सारी विधियों को पूर्णतया नहीं जानता और साथ ही वह यह भी नहीं मानता कि यजमान को विधियों का पूर्ण ज्ञान है। अभिप्राय यह है कि ब्राह्मणों को नक्षत्रों का तथा यजमान को विधि-विधानों का जो ज्ञान है वह पूर्ण ज्ञान से कुछ कम है।

इसी तरह **पुरुषश्च नक्तं प्रत्यंचौ न सुविज्ञायेते इव** (काठक संहिता ६।२) इस वाक्य में 'सुविज्ञायते इव' का प्रयोग मिलता है। इसका भाव यह है कि रात में चलने वाला कोई प्राणी स्पष्ट नहीं दिखाई देता चाहे वह आदमी हो या घोड़ा या कोई और प्राणी। यहाँ शाब्दिक अर्थ यह है कि रात्रि में चलते हुए पुरुष तथा घोड़ा मानों अच्छी तरह नहीं जाने जाते। अर्थात् थोड़ा बहुत तो उनका ज्ञान होता है पर पूरा नहीं। इसीलिये यहाँ भी 'इव' को सर्वथा अनर्थक नहीं माना जा सकता। इस प्रकार के प्रयोगों ने ही बाद

में 'क्रियोत्प्रेक्षाऽलंकार' को जन्म दिया जहाँ क्रिया के साथ 'इव' का प्रयोग होता है।

केवल प्रश्नवाचक सर्वनामों तथा क्रिया-विशेषणों के साथ प्रयुक्त 'इव' अनर्थक प्रतीत होता है तथा वहाँ 'इव' को वाक्यालंकार या वाक्य पूरण के रूप में प्रयुक्त माना जा सकता है। जैसे—'किम् इव' ?, 'कथम् इव' ?, 'क्वेव ?' इत्यादि। इनके अतिरिक्त ऐसा कोई प्रयोग नहीं दिखाई देता जहाँ 'इव' सर्वथा अनर्थक होकर 'पदपूरण' या 'वाक्यपूरण' के रूप में प्रयुक्त हुआ।

निपात के समुदाय

मूल—

अथापि 'न' इत्येष 'इत्' इत्येते न सम्प्रयुज्यते 'परिभये'।

(यथा)—हविर्भिर एके स्वर इतः सचन्ते सुन्वन्त एके सवनेषु सोमान्।

शचीर् मदन्त उत दक्षिणाभिर् नेज् जिह्मा यन्त्यो नरकं पताम ॥ इति

(ऋ० वे० खिल १०।१०६।१)

नरकं न्यरकं नीचैर् गमनम्। नास्मिन् रमणं स्थानम् अल्पम् अप्यस्तीति वा।

अथापि 'न च' इत्येष 'इत्' इत्येतेन अनुप्रष्टे। 'न चेत् सुरां पिबन्ति' इति। सुरा सुनोतेः। एवम् उच्चावचेषु अर्थेषु निपतन्ति। त उपेक्षितव्याः।

अनुवाद—इसके अतिरिक्त 'परिभये' (अत्यधिक भय) के अर्थ में 'इत्' के साथ 'न' का प्रयोग होता है। जैसे – 'हविर्भिर् एके०'।

मन्त्रान्वय—एके हविर्भिः इतः स्वः सचन्ते। एके स्वनेषु सोमान् सुन्वन्त (इतः स्वः सचन्ते)। (एके) दक्षिणाभिः, शचीः मदन्तः (इतः स्वः सचन्ते)। जिह्मायन्त्यः वयं नेत् नरकं पताम।

मन्त्रानुवाद—कुछ लोग हवियों के द्वारा यहाँ से स्वर्ग को जाते हैं, कुछ सवनों में सोम का अभिषव कर के (यहाँ से स्वर्ग को जाते है) तथा कुछ लोग दक्षिणाओं से (दैवी) शक्तियों को प्रसन्न करते हुए (यहाँ से स्वर्ग को जाते हैं)। कुटिल आचरण करती हुई हम (स्त्रियाँ) कहीं नरक में न गिरें।

'नरक' शब्द 'नि+अरक' से बना है। (इसका अर्थ है) नीचे जाना। (अथवा 'न+र+कम्' इन तीन शब्दों से नरक बना है जिसका अर्थ है) इसमें आनन्ददायक स्थान थोड़ा सा भी नहीं है।

इसी तरह 'इत्' के साथ 'न' और 'च' का भी प्रयोग दुबारा पूछने के अर्थ में होता है। जैसे—'न चेत् सुरां पिबन्ति' (अर्थात्) 'यदि वे सुरा नहीं पीते होंगे तब'। 'सुरा' (शब्द) 'सृ' (धातु) से बनेगा। इसी प्रकार (निपात) भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। इनके विषय में अच्छी तरह विचार करना चाहिये।

व्याख्या—पद पूरण निपातों की चर्चा के पश्चात् यास्क ने यहाँ दो उन निपातों की ओर भी संकेत किया जो दो या दो से अधिक निपातों के मेल से बने हैं। ये निपात हैं 'नेत्' तथा 'न चेत्'। उपलक्षण के रूप में केवल इन दो निपातों का उल्लेख करके यास्क ने यह बताना चाहा कि इस प्रकार के बहुत से निपात हैं जो विभिन्न निपातों के समुदाय से बने हैं तथा भिन्न-भिन्न अर्थों को प्रकट करते हैं। जैसे 'कदाचित्' 'नहवै', 'यद्यपि', 'अथवा' इत्यादि। भिन्न-भिन्न निपातों से मिलकर बने होने पर भी भाषा में इनकी स्वतन्त्र सत्ता है तथा ये अपने विशिष्ट अर्थों को प्रकट करते हैं।

नेत्—यहाँ 'नेत्' का जो उदाहरण दिया गया उसमें कहने वाले के हृदय में विद्यमान तीव्रतम भय की प्रतीति 'नेत्' से होती है। यहाँ भी **नेज्जिह्माग्न्त्यो नरकं पताम** इतना अंश ही उदाहरण के रूप में यहाँ पर्याप्त है। सम्भवतः इतना अंश निरुक्त में यहाँ उद्धृत भी रहा होगा क्योंकि निरुक्त में इतने ही अंश की व्याख्या की गयी है। इस व्याख्या में भी केवल 'नरक शब्द की व्युत्पत्ति पर ही विचार किया गया है। 'नरक' शब्द 'नि+अरक' से बना है जिसका अर्थ है 'नीचे जाना' (निकृष्ट अवस्था को प्राप्त होना)। अथवा 'न', 'र' तथा 'कम्' इन तीन शब्दों से 'नरक शब्द बनता है। इस दृष्टि से 'नरक' शब्द का अर्थ है इस (नरक) में थोड़ा सा भी रमणीय या आनन्ददायक स्थान नहीं है।

न चेत् – इसके अतिरिक्त 'न' 'च' तथा 'इत्' निपातों के मिलने से 'नचेत्' निपात बना है। इसका प्रयोग 'अनुप्रश्न' के अर्थ में होता है। 'अनुप्रश्न' का अर्थ ऊपर किया जा चुका है। इस निपात के उदाहरण के रूप में यास्क

ने लौकिक प्रयोगों में एक वाक्य प्रस्तुत किया है—'न चेत् सुरां पिबन्ति'। इस वाक्य का दुर्ग ने यह अर्थ निकाला है कि यह वाक्य पुनः प्रश्न के उत्तर के रूप में है। किसी ने पूछा कि क्या वृषल वहाँ हैं ? (तिष्ठन्ति वृषलाः ?)। दूसरे ने उत्तर दिया 'हां हैं' (तिष्ठन्ति)। फिर पहले ने पूछा कि 'यदि हैं तो आते क्यों नहीं ?' (यदि तिष्ठन्ति किमर्थं नागच्छन्ति)। इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि 'यदि वे शराब नहीं पीते होंगे तो आवेंगे' ('न चेत् सुरां पिबन्ति'—आगमिष्यन्ति)।

टिप्पणी—इस प्रकार निपातों की चर्चा समाप्त हुई। निपातों का त्रिविध वर्गीकरण करके भी यास्क ने उनके प्रदर्शन में इन त्रिविध निपातों का परस्पर संमिश्रण कर दिया है। तथा इन तीनों प्रकार के निपातों से भिन्न निपातों को भी इनमें ही मिला दिया। संक्षेप में निम्न निपातों की चर्चा निरुक्त के इस प्रकरण में की गयी है। 'इव', 'न', 'चित्' तथा 'नु' ये उपमार्थीय निपात हैं। 'च', 'आ' तथा 'वा' कर्मोपसंग्रहार्थीय हैं। 'हि' 'किल' न 'किल', 'ननु', 'मा' 'खलु', 'शश्वत्', 'नूनम्' तथा 'सीम्' भिन्न-भिन्न अर्थ वाले हैं तथा 'कर्मोपसंग्रहार्थीय निपातों से भिन्न हैं। 'सीमतः' त्व' तथा 'त्वत्' निपात न होकर नाम हैं। 'सीमतः' तो नाम है परन्तु 'त्व' और 'त्वत्' सर्वनाम हैं। 'कम्', 'ईम्', 'इत्', 'उ', 'इव', पदपूरण निपात हैं। नेत्' तथा न चेत्, दो या दो से अधिक निपातों के मिलने से बने हुये हैं।

———

चतुर्थः पादः

शब्दों को धातुज मानने के विषय में दो मत

मूल—इतिमानि चत्वारि पदजातानि अनुक्रान्तानि नामाख्याते चोप-सर्गनिपाताश्च । तत्र 'नामान्याख्यातजानि' इति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च । 'न सर्वाणि' इति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके ।

अनुवाद—इस रूप में पदों के नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात इन चार भेदों की क्रम से की गई चर्चा समाप्त हुई । इनमें '(सभी) नाम धातु से उत्पन्न हुए हैं' । यह (वैयाकरणों में) शाकटायन तथा निरुक्त के आचार्यों का सिद्धान्त है । (परन्तु नैरुक्तों में) गार्ग्य तथा (शाकटायन के अतिरिक्त) कुछ वैयाकरणों का यह मत है कि सभी नाम धातु से उत्पन्न नहीं हैं (अपितु कुछ थोड़े से नाम ही धातुज हैं)' ।

व्याख्या—निरुक्त तथा व्याकरण शास्त्र के प्रमुख आचार्यों में सम्भवतः बहुत प्राचीन काल से 'शब्दों के धातुज' सिद्धान्त को लेकर विवाद चला आ रहा है । गार्ग्य को छोड़कर प्रायः सभी नैरुक्त आचार्य तथा प्रसिद्ध वैयाकरण **शाकटायन** यह मानते थे कि सभी शब्द धातुओं से बने हुये हैं— उनका मूल कोई न कोई धातु ही है । पातञ्जल महाभाष्य से उद्धृत निम्न कारिका में भी धातुज सिद्धान्त की इस स्थिति का उल्लेख मिलता है:—

नाम च धातुजम् आह निरुक्ते व्याकरणे शाकटस्य च तोकम् (३।३।१)

दूसरी ओर नैरुक्तों में **गार्ग्य** तथा कुछ व्याकरण के विद्वानों का यह मत है कि सभी शब्दों को धातुज नहीं माना जा सकता—केवल कुछ थोड़े से यौगिक शब्दों को ही धातु से उत्पन्न या निष्पन्न माना जा सकता है ।

यास्क की संक्षिप्त शब्दावली दोनों वादों के प्रमुख आचार्यों तथा उनके अनुयायियों का स्पष्ट संकेत दे रही है। प्रथम वाद के पोषक हैं आचार्य **शाकटायन** तथा प्राय: निरुक्त सम्प्रदाय के सभी आचार्य। 'नैरुक्त-समय:' तथा 'वैयाकरणानां चैके' का अभिप्राय यही है कि यदि प्रथम सिद्धान्त नैरुक्तों का है तो द्वितीय सिद्धान्त वैयाकरणों का। परन्तु प्रथम सिद्धान्त के पोषक **शाकटायन** भी हैं' जो नैरुक्त सम्प्रदाय के विद्वान् नहीं हैं। यदि ऐसा होता तो अलग से उनका नाम लेने की आवश्यकता न होती। इसी प्रकार द्वितीय सिद्धान्त के पोषक गार्ग्य भी हैं जो सम्भवत:, व्याकरण-सम्प्रदाय के विद्वान् होते तो 'वैयाकरणानां चैके' में ही उनका भी अन्तर्भाव हो जाता।

टिप्पणी—यों तो वैयाकरण तथा नैरुक्त के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। यह मानना कि **शाकटायन** निरुक्त शास्त्र के विद्वान् नहीं थे या **गार्ग्य** व्याकरण के विद्वान् नहीं थे एक बड़ी असंगत सी बात होगी। क्योंकि यास्क ने **शाकटायन** का नाम बड़ी प्रतिष्ठा के साथ तीन बार लिया है। इसी प्रकार **गार्ग्य** व्याकरण के बहुत अच्छे ज्ञाता एवं आचार्य थे—यह इसी बात से स्पष्ट है कि पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में चार बार (६।३।६०; ७।१।७४; ७।३।९९; ८।३।२०) इस आचार्य के मत का उल्लेख किया है। यहाँ वैयाकरण तथा नैरुक्त नाम सम्भवत: उस सम्प्रदाय-विशेष में प्रतिष्ठित हो जाने के कारण पड़ गया है।

वैयाकरणों की परम्परा में प्रतिष्ठित, यास्क की अपेक्षा अर्वाचीन, आचार्य पाणिनि भी सम्भवत: सभी शब्दों को धातुज नहीं मानते। यद्यपि इस आचार्य ने अपने को किसी विवाद में उलझाना नहीं चाहा है—सर्वत्र मध्यम मार्ग का अनुकरण किया है। इसलिये इस विवाद में भी न तो वे **शाकटायन** के ही पक्के अनुयायी प्रतीत होते हैं और न **गार्ग्य** के ही। इसीलिए पाणिनीय व्याकरण में रूढि शब्दों की सिद्धि करने वाले उणादिकोश के सूत्रों से निष्पन्न शब्दों को यथावसर व्युत्पन्न (धातुज) और अव्युत्पन्न (अधातुज) दोनों प्रकार का माना गया है। यही कारण है कि **उणादयो व्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि तथा उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि** ये दोनों ही परिभाषायें

जन्म ले सकीं। द्र०—परिभाषेन्दुशेखर (कारिका २२ तथा उसकी व्याख्या)।

फिर भी पाणिनि का झुकाव उसी द्वितीय पक्ष की ओर प्रतीत होता है जो यास्क के समय में भी शाकटायन को छोड़कर अन्य सभी वैयाकरणों को अभिप्रेत रहा।

इस प्रसंग में यह स्पष्ट है कि आचार्य यास्क भी नैरुक्त होने के कारण प्रथम पक्ष के ही अनुयायी हैं तथा सभी शब्दों को धातु से निष्पन्न मानते हैं। इसलिये स्वाभिमत धातुज सिद्धान्त के पोषण के लिये यह आवश्यक है कि गार्ग्य तथा वैयाकरणों के अभिमत सिद्धान्त तथा उसके प्रतिपादन एवं पोषण के लिये प्रस्तुत किये गये हेतुओं का उल्लेख करके उनका खण्डन किया जाय। इसी दृष्टि से यहाँ गार्ग्य के मत का स्वरूप तथा उनके हेतुओं को यास्क ने पहले प्रस्तुत किया है।

गार्ग्य का मत और उसकी युक्तियाँ

मूल—तद् यत्र स्वर संस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेण अन्वितौ स्याताम्। संविज्ञातानि तानि यथा—'गौः', 'अश्वः', 'पुरुषः', 'हस्ती' इति।

अथ चेत् सर्वाणि नामानि आख्यातजानि स्युर् यः कश्च तत् कर्म कुर्यात् सर्वं तत् सत्त्वं तथा आचक्षीरन्। यः कश्च अध्वानम् अश्नुवीत 'अश्वः' स वचनीयः स्यात्। यत् किंचित् तृन्द्यात् 'तृणम्' तत्।

अथापि चेत् सर्वाणि आख्यातजानि नामानि स्युर् यावद्भिर् भावैः सम्प्रयुज्येत तावद्भ्यो नामधेयप्रतिलम्भः स्यात्। तत्रैवं सति स्थूणा 'दरशया' वा 'आसंजनी' च स्यात्।

अथापि य एषां न्यायवान् कार्मनामिकः संस्कारो यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस् तथैनान्याचक्षीरन्। पुरुषं 'पुरिशयः' इत्याचक्षीरन्। 'अष्टा' इत्यश्वम्। 'तर्दनम्' इति तृणम्।

अथापि निष्पन्नेऽभिव्याहारेऽभिविचारयन्ति प्रथनात् 'पृथिवी' इत्याहुः। क एनाम् अप्रथयिष्यत् किम् आधारश्चेति।

अथ अनन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे पदेभ्यः पदेतरार्धान् संचस्कार शाकटायनः। एतेः कारितम् यकारादि चान्तकरणम्। अस्तेः शुद्धं च सकारादिं च।

अथापि 'सत्त्वपूर्वो भावः' इत्याहुः। अपरस्माद् भावात् पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यते इति।

अनुवाद--(गार्ग्य तथा कुछ वैयाकरणों के मत में केवल वे शब्द धातुज हैं) जिनमें स्वर (उदात्त आदि) तथा संस्कार (व्याकरण शास्त्रीय प्रकृति-प्रत्यय आदि का विभाग) सुसंगत हों और प्रादेशिक गुण (प्रमुख क्रिया के वाचक धातु अथवा शब्दार्थ में विद्यमान क्रिया) से संयुक्त हों। (इनके विपरीत) 'गौः' 'अश्वः', 'पुरुषः', 'हस्ती' इत्यादि (शब्द) रूढि हैं।

यदि सभी नाम धातुज हों तो कोई भी उस कर्म को करे उस सब (प्राणी अथवा) वस्तु को उसी नाम से कहा जाता है। (जैसे) जो कोई भी मार्ग को व्याप्त करे उसे 'अश्व' तथा जो कुछ भी (वस्तु) चुभे उसे 'तृण' कहा जाना चाहिये।

तथा, यदि सभी नाम धातुज हों तो जिन-जिन क्रियाओं से (वस्तु या प्राणी) सम्बन्ध हों उन सब क्रियाओं के आधार पर (उस-उस वस्तु या प्राणियों का) नाम पड़ना चाहिये। ऐसा होने पर स्थूणा (खम्भे) को 'दरशया' (बिल में सोने वाली) तथा 'आसंजनी' (शहतीर या छत को धारण करने वाली) भी कहा जाना चाहिये।

इसके अतिरिक्त इन नामों का जो व्याकरण से सिद्ध एवं कर्म (क्रिया) के आधार पर होने वाला प्रकृति-प्रत्यय आदि का विभाग है और जिस रूप में ये नाम स्पष्ट अर्थ वाले हों उस रूप में इन नामों का प्रयोग किया जाना चाहिये था, (जैसे) पुरुष को 'परिशय', अश्व को 'अष्टा' तथा तृण को 'तर्दन' कहा जाना चाहिये था।

इसी प्रकार ('पृथिवी' इत्यादि शब्दों के) प्रयोग (व्यवहार) के प्रसिद्ध हो जाने पर (सभी शब्दों को धातुज मानने वाले विद्वान्) यह विचार करते हैं कि फैली हुई होने के कारण पृथिवी को 'पृथिवी' कहते है। (भला इनसे कोई पूछे) इस (पृथिवी) को किसने तथा कहाँ खड़े होकर फैलाया ?

और (इस सिद्धान्त के प्रबल पोषक आचार्य) शाकटायन ने (शब्द के) अर्थ से (स्वर तथा संस्कार के) अन्वित (सुसंगत) न होने तथा प्रादेशिक विकार (प्रमुख क्रिया के वाचक धातु अथवा शब्द के अर्थ में विद्यमान क्रिया) के न होने पर (भी) विभिन्न (आख्यात) पदों से ('सत्य') पद (शब्द) के आधे-आधे (दोनों) भागों को बनाया है। (जैसे) 'इ' ('इण्' धातु) के णिजन्त (आययति रूप से) यकारादि (य) को अन्त में करना तथा 'अस्' (धातु) के शुद्ध ('शतृ' प्रत्ययान्त) सकारादि (सत्) रूप को आदि में करना।

इसी तरह (इस सिद्धान्त में एक और दोष यह है कि) यह माना गया है कि पहले (वस्तु या प्राणी की) सत्ता और उसके पश्चात् (उस वस्तु या प्राणी के द्वारा की जाने वाली) क्रिया होती है। इसलिये बाद में होने वाली क्रिया के आधार पर पहले से विद्यमान (वस्तु या प्राणी) का नाम नहीं पड़ सकता।

व्याख्या—यद् यत्र ....पुरुषो हस्ततीति—इन पंक्तियों में यह कहा गया है कि गार्ग्य तथा कुछ वैयाकरणों के अनुसार केवल वे शब्द धातुज अथवा यौगिक हैं जिनमें शब्द के उदात्त आदि स्वर तथा उनका संस्कार, अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय का विभाग जिसके द्वारा शब्द की सिद्धि अथवा संस्कार किया जाता है, दोनों समर्थ हों—व्याकरणशास्त्र में विहित नियमों के सर्वथा अनुसार हों, उनमें सुसगत हों। इसके अतिरिक्त ये स्वर तथा संस्कार उस विशिष्ट क्रिया को भी कह रहे हों जो शब्द के अभिधेयभूत वस्तु आदि में प्रमुख रूप से विद्यमान रहती है।

यहाँ 'प्रादेशिकेन गुणेन' ये दोनों शब्द विचारणीय हैं। दुर्ग के अनुसार प्रदेश का अर्थ है वह क्रिया जो शब्द के अभिधेयभूत प्रत्यय में व्यवस्थित रहती

है और जिसके कारण वस्तु विशेष के लिये शब्द विशेष का प्रयोग किया जाता है। इस 'प्रदेश' अर्थात् क्रिया का अभिधायक या वाचक, जो धातु, वह हुआ 'प्रादेशिक गुण' ऐसे 'प्रादेशिक गुण' अर्थात् धातु से स्वर और संस्कार अन्वित होने चाहिएँ। अभिप्राय यह है कि शब्द में वह धातु विद्यमान हो जो शब्द के अभिधेयभूत वस्तु में रहने वाली विशिष्ट क्रिया को कह सके। दुर्ग की एक दूसरी व्याख्या के अनुसार 'प्रदेश' का अर्थ है 'नाम' या प्रातिपदिक 'शब्द' तथा प्रादेशिक गुण' का अर्थ है वह क्रिया जो उस अर्थ के शब्द में रहती है। इस क्रिया से जिन शब्दों के स्वर और संस्कार अन्वित होते हैं अर्थात् उसे प्रकट करते हैं वे शब्द धातुज हैं।

दूसरे टीकाकार स्कन्द के अनुसार 'प्रदेश' का अभिप्राय है शब्द का 'अर्थ'। इस अर्थ या अभिधेयभूत वस्तु में रहने वाली क्रिया है—'प्रादेशिक गुण'। इस तरह 'प्रादेशिकेन गुणेन' का अर्थ हुआ—'अर्थ में विद्यमान विशिष्ट क्रिया'। इस विशिष्ट क्रिया से स्वर तथा संस्कार समन्वित हों अर्थात् स्वर और प्रकृति प्रत्यय आदि के विभाग से उस विशिष्ट क्रिया की प्रतीति हो रही हो जो उस अभिधेयभूत अर्थ में प्रधान रूप से रहा करती है। इस रूप में दुर्ग तथा स्कन्द दोनों टीकाकारों ने अपनी व्याख्या में लगभग एक ही बात को भिन्न-भिन्न पद्धति से कहा है।

वस्तुतः यहाँ आख्यातज (धातुज) शब्दों की तीन विशेषताओं का उल्लेख किया गया। ये विशेषतायें जिनमें पायी जाती हैं उन शब्दों को ही गार्ग्य आदि धातुज मानना चाहते हैं। पहली विशेषता यह है कि शब्द का स्वर व्याकरण के नियमों के अनुकूल हो। दूसरी यह कि शब्द में जिस प्रकृति-प्रत्यय विभाग की कल्पना की गई है वह भी व्याकरण के नियमों के अनुकूल हों तथा तीसरी यह कि स्वर तथा संस्कार उस प्रधानभूत क्रिया को कह रहे हों जो उस शब्द के अर्थभूत वस्तु या द्रव में हो। ये तीनों विशेषताएँ जिनमें नहीं मिलती वे धातुज

नहीं हैं. रूढ़ि हैं अथवा निरुक्त के शब्दों में 'संविज्ञात' हैं। जैसे--'गौः', 'अश्वः', 'पुरुषः', 'हस्ती' इत्यादि।

टिप्पणी—'तद् यत्र०' इस वाक्य में 'अन्वितौ स्याताम्' के बाद संविज्ञातानि तानि' पाठ मिलता है। 'अन्वितौ स्याताम्' इस अश तक जिन विशेषताओं का उल्लेख हुआ है वे 'धातुज' शब्दों की विशेषताएँ हैं और जैसा कि वाक्य की स्थिति है उसके अनुसार 'तानि' का सम्बन्ध 'अन्वितौ स्याताम्' से किया जाना चाहिए। अर्थात् **यत्र स्वर-संस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ स्याताम् तानि संविज्ञातानि स्युः** इस रूप में वाक्य का अन्वय किया जा सकता है। परन्तु 'संविज्ञात' शब्द का अर्थ है प्रसिद्ध या रूढि और 'संविज्ञातानि तानि' के बाद **"यथा 'गौः' 'अश्वः' 'पुरुषः' हस्ती"** इति पाठ मिलता है जिसमें 'संविज्ञात' के उदाहरण के रूप में 'गौः' इत्यादि शब्द प्रस्तुत किए गए हैं जिन्हें कभी भी गार्ग्य और उनके अनुयायी 'धातुज' नहीं मान सकते। अतः यदि 'गौः' आदि शब्दों को 'संविज्ञात' का उदाहरण माना जाता है तो 'संविज्ञात' शब्द का अर्थ रूढ़ि ही करना होगा। और 'संविज्ञात' शब्द का अर्थ 'रूढि' करने पर उससे 'तद् यत्र०' आदि के द्वारा पहले कथित, तीन विशेषताओं का सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता, क्योंकि वे विशेषताएँ 'रूढि' शब्दों की न होकर केवल 'धातुज' शब्दों की हैं। यदि यह कहा जाय कि 'संविज्ञात' का अर्थ 'आख्यातज' है और 'गौः' आदि शब्द 'आख्यातज' के उदाहरण के रूप में ही प्रस्तुत किए गए हैं तो यह गार्ग्य के सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत होगा। क्योंकि यदि 'गौः' जैसे शब्दों को भी गार्ग्य आदि आख्यातज मान लें तो फिर वे 'अधातुज' किसे मानेंगे—फिर तो सभी शब्द 'धातुज' हो जायेंगे।

इन विभिन्न कठिनाइयों को देखते हुए इस वाक्य के अर्थ को सुसंगत करने के लिए विद्वानों ने अध्याहार की सहायता ली है। दुर्ग ने इस वाक्य की दो व्याख्याएँ कीं। पहली में वह 'संविज्ञातानि' का अर्थ करता है—**समं विज्ञातानि—ऐकमत्येन विज्ञातानि इत्यर्थः तेषु तावद् अविप्रतिपत्तिर् एव अस्माकम् आख्यातजानि तानि** अर्थात् जिन शब्दों में स्वर और संस्कार समर्थ हों तथा अभिधेयस्थ क्रिया का वाचक धातु विद्यमान हो वे शब्द सर्व सम्मति

से आख्यातज हैं। ऐसे शब्दों में किसी को कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। जैसे— 'कर्त्ता' 'कारकः' इत्यादि शब्द। इसके बाद अर्थात् 'संविज्ञातानि' के बाद वह 'न पुनः' इन दो शब्दों का अध्याहार करके उनके साथ 'यथा-गौः' 'अश्वः' को सम्बद्ध करके पूरे वाक्य की संगति लगाने का प्रयास करता है।

दुर्ग ने अपनी दूसरी व्याख्या में 'संविज्ञात' शब्द को 'संविज्ञान' का पर्याय मानते हुये उसे 'रूढि' का वाचक माना है और यह कहा है कि यास्क ने निरुक्त में दो स्थलों पर 'संविज्ञान' शब्द का प्रयोग किया है तथा दोनों स्थलों पर 'संविज्ञान' का अर्थ है 'रूढि' 'प्रसिद्धि' अथवा 'परम्परा से प्राप्त'। इस रूप में इस दूसरी व्याख्या में 'संविज्ञातानि तानि' इस अंश को 'यथा-गौरश्वः०' से सम्बद्ध कर दिया गया है। तथा 'तद् यत्र········स्याताम्' को 'आख्यातज' शब्दों की परिभाषा मानते हुए उसके साथ 'तद् आख्यातजम्' इन दो शब्दों का अध्याहार करके पूर्वार्ध की संगति लगाई गई है।

स्कन्द ने दुर्ग की प्रथम व्याख्या को माना है तथा 'न पुनः' के स्थान पर 'न तु' का अध्याहार करके 'संविज्ञातानि' तक एक वाक्य तथा '(न तु)' यथा गौरश्वः' तक दूसरा वाक्य माना है।

प्रो० मैक्समूलर ने निरुक्त के इस पूरे वाक्य को एक माना है तथा 'संविज्ञात' शब्द का अर्थ किया है—'आख्यातज के रूप में एकमत से स्वीकृत' और—'गौः' आदि को आख्यातज का उदाहरण माना है। (द्र०-प्रो० राजवाड़े पृ० २५७) स्पष्ट है कि मैक्समूलर ने इस पंक्ति के आशय को समझा ही नहीं।

प्रो० रॉथ ने 'प्रादेशिक' का अर्थ (Explanatory roots) अभिधेयस्थ क्रिया को वाचक धातु करते हुए दुर्ग की द्वितीय व्याख्या को स्वीकार किया है।

प्रो० गुणे ने 'स्याताम्' तथा 'संविज्ञातानि तानि' के बीच कुछ शब्दों को त्रुटित माना है तथा यह कहा है कि पूर्वपक्ष के हेतुओं का खण्डन करते हुये यास्क ने इन हेतुओं के कुछ अंशों को भी उत्तर पक्ष में वहाँ-वहाँ उद्धृत किया

है। जहाँ यास्क ने इस हेतु का खण्डन करने के लिये इसका उल्लेख किया है। वहाँ 'स्याताम्' के पश्चात् सर्वं तत् प्रादेशिकम्' इतने शब्द और मिलते हैं। गुणे के अनुसार ये ही वे शब्द हैं जो यहाँ प्रमादवश छूट गये हैं। प्रादेशिकम्' का अर्थ है आख्यातज। इसलिये यदि इस पाठ को 'संविज्ञातानि तानि' से पहले मान लिया जाय तो सारी कठिनाई हल हो जाती है, क्योंकि तब 'संविज्ञातानि तानि' से लेकर 'हस्ती' तक एक वाक्य मानकर इस स्थल की पूरी संगति लग जाती है। प्रो० गुणे की यह बात कुछ ठीक प्रतीत होती है क्योंकि यास्क ने सर्वत्र पूर्वपक्ष की बात को उद्धृत करके और उसके बाद 'इति' का प्रयोग करके फिर उसका खण्डन किया है। यह स्थिति इस विवाद में तथा मंत्रों की सार्थकता के विवाद में दोनों स्थलों पर बड़े रूप में देखी जा सकती है।

डा० स्वरूप का यह कहना हैं कि 'तद् यत्र···स्याताम्' यहाँ 'स्याताम्' के पश्चात् पूर्ण विराम मानना चाहिये तथा इस वाक्य को पहले वाक्य 'न सर्वाणि···एके' से सम्बद्ध करके यह अर्थ करना चाहिये कि गार्ग्य तथा, शाकटायन से अतिरिक्त, वैयाकरणों की दृष्टि में सभी शब्द धातुज नहीं हैं अपितु केवल वे शब्द धातुज हैं जिनमें स्वर और संस्कार व्याकरण के अनुकूल हों तथा अभिधेय में विद्यमान मूल धातु से युक्त हों। इसके विपरीत जो शब्द हैं जैसे— 'गौ', 'अश्व' आदि, वे 'संविज्ञात' अर्थात् 'रूढि' हों।

प्रो० राजवाड़े (पृ० २५८) ने 'अन्वितौ' शब्द के स्थान पर 'अनन्वितौ' की कल्पना करके पूरे वाक्य को सुसंगत करना चाहा है। परन्तु उनकी इस कल्पना में भी कठिनाई यह है कि 'स्वर-संस्कारौ समर्थौ' इस अंश की व्याख्या 'अनन्वितौ' के साथ सुसंगत नहीं हो पाती। या तो यहाँ भी 'न' की कल्पना की जाय तथा यह पाठ माना जाय कि 'यत्र स्वर-संस्कारौ असमर्थौ स्याताम्' इत्यादि। पर यह सब मानने में दो बार 'न' का अध्याहार करना पड़ता है तथा अस्पष्टता फिर भी बहुत कुछ बनी रहती हैं।

जितने विचार ऊपर प्रस्तुत किये गये इन सब में प्रो० गुणे अथवा

डा० स्वरूप की व्याख्या उचित एवं ग्राह्य प्रतीत होती है, क्योंकि उसमें किसी प्रकार का कोई अध्याहार नहीं करना पड़ता।

शाकटायन मत के खण्डन में गार्ग्य के हेतु—

प्रथम—यदि सभी नाम 'धातुज' होते 'तो जो कोई उस विशिष्ट कार्य को करता है उन सबके लिये उस शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे यदि 'अश् व्याप्तौ धातु से 'व' प्रत्यय 'अश्व' कहा जाता है तब तो जो कोई भी प्राणी या द्रव्य मार्ग पर शीघ्रता से चले—मार्ग को व्याप्त करे उन, साइकिल, मोटर, गाड़ी इत्यादि, द्रव्यों अथवा गधा, ऊंट, हाथी इत्यादि प्राणियों—सबको अश्व कहा जाना चाहिये। इसी प्रकार यदि चुभने अर्थ वाली 'तृदी तर्दने' धातु से 'तृण' शब्द बना होता तो चुभने वाले—सुई, काँटे इत्यादि हर वस्तु को 'तृण' कहा जाना चाहिये था। पर ऐसा नहीं होता।

द्वितीय—यदि सभी शब्द 'धातुज' होते, तो जिन-जिन क्रियाओं से एक वस्तु या प्राणी सम्बद्ध होता अथवा करता उन सब क्रियाओं की दृष्टि से एक ही वस्तु अथवा प्राणी के भिन्न नाम पड़ना चाहिये। जैसे यदि स्वयं स्थिर होने अथवा अपने पर आश्रित दूसरों को स्थिर करने के कारण 'स्था' धातु से 'स्थूणा' शब्द निष्पन्न होता तो चूंकि वह 'दर' अर्थात् बिल या नींव में सोता है—स्थिर रहता है—इसलिये इसका नाम 'दरशया' भी पड़ना चाहिये था। तथा इस तरह चूँकि स्तम्भ या स्थूणा के ऊपर छत या शहतीर ठहरी हुई होती है इसलिये, 'आसज्यतेऽस्याम् इति आसंजनी' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अधिकरण में 'ल्युट्' प्रत्यय करके निष्पन्न, 'आसंजनी' शब्द का प्रयोग भी स्थूणा' के लिये होना चाहिये था।

टिप्पणी—वस्तुत: 'यौगिक' या 'धातुज' शब्दों की यह विशेषता देखी जाती है कि उनका प्रयोग उन सब व्यक्तियों या वस्तुओं के लिये होता है जो-जो उस विशिष्ट क्रिया से सम्बद्ध होते हैं जो उस शब्द में विद्यमान मूलभूत धातु का अर्थ होती है जैसे जो कोई भी पढ़ाने का काम करता है, उन सबके लिये 'अध्यापक' शब्द का प्रयोग किया जाता है क्योंकि अध्यापन क्रिया को कहने

वाली 'अधि=इ' धातु से कर्ता कारक में 'ण्वुल' प्रत्यय होकर 'अध्यापक' शब्द बना है। जो कोई भी सुन्दर ढंग से गाना गाता है उन सबको 'गायक' कहा जाता है। इसी प्रकार 'धातुज' शब्दों की एक दूसरी विशेषता यह भी देखी जाती है कि एक ही व्यक्ति जिन क्रियाओं को प्रधान रूप से करता है उनके आधार पर उसके भिन्न-भिन्न नाम पड़ जाते हैं। जैसे एक ही व्यक्ति को पढ़ाने के कारण 'अध्यापक', गाने के कारण 'गायक', उपदेश देने के कारण 'उपदेशक' इत्यादि कहा जाता है। ये दोनों विशेषतायें 'रूढि' शब्दों के विषय में नहीं मिलती। अतः उन्हें 'धातुज' या 'यौगिक नहीं माना जा सकता।

तृतीय—यदि सभी शब्द 'धातुज' होते तो उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया जाता जो व्याकरणों के नियमों के अनुसार सुसंगत, साधु एवं न्याय्य होते तथा जो उन विशिष्ट क्रियाओं के वाचक धातुओं से ही निष्पन्न होते, जो क्रियायें शब्द के अभिधेयभूत वस्तु में प्रधान रूप से रहती हैं।

न्यायवान का अर्थ है 'न्याय' अर्थात् व्याकरण के नियम के अनुकूल। 'कार्मनामिक':—**कर्मकृतं नाम कर्म नाम। तस्मिन् भवः कार्मनामिक संस्कारः।** कर्म, अर्थात् क्रिया। उसके आधार पर पड़ने वाला नाम 'कर्मनाम' है। इस-लिये वस्तु या व्यक्ति में विद्यमान क्रिया के आधार पर किसी का जो नाम रखा जाता है वह 'कर्मनाम' है। जैसे पकाने वाले के लिये 'पाचक' नाम 'कर्मनाम' है। यदि सभी शब्द 'धातुज' होते तो इस तरह के 'कर्मनाम' से सम्बद्ध संस्कार का उपयोग होता। इसके अतिरिक्त जिस तरह के जो शब्द अधिक से अधिक प्रतीतार्थक—स्पष्टार्थक हों उन्हीं का प्रयोग किया जाना चाहिये था—**प्रतीतं स्पष्टतया ज्ञातम् अर्थं येषां तानि प्रतीतार्थानि** अस्पष्टार्थक शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता जैसे—'पुरुष' शब्द यदि 'पुरि शेते इति पुरुषः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'पुर' शब्द तथा 'शी' धातु से बना हुआ है तो 'पुरुष' का प्रयोग न करके 'पुरिशयः' शब्द का प्रयोग होता। इसी तरह यदि 'अश्व' शब्द 'अश्' धातु निष्पन्न है तथा मार्ग को व्याप्त करने के कारण घोड़े को 'अश्व' कहा जाता तो 'अश्व' के स्थान पर स्पष्ट अर्थ वाले 'अष्टा' शब्द का प्रयोग

किया जाता। क्योंकि ये दोनों ही शब्द व्याकरण के नियमों के अनुकूल हैं। कार्मनामिक संस्कार से सम्बद्ध हैं तथा 'प्रतीतार्थक' हैं। 'आचक्षीरन्' शब्द 'चक्ष् व्यक्तायां वाचि' से 'लिङ्' अन्य पुरुष बहुवचन का प्रयोग है। आचक्षीरन् अर्थात् कहते—प्रयोग करते।

चतुर्थ—जब शब्दों का व्यवहार चल पड़ता है—प्रचलित हो जाता है—प्रसिद्ध हो जाता है तब निरुक्त के विद्वान् उन शब्दों के धातु या प्रकृति आदि के विषय में विचार आरम्भ करते हैं। यदि सभी शब्द 'धातुज' होते तो शब्द प्रयोग से पहले ही उस शब्द की प्रकृति आदि के विषय में विचार कर लिया जाता। जैसे भूमि को न जाने कब से लोग 'पृथिवी' कहते चले आ रहे हैं। जब सृष्टि बनी होगी—भूमि उभरी होगी तथा संस्कृत शब्दों का प्रयोग होने लगा होगा। तभी से भूमि के लिये 'पृथिवी' शब्द का प्रयोग आरम्भ हो गया होगा। परन्तु इतने दिनों पश्चात् नैरुक्त कहता है कि 'प्रथ्' धातु से 'पृथिवी' शब्द बना है तथा फैलाई जाने के कारण भूमि को 'पृथिवी' कहा जाता है। इस 'पृथिवी' को किसने फैलाया, कब फैलाया तथा जब फैलाया तो वह फैलाने वाला स्वयं कहाँ खड़ा था? इन प्रश्नों का नैरुक्त के पास कोई उत्तर नहीं है।

पञ्चम—सभी शब्दों को 'धातुज' मानने के सिद्धान्त के प्रबल पोषक **शाकटायन** तथा उनके अनुयायी नैरुक्तों ने शब्दों की व्युत्पत्ति करते हुए विचित्र खिलवाड़ किया है। कुछ ऐसे शब्दों की व्युत्पत्तियाँ भी की गईं जिनमें जो धातुएँ दिखाई देती हैं उनका अर्थ शब्द में नहीं है तथा जिन धातुओं का अर्थ शब्द में है वे व्युत्पत्तियों में नहीं हैं। ऐसी स्थिति होने पर भी इन शब्दों का निर्वचन करते हुए इन शाकटायन आदि ने शब्दों के अनेक भाग करके उन भिन्न-भिन्न भागों को भिन्न-भिन्न धातुओं से सिद्ध किया है। जैसे—'सत्य शब्द के 'सत्' तथा 'य' ये दो भाग किये गये। 'इ' (इण् गतौ) धातु के णिजन्त रूप 'आययति' से 'यकारादि' अर्थात् 'य' बनाया गया। तथा 'शुद्ध' अर्थात् प्रक्रिया रहित 'शतृ' प्रत्ययान्त 'अस्' धातु के सकारादि भाग 'सत्' से 'सत्य' शब्द के आदि भाग 'सत्' की सिद्धि की गयी। इस प्रकार के निर्वचन, निर्वचन न होकर, खिलवाड़ कहे जा सकते हैं। इसका कारण यह कि 'सत्य'

शब्द के अर्थ में न तो 'अस्' धातु का अर्थ विद्यमान है और न 'इण्' धातु का। क्योंकि असत्य वस्तुयें भी रहती ही हैं। इसलिये यदि 'अस्' धातु से ही 'सत्य' शब्द बना है तो 'सत्य' का अर्थ 'असत्य' भी हो सकता है। और 'सत्य' शब्द में जिस मूल प्रकृति या धातु का अर्थ विद्यमान, है उससे व्याकरण के अनुसार 'सत्य' शब्द बन नहीं सकता। इसलिये इस प्रकार के शब्दों के प्रकृति-प्रत्यग विवेचन अथवा निर्वचन के झगड़े में न पड़ कर या दूसरे शब्दों में इन्हें धातुज न मानकर सीध रूढि मान लिया जाना चाहिये।

'अनन्विऽर्थे' तथा 'अप्रादेशिके विचारे' ये दोनों शब्द रूढि शब्दों की दो विशेषताओं को बताते हैं। पहली विशेषता यह है कि सत्य में जो धातु दिखाई देती है उस धातु का अथ शब्द क अर्थ में विद्यमान नहीं होता। दूसरी विशेषता यह है कि जिस धातु से शब्द बनाया जाता है उसमें, व्याकरण के नियमों के अनुसार, शब्द की सिद्धि नहीं हो सकती। 'विकार' का अर्थ है 'संस्कार'। तथा 'अप्रादेशिक' का अर्थ है उस शब्द (प्रदेश) से सम्बद्ध न होना अथवा व्याकरण के अनुकूल न होना। 'प्रदेश' का अर्थ है, 'प्रदिश्यते—उच्चार्यते यः स प्रदेश', इस व्युत्पत्ति के अनुसार, वह शब्द जिसका निर्वचन करना है। 'प्रदिश्यते—उपदिश्यते सूत्र समूहो यत्र' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रदेश' का अर्थ 'व्याकरण' भी हो सकता है।

उपर्युक्त ये दोनों विशेषतायें अत्यन्त 'रूढ़ि' भूत शब्दों में पायी जाती हैं। जैसे 'हस्त' (हाथ) शब्द 'हस् हसने' धातु तथा 'क्त' प्रत्यय प्रतीत होता है। परन्तु 'हसना' अर्थ 'हस्त' शब्द के अर्थ में कथमपि विद्यमान नहीं है। यह हुआ अर्थ का 'अनन्वित' होना अर्थात् प्रतीयमान धातु को अर्थ का शब्द में विद्यमान न होना। इसके अतिरिक्त 'हस्तो हन्तेः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस 'हन्' धातु से 'हस्त' शब्द बनाया जाता है, उससे, व्याकरण के नियमों के अनुसार, यह शब्द नहीं बन सकता। इस रूप में 'हन्' धातु के आधार पर कल्पित 'विकार' अर्थात् 'हस्त' शब्द विषयक 'संस्कार अप्रादेशिक' हैं अर्थात् 'प्रदेश'—'हस्त' शब्द—में नहीं है। अथवा यह 'हन्, धातु सम्बद्ध संस्कार 'अप्रादेशिक' है अर्थात् व्याकरण के नियमों के अनुकूल नहीं है।

'पदेभ्यः' का अर्थ है विभिन्न धातु पदों से। 'पदेतराधन्' का अर्थ है एक-एक पद के दो आधे-आधे भागों को। 'एतः'—'इण्' धातु का।

'कारितम्'—का अर्थ है 'णिजन्त' । पाणिनि ने 'कारित' आदि शब्दों की सिद्धि के लिए 'णिच्' प्रत्यय की कल्पना की है। इसीलिए पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'कारित' 'पाठित' इत्यादि शब्दों में धातु को 'णिजन्त' माना जाता है। परन्तु प्राचीन वैयाकरण 'णिजन्त' धातु को 'कारित' शब्द से व्यवहार करते रहे ऐसा यास्क के इस कथन से प्रतीत होता है। इसी प्रकार पाणिनीय व्याकरण में प्रयुक्त 'यङ्लुगन्त' शब्द के लिये प्राचीन वैयाकरण 'चर्करीतान्त' शब्द का तथा 'सन्नन्त' के लिये 'चिकीर्षित' शब्द का व्यवहार करते थे—ऐसा महाभाष्य आदि से ज्ञात होता है। ये 'कारित' इत्यादि नाम उस प्रक्रिया में निष्पन्न होने वाले शब्द प्रयोगों की दृष्टि से प्रतीक के रूप में निर्धारित हुए होंगे जबकि पाणिनि ने 'णिच्' आदि प्रत्ययों की दृष्टि से 'णिजन्त' आदि शब्दों का प्रयोग किया है। यह भी ध्यान देने की बात है कि इन शब्दों के निदेश के लिये 'कृ' धातु से बने 'कारित' 'चिकीर्षित' तथा 'चर्करीत जैसे शब्दों को ही प्रतीक के रूप में चुना गया। 'अन्तःकरणम्' का अर्थ अन्त में करना या रखना अथवा अन्तिम भाग बनाना। प्रो० राजवाड़े ने 'करण' का अर्थ 'खण्ड' (Syllable) किया है । 'अस्तेः सकारादिम'—'कारित' के विपरीत यहाँ 'शुद्ध' शब्द का प्रयोग किया गया । 'कारित' अथवा 'णिजन्त' आदि के प्रयोगों में धातु के साथ कोई न कोई प्रत्यय लगा होता है—धातु विकृत होती है। इसके विपरीत जब धातु के साथ 'णिच्' आदि कोई प्रत्यय नहीं होता तो वह 'शुद्ध' होती है, अविकृत होती है। ऐसे शुद्ध 'अस्' धातु के 'शतृ' प्रत्ययान्त 'शतृ' जैसे प्रयोगों को 'सत्य' के आदि में रखा गया। यहाँ 'सकारादिम्' के साथ 'आदि करणम्' शब्द का अध्याहार कर लेना चाहिये। इस वाक्य में यास्क ने चार बार 'च' का प्रयोग किया है जो सर्वथा अनावश्यक प्रतीत होता है। केवल दो बार 'च' का प्रयोग पर्याप्त था।

छठा हेतु—यह एक तथ्य है कि पहले 'सत्त्व' अर्थात् वस्तु या द्रव्य होता है उसके बाद 'भाव' अर्थात् क्रिया उपस्थित होती है। यह उचित भी है क्योंकि 'कार्य से पूर्व 'कारण' का होना आवश्यक है—जब तक 'कर्ता' नहीं होगा तब तक 'कार्य हो ही कैसे सकता है। परन्तु नैरुक्त यह मानता है कि

वस्तु में रहने वाली किसी विशिष्ट क्रिया के आधार पर वस्तुओं का नाम पड़ता है। अर्थात्—वस्तु में होने वाली क्रिया विशेष के आधार पर उस क्रिया के वाचक धातु से निष्पन्न नाम का उस वस्तु विशेष के लिए प्रयोग किया जाता है। अत्र यह बात भला कैसे सुसंगत हो सकती है कि क्रिया जो वस्तु या द्रव्य के बाद प्रकट होती है उसके आधार पर पहले से विद्यमान वस्तु या द्रव्य का नाम पड़े। वस्तु या द्रव्य का नाम तो पहले ही, वस्तु के उत्पन्न होने के साथ ही, पड़ जाता है। उस समय यह नहीं देखा जाता कि इस वस्तु में यह विशिष्ट क्रिया हो रही है या नहीं। इसलिये इन आक्षेपों या तर्कों के होते हुए शाकटायन का यह सिद्धान्त कि 'सभी शब्द धातुज हैं'—किसी न किसी क्रिया विशेष के आधार पर उस-उस क्रिया विशेष के वाचक धातु से निष्पन्न हैं—कथमपि उत्पन्न नहीं हो पाता।

टिप्पणी—'पूर्वस्य प्रदेशः'—यहाँ 'पूर्वस्य' का अर्थ क्रिया से पूर्व विद्यमान वस्तु या द्रव्य का ('प्रदेश', का अर्थ यहाँ, प्रदिश्यतेऽभिधीयतेऽर्थो येन सः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'करण' कारक में 'घञ्' मान कर, 'नाम' या 'वाचक शब्द' है। अर्थात् पहले से विद्यमान वस्तु के लिए बाद में होने वाली क्रिया के आधार पर निष्पन्न होने वाले वाचक शब्द की उत्पत्ति नहीं हो पाती। अथवा 'प्रदेशनं प्रदेशः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'भाव' में 'घञ्' मानकर 'प्रदेशः' का अर्थ 'कथन' भी किया जा सकता है। इस अर्थ के अनुसार 'पूर्वस्य प्रदेशः' का अर्थ होगा पहले से विद्यमान द्रव्य का शब्द में होने वाली क्रिया के आधार पर निष्पन्न शब्द से कथन सम्भव नहीं है।

गार्ग्य की युक्तियों का खण्डन

मूल—

तदेतन् नोपपद्यते। यथो हि नु वा एतत् 'तद् यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्यातां सर्वं प्रादेशिकम्' इत्येवं सत्य-नुपालम्भ एष भवति।

यथो एतद् 'यः कश्च तत्कर्म कुर्यात् सर्वं तत् सत्त्वं तथा आचक्षीरन् इति', पश्यामः समान-कर्मणां नामधेय-प्रतिलम्भम् एकेषां नैकेषां यथा 'तक्षा', 'परिव्राजकः' 'जीवनः', 'भूमिजः' इति।

एतेनैव उत्तरः प्रत्युक्तः।

यथो एतद् 'यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस् तथैनान्याचक्षीरन्' इति सन्त्यल्पप्रयोगाः कृतोऽप्यैकपदिकाः। यथा—'व्रततिः', 'दमूनाः' 'जाट्यः', 'आट्णारः', 'जागरूकः', 'दर्विहोमी' इति।

यथो एतत् 'निष्पन्नेऽभिव्याहारेऽभिविचारयन्ति' इति, भवति हि निष्पन्नेऽभिव्याहारे योगपरीष्टिः। प्रथनात् पृथिवी इत्याहुः। 'क एनाम् अप्रथयिष्यत् ? किम् आधारश्च ? इति ? अथ वै दर्शनेन पृथुः, अप्रथिता चेद् अप्यन्यैः। अथाप्येवं सर्व एव दृष्टप्रवादा उपालभ्यन्ते।

यथो एतद् 'पदेभ्यः पदेतरार्धान् संचस्कार' इति, योऽनन्वितेऽर्थे संचस्कार स तेन गर्ह्यः। सैषा पुरुष-गर्हा न शास्त्र-गर्हा।

यथो एतत् 'अपरस्माद् भावात् पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यते' इति पश्यामः पूर्वोत्पन्नानां सत्त्वानाम् अपरस्माद् भावान् नामधेय प्रतिलम्भम् एकषां न एकेषाम्। यथा—'विल्वादः', 'लम्बचूडकः' इति। बिल्वम् भरणाद् वा भेदनाद् वा।

अनुवाद—(गार्ग्य-पक्ष की ओर से जो हेतु दिये गये) वह (सब) सुसंगत नहीं हो पाता। जो यह (कहा गया) कि 'जहाँ स्वर और संस्कार समर्थ हों तथा अर्थ भूत वस्तु में विद्यमान क्रिया के वाचक धातु से अन्वित हो (वे) सभी (शब्द) धातुज हैं' ऐसा मानने से (सभी शब्द धातुज हैं इस सिद्धान्त पर) कोई आक्षेप नहीं आता।

जो यह (कहा गया) कि 'जो कोई भी उस कार्य को करे उन सबके लिये उस विशिष्ट शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिये' (उसका उत्तर यह है कि) देखते हैं कि समान कर्म करने वालों में से (केवल) कुछ के लिये उस (विशिष्ट शब्द का प्रयोग होता है अन्यों के लिये नहीं। जैसे—'तक्षा' 'परिव्राजक,' 'जीवन' तथा 'भूमिज' (शब्दों का प्रयोग उन क्रियाओं से युक्त सब द्रव्यों के लिये नहीं होता)।

इसी बात से अलग (आक्षेप) का भी खण्डन हो गया।

(जो यह कहा गया) कि 'जिस रूप में (शब्द) स्पष्ट अर्थ वाले हों उस रूप में उनका प्रयोग किया जाय' (उत्तर यह है कि), कृदन्त शब्द बहुत थोड़े प्रयोग वाले हैं, जैसे = 'जाट्य:', 'जागरूक:', 'दर्विहोमी', तथा (उनके विपरीत) ऐक-पदिक (अस्पष्टार्थक) शब्द (बहुत अधिक) हैं, जैसे—व्रततिः', 'दमूना:', 'आट्णार:'।

जो यह (कहा गया) कि '(शब्दों के प्रयोग के) प्रसिद्ध हो जाने पर (नैरुक्त उनके प्रकृति-प्रत्यय आदि विषय में) विचार करते हैं' (उसका उत्तर यह है कि), प्रयोग के प्रसिद्ध हो जाने पर ही योग (प्रकृति-प्रत्यय के सम्बन्ध की परीक्षा होती है। फैली हुई होने के कारण (भूमि को) 'पृथिवी' कहते हैं। किसने इसे फैलाया ? तथा (उस फैलाने वाले का) आधार क्या था ?' (इन प्रश्नों का उत्तर यह है कि) किसी के द्वारा फैलायी हुई न होने पर भी चूंकि देखने में यह फैली हुई लगती है (इसलिये भूमि को 'पृथिवी' कहा जाता है। और इस प्रकार तो देखने के आधार पर (किसी बात को उस रूप में) कहने वाले सभी आक्षेप के भागी होंगे। अथवा इस प्रकार तो सभी दृष्ट अर्थ के कथनों पर आक्षेप किया जा सकता है।

जो यह (कहा गया कि) अनेक (धातु) पदों से (एक ही) पद के आधे आधे भागों को बनाया' तो (इस का उत्तर यह है कि) जिसने अनन्वित अर्थ में शब्द के प्रकृति प्रत्यय आदि) संस्कार की कल्पना की वह निन्दनीय है। यह संस्कार की कल्पना करने वाले पुरुष की निन्दा है (निर्वचन शास्त्र अथवा सभी नामों को धातुज मानने वाले सिद्धान्त की निन्दा नही है)

जो यह (कहा गया) कि बाद में होने वाली क्रिया के आधार पर पहले से विद्यमान पदार्थ का नाम उत्पन्न नहीं हो पाता' तो, (इसका उत्तर यह है कि देखते हैं कि) पहले से उत्पन्न (केवल) कुछ वस्तुओं का बाद में होने वाली क्रिया के आधार पर नाम रखा जाता है कुछ का नहीं। जैसे—'बिल्वाद' 'लम्बा-चूड़क'। 'बिल्व' (शब्द) 'भृ' या 'भिद्' (धातु) से बनेगा।

व्याख्या— **तद्·········नोपपद्यते**

गार्ग्य ने जो हेतु, सब शब्दों को (धातुज) मानने के सिद्धान्त के खण्डन के लिए, दिए, उनका उत्तर देते हुए यास्क कहते हैं कि ये हेतु सुसंगत नहीं हैं। उत्तर पक्ष का यह प्रस्तावनावाक्य प्रतीत होता है। दुर्ग ने इस वाक्य को पूर्वपक्ष के उपसंहार के रूप में समझा है। परन्तु स्कन्द ने इस पंक्ति का अन्वय गार्ग्य की युक्तियों के खण्डन के प्रारम्भिक वाक्य के रूप में किया है। दोनों रूपों में से किसी तरह इस वाक्य को समझा जा सकता है परन्तु उत्तरपक्ष का प्रारम्भिक वाक्य मानने में अधिक स्वारस्य प्रतीत होता है।

तद यत्र···अनुपालम्भ एष भवति—इस अंश का अभिप्राय यह है कि गार्ग्य के इस कथन से कि वे सभी शब्द आख्यातज हैं जिनमें स्वर और संस्कार व्याकरण के अनुकूल हों तथा शब्द के अभिधेय भूत वस्तु में जो प्रमुख क्रिया हो उसका वाचक धातु शब्द में विद्यमान हो' शाकटायन तथा नैरुक्तों के सिद्धान्त पर कोई आपत्ति नहीं आती क्योंकि यह तो अपना दृष्टिकोण है। प्रत्येक विद्वान् अपने सिद्धान्त का निर्धारण करने में स्वतन्त्र है। गार्ग्य का कहना है कि वे केवल थोड़े से शब्दों को धातुज मानते हैं तथा शाकटायन आदि का सिद्धान्त है कि वे सभी शब्दों को 'धातुज' मानते हैं। गार्ग्य के इस प्रतिपादन के द्वारा शाकटायन या नैरुक्तों के सिद्धान्त पर कोई आपत्ति नहीं आती।

टिप्पणी—संस्कृतव्याकरण का अंग या परिशिष्ट उणादिकोश है जिसमें उपलक्षण के रूप में कुछ रूढ़ि शब्दों के स्वर संस्कार आदि के प्रदर्शन का प्रयास किया गया है। परम्परा इस ग्रन्थ को, सभी शब्दों को धातुज मानने वाले, शाकटायन की रचना मानती हैं। महाभाष्य में तीन कारिकायें मिलती हैं जिनमें पहली में यह कहा गया है कि उणादिकोश में बहुत थोड़ी प्रकृतियों का निर्देश किया गया है तथा कुछ थोड़े प्रत्ययों का संग्रह किया गया है। साथ ही शब्द सिद्धि रूप कार्य का विधान भी बहुत थोड़ा ही मिलता है। इसलिये पाणिनि के 'उणादयो बहुलम्' (अष्टा० ३।३।१) सूत्र में 'बहुल' शब्द का प्रयोग इस दृष्टि से किया गया कि जिस प्रकार 'उणादि' से कुछ शब्दों की सिद्धि की गयी

उसी तरह अन्य शब्दों की भी सिद्धि कर लेनी चाहिये। इस प्रकार वेद के शब्दों तथा 'रूढ़ि' भूत शब्दों की सिद्धि हो जायेगी। **दूसरी** कारिका में यास्क के **नामान्याख्यातजानि इति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च** इस बात को ही दूसरे शब्दों में उद्धृत किया गया है तथा यह कहा गया है कि जिन शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय आदि नहीं बताये गये उनमें यदि 'प्रत्यय' का ज्ञान हो जाय तो उसके आधार पर 'प्रकृति' का, तथा यदि 'प्रकृति' का ज्ञान हो जाय तो उसके आधार पर 'प्रत्यय' का अनुमान कर लेना चाहिये। **तीसरी** कारिका में यह कहा गया है कि संज्ञा शब्दों में पूर्व भाग में 'प्रकृति' और उसके बाद 'प्रत्यय' तथा, शब्द में जो जो कार्य दिखाई दे उनके अनुसार अनुबन्ध की कल्पना कर लेनी चाहिये। सभी शब्दों को धातुज मानने वाले शाकटायन आदि की यही स्थिति है। वे कारिकाये हैं:—

बाहुलकं प्रकृतेस् तनुदृष्टेः प्रायसमुच्चयनाद् अपि तेषाम्।
कार्य-सशेष-विधेश्च तदुक्तं नैगमरूढिभवं हि सुसाधु ॥
नाम च धातुजम् आह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।
यन्न पदार्थविशेष-समुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तद् ऊह्यम् ॥
संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्चततः परे।
कार्याद् विद्याद् अनुबन्धम् एत च्छास्त्रम् उणादिषु ॥

गार्ग्य के आक्षेपों का खण्डन—पहले आक्षेप में जो यह बात कही गयी कि यदि सभी शब्द 'धातुज' होते तो जो कोई भी प्राणी उस कार्य को करे उन सबको विशिष्ट नाम (शब्द) से कहा जाना चाहिये था। इसका उत्तर यह है कि एक काम को करने वालों में से कुछ का नाम उस कार्य के आधार पर रखा जाता है सब का नहीं। जैसे—'तक्ष' शब्द 'तक्ष्' धातु जिसका अर्थ लकड़ी, काटना, छीलना, बराबर करना, से बना है। तथा लकड़ी को काटने आदि का काम समय-समय पर अनेक लोग करते हैं। परन्तु सबको 'तक्षा' नहीं कहा जाता। केवल जो शिल्पी (बढ़ई) होते हैं उन्हें ही 'तक्ष' कहा जाता है। 'परि' उपसर्ग पूर्वक गति अर्थ वाली, 'व्रज्' धातु से 'ण्वुल' प्रत्यय करने 'परिव्राजक शब्द बनेगा तथा इसका अर्थ है चारों तरफ—सर्वत्र-सर्वत्र-घूमने वाला। परन्तु लोग केवल

संन्यासी को ही 'परिव्राजक' कहते हैं-भिखमंगे आदि को परिव्राजक नहीं कहते। यद्यपि वे भी सर्वत्र घूमते रहते हैं। 'जीवन' शब्द 'जीव्' धातु से 'कर्म या 'करण' में 'ल्युट्' प्रत्यय करके निष्पन्न माना जाता है तथा उसका अर्थ है 'स्वयं जीना' अथवा 'वे साधन जो जीने में सहायक हों (जीव्यतेऽनेन)। यहाँ चूँकि 'जीवन' शब्द का पुँल्लिग में प्रयोग हुआ है अतः उसे विशेषण मानकर उसका अर्थ 'जीवन का साधन' करना चाहिये। इस अर्थ के अनुसार 'अन्न', 'जल', 'ओषधि' बहुत सी वस्तुओं को 'जीवनः' कहा जाना चाहिये; परन्तु केवल 'इक्षुरस' या एक प्रकार के 'शाक' जाति को 'जीवनः' कहा जाता है। स्कन्द ने 'जीवनः' का अर्थ 'जलता हुआ अंगारा' किया है। इसी प्रकार 'भूम्यां जातः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो कुछ भी भूमि में उत्पन्न हो उस सबको भूमिज कहा जाना चाहिये। परन्तु केवल 'मङ्गल' ग्रह को ही 'भूमिज' कहा जाता है।

गार्ग्य पक्ष वाले भी यह नहीं कह सकते कि ये शब्द 'धातुज' नहीं हैं। परन्तु 'धातुज' होते हुए भी इन शब्दों का प्रयोग सीमित वस्तु या व्यक्ति के लिये किया जाता है इसका उत्तरदायी वैयाकरण या नैरुक्त नहीं है। वस्तुतः यह बात भाषा का प्रयोग करने वालों पर निर्भर करती है। इसके लिये क्या कहा जा सकता है कि बोलने वाले क्यों कुछ खास व्यक्तियों को ही 'तक्षा' कहते हैं अन्यों को नहीं। संभवतः इसका कारण यह हो कि इस प्रकार के सीमित प्रयोगों से स्पष्ट एवं वर्गीकृत अर्थ प्रकट हो सकेगा।

दूसरे आक्षेप में जो बात कही गयी है उसका निराकरण भी उपर्युक्त हेतु से ही हो जाता है। अनेक कर्मों को करने वाले एक व्यक्ति को उन उन कर्मों के आधार पर भिन्न-भिन्न अनेक नाम क्यों नहीं पड़ते? इसका उत्तर भी बोलने वाले ही दे सकते हैं, नैरुक्त इसके उत्तरदायी नहीं हैं। यहाँ भी उपर्युक्त स्पष्टार्थता ही कारण प्रतीत होता है।

तीसरे आक्षेप में यह कहा गया है कि यदि सब शब्द 'धातुज' हैं तो जिस रूप में शब्दों की सिद्धि व्याकरण से सुसंगत रूप में हो सके और जो नाम क्रिया

के आधार पर पड़ा हुआ हो तथा जिससे सरलतापूर्वक अर्थ का ज्ञान हो सके उस रूप में ही शब्दों का ही प्रयोग किया जाना चाहिये। अश्व को 'अष्टा' तथा तृण को 'तर्दन' कहा जाना चाहिये। इसका उत्तर यह है कि जिन शब्दों की निष्पत्ति व्याकरण के नियमों के अनुसार सुसंगत हो जाती है, तथा जिनका अर्थ आसानी से जाना जा सके ऐसे 'कृदन्त' शब्द भाषा में बहुत थोड़े मिलते हैं। जैसे—'जाटय:' (जटा वाला), 'जागरूक:' (जागरणशील) तथा 'दर्विहोमी' (बड़े चम्मच से हवन करने वाला)। वहाँ 'जाटय:' तद्धितान्त प्रयोग है। शेष दोनों 'कृदन्त' शब्द हैं। यहाँ 'कृत:' (कृदन्त) को उपलक्षण मानकर उसमें तद्धितान्त शब्दों का भी अन्तर्भाव मान लेना चाहिये, क्योंकि तद्धितान्त शब्द भी 'न्यायवान्', 'कार्मनामिक' तथा 'प्रतीतार्थक' ही होते हैं।

परन्तु संस्कृत भाषा में अधिकता उन शब्दों की है जो व्याकरण के सीमित नियमों के द्वारा सिद्ध नहीं हो पाते तथा सर्वथा अस्पष्ट अर्थ वाले हैं। ऐसे कुछ शब्दों का संग्रह निरुक्त के 'एक पदिक काण्ड' अर्थात् चौथे, पाँचवे तथा छठे अध्याय में किया गया है। जैसे—'व्रतति:' (लता), 'दमूना:' (अग्नि अतिथि इत्यादि), 'आटणार:' (अटनशील)। जब स्पष्टार्थक शब्द थोड़े हैं तथा अस्पष्टार्थक और व्याकरण के सूत्रों में न सिमट सकने वाले शब्दों का बाहुल्य है, तो फिर उन अस्पष्टार्थक शब्दों का भी प्रयोग तो करना ही पड़ेगा। इसलिये भाषाविदों तथा नैरुक्तों का प्रयास यह होना चाहिये कि उसमें प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना करके उन्हें सुसंगत एवं स्पष्ट अर्थ वाला बनायें। शब्दों के स्वरूप में देश, काल तथा वातावरण आदि के भेद से न जाने कितने-कितने परिवर्तन होते रहते हैं और शब्दों का रूप अपने मूल रूप से इतना विकृत हो जाता है कि उनके मूल रूप का पता लगाना भी कठिन हो जाता है। इसलिये यह कहना कि स्पष्टार्थक शब्दों का प्रयोग क्यों नहीं किया जाता ?—एक वेतुका सा प्रश्न है, क्योंकि शब्द का प्रयोग बोलने वाले अपनी इच्छा तथा शक्ति के अनुरूप, भिन्न-भिन्न रूप में करेंगे ही उन्हें रोका तो नहीं जा सकता; पर विकृत या परिवर्तित शब्दरूपों के मूल रूप को जानने का प्रयास तो किया ही जा सकता है। इस रूप में इन बातों से शब्दों को 'धातुज' मानने के सिद्धान्त पर कोई दोष नहीं आता।

टिप्पणी—आक्षेप कर्त्ता ने अपनी बात के उदाहरण के रूप में यह कहा कि 'अश्व' को 'अष्टा' क्यों नहीं कहा जाता। यहाँ सम्भवतः उसे यह ध्यान नहीं रहा कि 'तृच्' के समान 'व' प्रत्यय का प्रयोग भी अनेक धातुओं में मिलता है। जैसे—'इ' से 'एव' (वेग), 'शी' से 'शेव' (सुख या निधि)। इसलिये केवल 'अष्टा' को धातु मानना, उचित नहीं।

यहाँ 'कृतोऽप्यैकपदिका ············ दर्विहोमी इति' यह पाठ पर्याप्त अस्पष्ट है। प्रो॰ राजवाड़े के अनुसार सम्भावित पाठ है— **'सन्ति अल्प प्रयोगाः कृतः। यथा जाट्यः, जागरूकः, दर्विहोमीति। बहव ऐकपदिका न तथा। यथा– व्रततिः, । दमूनाः, आटणार** इति, (पृ॰ २६५)। इसके आधार पर ही ऊपर अनुवाद तथा व्याख्या की गई है।

चौथे आक्षेप में कहा गया है कि शब्द के प्रचलित हो जाने पर नैरुक्त उसके प्रकृति प्रत्यय आदि की परीक्षा आरम्भ करता है—तो यह तो स्वाभाविक ही है। क्योंकि जब तक शब्द प्रचलित या प्रसिद्ध ही नहीं होगा, तब तक उसके प्रकृति-प्रत्यय आदि की परीक्षा या उसके विषय में विचार करने की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती। जब शब्द विद्यमान ही नहीं होगा, तो परीक्षा किसकी होगी। और जो यह कहा गया कि 'यदि फैली हुई होने से 'पृथिवी' कहा जाता है, तो नैरुक्त यह बतायें कि पृथिवी को किसने कहाँ खड़े होकर फैलाया ? इसका उत्तर यह है कि नैरुक्त तो चूँकि पृथिवी को फैली हुई देखता है इसलिये वह 'प्रथ्' धातु से 'पृथिवी' शब्द बनाता है। उसने इस बात का ठेका तो नहीं ले रखा है कि वह यह बताये कि पृथिवी को कब किसने तथा कहाँ खड़े होकर फैलाया ? क्योंकि इस प्रकार का प्रश्न तो उन सब बातों के लिये किया जा सकता है जिन्हें केवल देखकर उस रूप में कह दिया जाता है। पङ्क में उत्पन्न होने के कारण कमल को 'पङ्कज' कहा है—इस बात को तो **गार्ग्य** भी मानेंगे ही। पर क्या वे यह बता सकते हैं कि कीचड़ में किसने कहाँ खड़े होकर कमल को कब पैदा किया ? भाषा में शब्दों का प्रयोग तो केवल देखने, सुनने तथा सामान्य रूप से जानने के आधार पर किया जाता है—इसलिये यह आवश्यकता नहीं है कि प्रत्येक वस्तु के विषय में सब बातें पहले से जान ली जायें—फिर उनका प्रयोग किया जाय।

पाँचवे आक्षेप में जो यह कहा गया कि **शाकटायन** ने अनेक धातुओं से एक शब्द के दोनों आधे आधे हिस्सों की इस रूप में सिद्धि की है जिसमें न तो शब्द का अर्थ अन्वित होता है और न प्रादेशिक विकार । इस रूप में उसने **'सत्य'** शब्द को 'इण्' तथा 'अस्' धातु से बनाया । यदि यह बात ऐसी है तो यह दोष **शाकटायन** का है जिसने ऐसा निर्वचन किया । निर्वचन करने वाले **शाकटायन** का यह दोष मानना चाहिये । निर्वचन शास्त्र या सभी शब्दों को धातुज मानने के सिद्धान्त का इसमें क्या दोष है ।

टिप्पणी—यहाँ यो **अनन्वितेऽर्थे संचस्कार स तेन गर्ह्यः** इस वाक्य में इस अर्थ का भी संकेत मिलता है कि जिसने अर्थ का ध्यान न रखते हुये निर्वचन किया है वह दोषी है—आचार्य **शाकटायन** दोषी नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने तो अर्थ का ध्यान रखते हुये ही शब्दों का निर्वचन किया है । और यदि अर्थ, निर्वचन के अनुसार, सुसंगत हो जाता है तो एक शब्द की अनेक धातुओं से सिद्धि करने में भी कोई दोष नहीं है क्योंकि व्याकरण का यह कोई स्वीकृत सिद्धान्त तो है नहीं कि एक शब्द की एक ही धातु से सिद्धि की जाय । **शाकटायन** को दोषी न मानते हुए ही सम्भवतः यहाँ 'संचस्कार' के बाद **शाकटायन** का नाम नहीं लिया गया । ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी एक-एक शब्द के अनेक विभाग करके उनकी भिन्न-भिन्न धातुओं से सिद्धि की गयी है । इसी 'सत्यम्' शब्द में ही शतपथ ब्राह्मण ने 'स', 'ति' तथा 'अम्' ये तीन विभाग किये हैं । इसी प्रकार 'हृदयम्' शब्द के वहाँ तीन विभाग—'हृ', 'द' तथा 'यम्'—किये गये । तथा इनकी सिद्धि क्रमशः 'हृ' (हरणे), 'दा' (दाने) तथा 'इण्' (गतौ) से की गयी । 'हृदय' को हृदय इसलिये कहते हैं कि यह विकृत रक्त का हरण करता है, शुद्ध रक्त को देता है तथा गति प्रदान करता है । इसी तरह 'गायत्री शब्द में 'ग' (शब्दे) तथा 'त्रङ्' (पालने) इन दो धातुओं की सत्ता मानी गयी । इसलिए यह आक्षेप नहीं है कि **शाकटायन** ने एक शब्द की सिद्धि अनेक धातुओं से की । हाँ यदि बिना अर्थ पर ध्यान दिये ही कोई ऐसे निर्वचन करता तो वह उस व्यक्ति का ही दोष माना जाना चाहिये ।

छठे—आक्षेप में जो यह कहा गया कि बाद में होने वाली क्रिया के आधार पर पहले से विद्यमान वस्तु का नाम पड़ना सुसंगत नहीं है—उसका

उत्तर यह है कि लोक में ऐसा देखा जाता है कि पहले उत्पन्न कुछ वस्तुओं या प्राणियों का नाम बाद में की जाने वाली क्रिया के आधार पर पड़ जाता है, पर कुछ के विषय में ऐसा नहीं होता। वस्तुतः कहीं भूतकालीन क्रिया के आधार पर नाम पड़ता है जैसे 'अग्निष्टोमयाजी', 'ब्रह्महा' इत्यादि, कहीं वर्तमान कालीन क्रिया के आधार पर, जैसे—'वाचकः', 'लावकः,' इत्यादि तथा कहीं भविष्यकाल में होने वाली क्रिया के आधार पर नाम पड़ता है। जैसे—'बिल्वादः', 'लम्बचूडकः'। ये दोनों नाम पक्षीविशेष के हैं। 'बिल्वाद' एक पक्षी का नाम है जो बड़ा होने पर 'बिल्व' फल को खाता है। तथा 'मयूर' पक्षी का नाम 'लम्बचूडक' (लम्ब चूड यस्य) है। जिसका अर्थ है लम्बी शिखा वाला। 'बिल्वाद' उत्पन्न होते ही बेल नहीं खाने लगता और न ही 'मयूर' उत्पन्न होते ही लम्बी शिखा वाला बन जाता है। परन्तु बोलने वाले इन पक्षियों के लिए इन नामों का प्रयोग करते ही हैं। इसलिए यह बात बोलने वालों पर निर्भर करती है कि वे कहाँ किस काल की क्रिया के आधार पर किसी वस्तु या प्राणी का नाम रखना चाहते हैं।

यहाँ यास्क ने प्रसंगतः 'बिल्व' शब्द की व्युत्पत्ति भी दे दी है। 'बिल्व' या तो 'पोषण' अर्थ वाली 'भृ' धातु अथवा 'भेदन' अर्थ वाली 'भिद्' धातु से बनेगा।

टिप्पणी—इन दोनों, **गार्ग्य** तथा **शाकटायन** के, सिद्धान्तों का समन्वय इस रूप में किया जा सकता है कि **गार्ग्य** का यह कथन तो ठीक है कि सभी शब्दों को 'धातुज नहीं माना जा सकता। केवल वे शब्द जिसमें स्वर और संस्कार सुसंगत हों तथा शब्द के अर्थ में विद्यमान क्रिया के वाचक धातु से युक्त हों, 'आख्यातज' मानना उचित है। सभी शब्दों के लिए यह कहना कि वे 'धातुज' ही है—वे सीधे धातु से बने हुये हैं, दुस्साहस मात्र है। क्योंकि शब्द की निष्पत्ति में अनेक कारण और तत्व काम करते दिखाई देते हैं। तथा देश, काल और वातावरण आदि के भेद से शब्द के रूप, ध्वनि तथा अर्थ में निरन्तर अनेकानेक परिवर्तन होते रहते हैं। यह भाषा का स्वभाव है। इसके अतिरिक्त विभिन्न शब्द न जाने कब कितने वर्ष पूर्व किस रूप में अपनी

प्राथमिक सत्ता में आये यह कह सकना किसी के लिये भी असम्भव कार्य है। यदि उणादि कोष, जैसे ग्रन्थों का सहारा लेकर सब शब्दों को धातुज सिद्ध करने का प्रयास किया जायगा तो वह शब्दों के रूप और उनके अर्थ के साथ एक खिलवाड़ मात्र होगा—यह उसी प्रकार एक उपहास्यास्पद कल्पना होगी जिस प्रकार किसी सिर फिरे वैयाकरण ने 'मुल्क', 'मिया', मौलाना, शब्दों की सिद्धि में 'मा' (माने) धातु तथा 'डुल्क', 'डिया', 'डौलाना' प्रत्ययों की कल्पना की थी।

उणादि से प्रत्यय किया डुल्क डिया डौलाना।
मा धातु के साथ दिया मुल्क मिया मौलामा ॥

इस बात को स्वयं यास्क ने भी उत्तर पक्ष में 'सन्त्यल्प प्रयोगाःकृताः' ('धातुज' या 'यौगिक' शब्द बहुत थोड़े हैं) यह कहकर स्वीकार किया है।

परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि **गार्ग्य** की ओर से **शाकटायन** तथा नैरुक्तों के सिद्धान्तों पर जो आक्षेप किए गए वे सर्वथा उचित हैं। पहले तथा दूसरे आक्षेपों में जो बात कही गई उसका यास्क द्वारा दिया गया उत्तर ठीक ही है। क्योंकि शब्दों का एक विशिष्ट वर्ग के लिये प्रयोग या दूसरे शब्दों में सभी शब्दों का उस कार्य को करने वाले सभी व्यक्तियों के लिए प्रयोग न करना अथवा एक व्यक्ति जितने काम करता है उन सब कार्यों की दृष्टि से एक व्यक्ति को अनेक नामों से युक्त न करना सरलता तथा स्पष्टता की दृष्टि से उचित ही है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि अनेक शब्द उस-उस व्यक्ति विशेष की उन-उन विशिष्ट क्रियाओं या स्वयं उनकी विशेषताओं के आधार पर उस-उस व्यक्ति के नाम के रूप में आविष्कृत हुये हैं तथा आजकल भी आविष्कृत होते रहते हैं। यह बात भी अस्वाभाविक नहीं है कि मूलतः बहुत से शब्द पहले 'धातुज' रहे हों परन्तु बाद में उनमें पर्याप्त एवं अकल्पनीय परिवर्तन हो गया हो जिसकी ओर आज हमारा ध्यान भी न जा सके। स्वर और संस्कार से सुसंगत होने की जहाँ तक बात है उसे भी सर्वथा उचित कसौटी नहीं माना जा सकता। क्योंकि एक तो बहुत प्राचीन शब्दों के लिये अपेक्षाकृत बहुत बाद में निर्धारित व्याकरण के नियमों पर कसना और खरे न उतरने पर उन्हें 'अधातुज' करार देना बहुत स्वाभाविक नहीं है दूसरे जिन

शब्दों की सिद्धि व्याकरण करता है। उनमें भी बहुत से शब्दों की सिद्धि में वैयाकरणों ने जिस प्रकार अनेक स्थलों पर 'आगम', 'आदिलोप', 'अन्तलोप', 'उपधालोप', 'उपधाविकार', 'वर्णविकार', 'आदिविपर्यय', 'अन्तविपर्यय' इत्यादि अनेकविध कल्पनायें की हैं, जो यह मानने के लिये बाध्य करती हैं कि व्याकरण के नियम कितने अविश्वसनीय और संदिग्ध हैं। इसीलिए शब्दों की परीक्षा में एक मात्र उन्हें ही कसौटी मानकर चलना उचित नहीं है। अतः नैरुक्त 'संस्कार' की बहुत परवाह नहीं करता—'न संस्कारम् आद्रियेत' (निरुक्त २।१)।

पञ्चम पाद

निरुक्त वेदार्थ के ज्ञान में सहायक

मूल—अथापि इदम् अन्तरेण-मन्त्रेष्वर्थ प्रत्ययो न विद्यते। अर्थम् अप्रतियतो नात्यन्तं स्वर-संस्कारोद्देशः। तद् इद् विद्या-स्थानि व्याकरण-स्य कात्स्न्यं, स्वार्थ-साधकं च।

अनुवाद—इसके अतिरिक्त इस (निरुक्त) के अध्ययन के बिना मंत्रों के अर्थ का ज्ञान नहीं होता। तथा अर्थ को न जानने वाले व्यक्ति को (शब्दों के) स्वर और संस्कार का अत्यधिक (अच्छी प्रकार) निर्णय नहीं हो सकता। इस रूप में यह (निरुक्त) ज्ञान का स्रोत है, व्याकरण की पूर्णता है तथा स्वार्थ (मंत्रों के व्याख्यान) का भी साधक है।

व्याख्या—यहाँ का 'अथापि' शब्द समुच्चय के अर्थ में है तथा यह सूचित कर रहा है कि यहाँ निरुक्त का एक और प्रयोजन प्रस्तुत किया जा रहा है।

पहले यह कहा जा चुका है कि गार्ग्य को छोड़कर अन्य सभी नैरुक्तों का यह सिद्धान्त है कि सभी शब्द धातुज हैं। यह कथन ही इस बात को बताता है कि निरुक्त का एक प्रयोजन यह है कि वह सभी कठिन वैदिक शब्दों का निर्वचन बताये। इस पूर्व निर्दिष्ट प्रयोजन की दृष्टि से ही यास्क ने यहाँ 'अथापि' का प्रयोग किया है। अभिप्राय यह है कि निरुक्त के अध्ययन का प्रथम प्रयोजन यह है कि उसके अध्ययन से दुरूढ़ वैदिक शब्दों के निर्वचन में सहायता मिलती है। दूसरा प्रयोजन यह है कि निर्वचन के द्वारा वैदिक मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान होता है।

'अथापि' के पश्चात् प्रयुक्त 'इदम्' का अर्थ है यह 'निरुक्त शास्त्र'। अर्थात् निरुक्त शास्त्र के अध्ययन के बिना—इस शास्त्र में निपुणता प्राप्त किये बिना मन्त्रों में निहित विविध अर्थों का ज्ञान नहीं होता। निरुक्त में इस 'निरुक्त ग्रन्थ' के लिए कभी भी 'निरुक्त' शब्द का प्रयोग नहीं दिखाई देता।

जब तक मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान नहीं होता तब तक उनमें प्रयुक्त कठिन शब्द के स्वर और संस्कार (प्रकृति-प्रत्यय आदि) का 'उद्देश' अर्थात् निर्धारण करना बहुत कठिन होगा। यह ठीक है कि स्वर तथा संस्कार के ज्ञान से शब्द के अर्थ का निर्णय होता है पर यह बात भी काफी हद तक ठीक है कि स्वर तथा संस्कार की ठीक-ठीक कल्पना तभी हो सकती है जब कि मन्त्र के अर्थ आदि का कुछ ज्ञान हो। क्योंकि एक ही शब्द एक ही प्रसंग में दूसरे प्रकार के स्वर तथा संस्कार को अपना सकता है तथा उससे भिन्न प्रसंग में दूसरे स्वर तथा संस्कार से युक्त पाया जा सकता है। यहाँ 'अप्रतियतः' शब्द 'प्रति' उपसर्ग-पूर्वक 'इ' धातु से 'शतृ' प्रत्यय और उसके बाद 'नञ्' समास करके षष्ठी विभक्ति, एक वचन में प्रयुक्त हुआ है।

इस रूप में मन्त्रों के अर्थ के ज्ञान में सहायक होने के कारण निरुक्त को विद्या अर्थात् वेद-विद्या (वैदिक ज्ञान) का 'स्थान' कहा गया। वेद के मन्त्र ज्ञान के महान् स्रोत हैं—आगार हैं। और मन्त्रों के अर्थ ज्ञान में निरुक्त सहायक है इसलिये इसको भी 'विद्यास्थान' मानना चाहिये।

इसके अतिरिक्त व्याकरण की परिपूर्णता भी निरुक्त के अध्ययन से ही होती है। क्योंकि व्याकरण तो केवल कुछ यौगिक या योगरूढ़ि शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय का प्रदर्शन करता है, जब कि निरुक्त सभी शब्दों के प्रकृति-प्रत्यय के विभाजन, उनके निर्वचन की शैली बताता है तथा अनेक शब्दों के विविध निर्वचन भी प्रस्तुत करता है। वस्तुतः व्याकरण के सीमित नियमों का यहाँ बहुत ही व्यापक क्षेत्र में उपयोग किया जाता है। 'कार्त्स्न्यम्' शब्द 'कृत्स्नस्य भावः' इस अर्थ में 'कृत्स्न' शब्द से 'ष्यञ्' प्रत्यय करके निष्पन्न होगा। इसलिये इसका अर्थ है पूर्णता। पर इस प्रयोजनों के साथ-साथ निरुक्त स्वार्थ का भी साधक है, अर्थात् अपने प्रमुख प्रयोजन—वेदार्थ—का भी साधक है।

इस प्रकार निरुक्त सभी शब्दों के निर्वचन के उपाय बताकर व्याकरण को

पूर्ण बनाता है तथा वेदार्थ में सहायक बनता है। इसीलिये निरुक्त वेदों का अंग अर्थात् वेदार्थ तक पहुँचने का सोपान माना गया।

कौत्स्य के मत में वेद के मन्त्र अर्थ-रहित हैं

मूल—यदि मन्त्रार्थ प्रत्ययाय अनर्थकं भवति इति कौत्सः। अनर्थका हि मन्त्राः। तद् एतेनोपेक्षितव्यम्। नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति।

अथापि ब्राह्मणेन रूप सम्पन्ना विधीयन्ते—उरु प्रथस्व (यजुर्वेद १।२२) इति प्रथयति, प्रोहाणि इति प्रोहति।

अथापि अनुपपन्नार्था भवन्ति—ओषधे त्रायस्व एनम् (तैत्तिरीय संहिता १।२।१।१), स्वधिते मैनं हिंसीः (यजुर्वेद ४।१) इत्याह हिंसन्।

अथापि विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति—एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः, असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम् (यजुर्वेद १६।५४)। अशत्रुर् इन्द्र जज्ञिषे (ऋ० वे० १०।१३३।२), शतं सेना अजयत् साकम् इन्द्रः (ऋ० वे० १०।१०३।१) इति।

अथापि जानन्तं सम्प्रेष्यति—अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि (तै० सं० ६।३।७।१) इति।

अथापि आह अदितिः सर्वम्-अदितिर् द्यौर अदितिर् अन्तरिक्षम् (ऋ० वे० १।८९।१०) इति। तद् उपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः।

अथापि अविस्पष्टार्था भवन्ति—'अम्यक्' (द्र० ऋ० वे० १।१६९।३)

'यादश्मिन्' (द्र० ऋ० वे० ५।४४।८), 'जारयायि' (द्र० ऋ० वे० ६।१२।४) 'काणुका' (द्र० ऋ० वे० ८।७७।४)।

अनुवाद—यदि मन्त्रों के अर्थ-ज्ञान के लिए (निरुक्त) है तो वह अनर्थक है। क्योंकि मन्त्र अनर्थक हैं—'यह कौत्स का मत है। उस मत की इसमें (निरुक्त) के द्वारा परीक्षा करनी चाहिये। (कौत्स के मत की पुष्टि में निम्न हेतु दिए गये हैं।)—

१—(मन्त्र) शब्दों की नियत योजना वाले तथा निश्चित क्रम वाले होते हैं।

२—ब्राह्मण (के वाक्यों) द्वारा (मन्त्र) अर्थ युक्त बनाये जाते हैं। (जैसे) 'उरु प्रथस्व' इस (मन्त्र) से फैलाता है, 'प्रोहाणि' इस (मन्त्र) से आगे बढ़ाता है।

३—(मन्त्र) असंगत अर्थ वाले होते हैं। (जैसे) ओषधे त्रायस्व एनम्—(हे ओषधे (कुश) तुम इस (वृक्ष) की रक्षा करो), स्वधिते मैनं हिंसीः (हे स्वधिते ? (कुल्हाड़ी) तुम इस (वृक्ष) की हिंसा मत करो)। इन (मन्त्रांशों) का प्रयोग (यजमान वृक्ष को) काटते हुए करता है।

४—(मन्त्र) विरोधी अर्थ वाले होते हैं। (जैसे) एक एव रुद्रो अवतस्थे न द्वितीयः—रुद्र एक ही था दूसरा नहीं, असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि-भूम्याम्—हजारों और असंख्य रुद्र जो भूमि पर हैं। (इसी प्रकार) अशत्रुर् इन्द्र जज्ञिषे—हे इन्द्र तुम शत्रु रहित उत्पन्न हो। शतं सेना अजयत् साकम् इन्द्रः—सैकड़ों सेनाएँ इन्द्र ने एक साथ जीत लीं।

५—(मन्त्र) जानने वाले को (विधि) बताता है। (जैसे) अग्नये समिध्य-मानाय अनुब्रूहि—अग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर अनुवाक्या (मन्त्रों) के पाठ करो।

६—(मन्त्रों में ऋषियों ने) यह कहा है कि अदिति ही सब कुछ है—अदितिर् द्यौर् अदितिर् अन्तरिक्षम्—अदिति द्यौ हैं, अदिति अन्तरिक्ष है, इत्यादि। इस (मन्त्र) की व्याख्या आगे करेंगे।

७—इसके अतिरिक्त (मन्त्र के अनेक शब्द) अस्पष्ट अर्थ वाले हैं। (जैसे)- 'अम्यक्' 'याद्दश्मिन्' 'जारयायि' 'काणुका'।

व्याख्या—निरुक्त का मुख्य प्रयोजन मन्त्रों का अर्थ स्पष्ट करना है, इस बात को ऊपर—**इदम् अन्तरेण मन्त्रेषु अर्थ प्रत्ययो न विद्यते तथा स्वार्थ-साधकं च** इन शब्दों में दो बार कहा गया। परन्तु **कौत्स** का विचार है कि मन्त्र अनर्थक हैं। उनका महत्त्व केवल उनके पाठ मात्र में ही है तथा उनके उच्चारण का प्रयोजन अदृष्ट है। इसलिये **कौत्स** के अनुसार जब मन्त्र अनर्थक हैं, तो मन्त्रों के अर्थ-ज्ञान की दृष्टि से प्रणीत निरुक्त-शास्त्र भी अनर्थक सिद्ध हो जाता है। अतः निरुक्त के प्रणेता के लिये यह आवश्यक है कि वह इस बात की परीक्षा करे कि क्या सचमुच मन्त्र अनर्थक हैं। इसी दृष्टि से यास्क ने कौत्स के सात हेतुओं को पूर्व पक्ष के रूप में यहाँ प्रस्तुत किया है, जिनसे मन्त्रों की अनर्थकता सिद्ध की गई है।

प्रथम—भारतीय परम्परा यह मानती है कि वैदिक मन्त्रों में जहाँ जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है सदा उन्हीं शब्दों का उच्चारण होगा। उनके स्थान पर पर्यायों का प्रयोग नहीं हो सकता। जैसे **अग्निम् ईडे पुरोहितम्** के स्थान पर 'वह्निं स्तौमि पुरोहितम्' का उच्चारण नहीं किया जा सकता। इसके साथ ही यह भी माना जाता है कि मन्त्रों में शब्दों का, यहाँ तक कि वर्णों का क्रम भी सुनिश्चित है। उनमें अक्षर भी इधर से उधर नहीं किया जा सकता है। जैसे **अग्निम् ईडे पुरोहितम्** के स्थान पर 'ईडे अग्नि पुरोहितम्' जैसे वाक्य का प्रयोग नहीं हो सकता। मन्त्रों के सम्बन्ध में अति प्राचीन काल से चले आ रहे ये दोनों नियम इस बात को बताते हैं कि इन मन्त्रों का अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि अर्थ से सम्बन्ध होता है तो शब्दों के स्थान पर उनके पर्यायों का प्रयोग या शब्दों के क्रम मे परिवर्तन भी उसी प्रकार सम्भव होता है जिस प्रकार, लौकिक संस्कृत या अन्य भाषा के वाक्यों में ये दोनों बातें सम्भव हैं। मीमांसा दर्शन के 'मन्त्राधिकरण' में भी मन्त्रानर्थक्य का यह सिद्धान्त पूर्व पक्ष के रूप में **कौत्स** का नाम लिए बिना ही प्रस्तुत किया गया है। वहाँ इस हेतु

को 'वाक्य नियमात्' (१।२।३२) इस सूत्र के द्वारा द्वितीय हेतु के रूप में प्रकट किया गया है ।

द्वितीय—ब्राह्मण-ग्रन्थों के अध्ययन से भी मन्त्रों के अर्थहीन होने का पता लगता है । ऐतरेय, शतपथ इत्यादि ब्राह्मण-ग्रन्थों में वैदिक मन्त्रों का विभिन्न यज्ञीय-कार्यों में विनियोग किया गया है जैसे दर्श तथा पौर्णमास यागों के लिये जब अध्वर्यु पुरोडाश (एक हवि विशेष) तैयार करता है तो उस अवसर के लिए शतपथ ब्राह्मण ने यह विधान किया है कि अध्वर्यु **उरु प्रथस्व उरु ते यज्ञपतिः प्रथताम** इस मंत्र को बोलकर पुरोडाश को फैलाये । 'उरु प्रथस्व इति प्रथयति' इस वाक्य में 'इति प्रथयति' यह ब्राह्मण का वाक्य है, जिसमें यह कहा गया है कि उपर्युक्त मंत्र को बोल कर अध्वर्यु पुरोडाश को फैलाता है । यहाँ मन्त्र का अर्थ है (हे पुरोडाश) तुम फैलो (जिससे) तुम्हारा यज्ञपति (यजमान) भी (धन धान्य की दृष्टि से) फैले—सम्पन्न हो । यदि मन्त्रों का अर्थ होता तो 'अध्वर्यु', जो इस मंत्र को बोलता है, मंत्र के अर्थ से ही यह जान लेता कि इसके द्वारा पुरोडाश को फैलाना चाहिये, चूँकि मंत्रों का कोई अर्थ नहीं होता इसलिए ब्राह्मण-ग्रन्थ में 'इति प्रथयति' कहना पड़ा ।

इसी प्रकार अग्निष्टोम् याग में द्रोणकलश (वह घड़ा, जिसमें सोमरस भरा होता है) एक छोटी गाड़ी पर रखा जाता है, जिसमें इन्द्र के दो घोड़े जुतते हैं, जिसके कारण इस गाड़ी को 'हरि योजन' कहा जाता हैं । इन्द्र के ये दो घोड़े 'ऋक्' तथा 'साम' या दूसरे शब्दों में 'शास्त्र' तथा 'स्तोत्रिय' हैं, जिनका पाठ क्रमशः 'होता' और 'उद्गाता' करते हैं । इस छोटी गाड़ी के पास ही एक बड़ी गाड़ी होती है जिस पर यज्ञीय अन्न रखा होता है । इस छोटी गाड़ी को बड़ी गाड़ी के समीप ढकेल कर लाया जाता है । परन्तु ढकेलने से पूर्व उदगाता 'प्रोहाणि ?' यह कह कर गाड़ी को धक्का देने के लिये 'होता' से आज्ञा लेता है और जब 'होता' से वैसा करने का आदेश मिल जाता है, तब 'उद्गाता' उस छोटी गाड़ी को आगे ढकेलता है और ढकेलते हुये **इदम् अहम् आत्मानं प्राञ्चं प्रोहामि तेजसे ब्रह्मवर्चसाय** इस मंत्र का पाठ करता है । यहाँ भी 'प्रोहाणि इति प्रोहति' इस वाक्य में 'प्रोहाणि' यह मंत्र का अंश है तथा 'इति प्रोहति' यह ब्राह्मण का वाक्य है, जिसमें गाड़ी को ढकेलने का विधान किया गया है । द्र०

प्रो० राजवाड़े (पृ० २६९–७०)। यदि मंत्र का 'प्रोहाणि' पद सार्थक है तो उतने से ही 'उद्गाता' को यह पता लग जाना चाहिये था कि इससे मुझे प्रोहण करना है। मीमांसक में 'तदर्थं शास्त्रात्' (१।२।३१) सूत्र द्वारा इसी बात को प्रथम हेतु के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय—कुछ मन्त्र अनुपपन्न अर्थात् असंगत अर्थ वाले दिखायी देते हैं। अभिप्राय यह है कि यज्ञ के जिन कार्यों में उन मन्त्रों का विनियोग किया गया है, उन कार्यों की दृष्टि से वे मन्त्र असंगत प्रतीत होते हैं। जैसे जब यजमान यूप के लिये वृक्ष काटने से पहले कुल्हाड़ा मारने के स्थान पर कुश नामक तृण रखकर **'ओषधे त्रायस्व एनम्'** हे ओषधे अर्थात् तृण तुम इस वृक्ष की रक्षा करो इस मंत्र को बोलता है तथा इसके साथ ही **स्वधिते मैनं हिंसीः** (हे वज्र अर्थात् कुल्हाड़े तुम इसे मत काटो) इस मंत्रांश को भी बोलता है। यदि संहिताओं तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों के ये विनियोग सत्य हैं तो यह मानना पड़ेगा कि मंत्रों के अर्थों पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। या दूसरे शब्दों में अनर्थक हैं। क्योंकि एक तरफ तो यजमान काटने जा रहा है और दूसरी तरफ जिन मंत्रों का उच्चारण कर रहा है, वे रक्षा और अहिंसा (न काटने) की बात कह रहे हैं। इन दोनों बातों की संगति तब तक नहीं लग सकती जब तक मंत्रों को अर्थ-हीन न माना जाय। मीमांसा-दर्शन में 'अचेतने अर्थ-सम्बन्धात्' (१।१।३५) सूत्र के द्वारा इस हेतु को प्रस्तुत किया गया है तथा यह कहा गया है कि मन्त्रों में अचेतन-कुश तथा कुल्हाड़े आदि से प्रार्थना की गई है, इसलिये मन्त्र अनर्थक हैं।

टिप्पणी—मैत्रायणी संहिता में यह कहा गया है कि **ओषधे त्रायस्व एनम्** यह अंश वृक्ष की रक्षा के लिये कहा गया है तथा कुल्हाड़ा जिसका दूसरा नाम 'स्वधिति' अर्थात् 'वज्र' है उसके तथा पेड़ के बीच में दर्भ (कुश) इसलिये रखा जाता है कि कुल्हाड़े से उसकी रक्षा हो—हिंसा न हो। द्र०—**ओषधे त्रायस्व एनम्' इत्याह त्रात्यै एव 'स्वधिते मैनं हिंसीः' इति। वज्रो वै स्वधितिः वज्राद् वाव अस्मै एतद् अन्तर्दधाति अहिंसायै** (३।९।३)। काठक् संहिता में इस प्रसंग में यह कहा गया है कि कुश जो वृक्ष के काटने के स्थान पर रखा गया है वह, वृक्ष के परित्राण के लिए, कवच का काम करता है। द्र०—**ओषधे त्रायस्व**

एनम्। वर्म एव करोति। 'स्वधिते मैनं हिंसीः' इति। वज्रो वै स्वधितिः। अहिंसायै (२६।३)।

चतुर्थ—इसके अतिरिक्त परस्पर विरोधी अर्थ वाले मन्त्र भी उपलब्ध होते हैं। एक मन्त्र-एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः—तो यह कहता है कि 'रुद्र एक ही है—दूसरा है ही नहीं। जबकि दूसरा मन्त्र—असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्—यह कहता है कि—'रुद्र तो हजारों हैं यहाँ तक कि उनकी गणना असम्भव है'। इसी प्रकार एक मत्र - अशत्रुर् इन्द्र जज्ञिषे:—में यह कहा गया है कि 'इन्द्र का कोई भी शत्रु हैं ही नहीं—वह तो शत्रु रहित पैदा हुआ है', जबकि एक दूसरे मन्त्र—शतं सेना अजयत् साकम् इन्द्रः—में यह कहा गया है कि 'इन्द्र ने शत्रुओं की सैकड़ों सेनाओं को एक साथ जीत लिया'। इस तरह की परस्पर विरोधी बातें भी यह मानने के लिये बाध्य करती हैं कि मंत्रों को अर्थ रहित ही मानना चाहिये।

पंचम—'अध्वर्यु यज्ञ कुण्ड में आग जला रहा है। आग जल जाने के बाद वह 'होता' को 'सम्प्रेष' (आदेश) देता है कि अब आग जल गई है इस 'समिध्यमान' (प्रदीप्त) अग्नि के लिये तुम 'सामिधेनी ऋचाओं का पाठ करो— अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि'। इन सामिधेनी ऋचाओं के पाठ के लिये ही यहाँ 'अनुब्रूहि' इस पारिभाषिक शब्द का प्रयोग किया गया। निरुक्त के वाक्य में 'सम्प्रेष्यति' पद का अर्थ है 'आदेश देता है—प्रेरणा देता है'।

यहाँ प्रश्न यह है कि 'अध्वर्यु को होता' के लिये इस 'सम्प्रेष' वाक्य (आदेश वाक्य) को कहने की क्या आवश्यकता पड़ी कि अग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर होता' 'सामिधेनी ऋचाओं' का पाठ करे ? जब कि होता' स्वयं ही एक ऋत्विज है तथा उसे इस बात का अच्छी तरह ज्ञान है कि आग के प्रदीप्त हो जाने पर सामिधेनी ऋचाओं का पाठ किया जाना चाहिये। इस प्रकार के अनर्थक 'सम्प्रेष' वाक्यों से भी यह स्पष्ट है कि मंत्र अर्थहीन हैं। मीमांसा-दर्शन में इस हेतु को 'बुद्धशास्त्रात्' (१।२।३२) सूत्र के द्वारा तीसरे हेतु के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

षष्ठ—एक मंत्र में अदिति को द्यौ, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, विश्वेदेव,

पंचजन, जात तथा जनित्व (जनिष्यमाण)–इस रूप में सब कुछ—कह दिया गया है। वह मंत्र है:—

अदितिर् द्यौर् अदितिर् अन्तरिक्षम् अदितिर् माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वेदेवा अदितिः पंचजना अदितिर्जातम् अदितिर् जनित्वम् ॥

यह भला कैसे सम्भव है कि एक ही देव द्यौ, अन्तरिक्ष, माता, पिता, इत्यादि सभी कुछ हो जाय ? इस मंत्र की व्याख्या यास्क ने चौथे अध्याय के चतुर्थ पाद में की है । मीमांसा दर्शन में इस बात को 'अर्थ-विप्रतिषेधात्' (१।२।३६) सूत्र के द्वारा छठे हेतु के रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

सप्तम्—इसके अतिरिक्त मन्त्रों के अनेक शब्द सर्वथा अस्पष्ट अर्थ वाले हैं। जैसे—'अभ्यक', 'यादृश्मिन्', 'जारयायि', 'काणुका' इत्यादि । इस प्रकार सर्वथा अस्पष्ट शब्द जिन मन्त्रों में विद्यमान हैं उनका अर्थ स्पष्ट रूप में कैसे जाना जा सकता है । अतः वेद-मंत्रों को अर्थ रहित मान कर तथा केवल उनके पाठ या उच्चारण का ही एक प्रकार का अदृष्ट प्रयोजन (या धर्म) उत्पन्न होता है यह मानकर ही इन उपर्युक्त हेतुओं का समाधान सम्भव है । मीमांसा में इस हेतु को 'अविज्ञात्' (१।२।३८) इस सूत्र के द्वारा प्रस्तुत किया गया है तथा अविज्ञेय एवं अस्पष्टार्थक मंत्रों के उदाहरण के रूप में **सृण्येव जर्भरी तुर्फरी** (ऋ० ८।६।६) इस मन्त्र को उद्धृत किया गया है ।

टिप्पणी—इस प्रसंग में यथावसर **कौत्स** के हेतुओं के साथ साथ तुलना के लिये मीमांसा दर्शन में पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत हेतुओं को भी उद्धृत किया गया ।

परन्तु मीमांसा के इस प्रकरण में कुछ और भी हेतु मिलते हैं जिनका उल्लेख निरुक्त में नहीं हुआ है । संभवतः निरुक्तकार की दृष्टि में उनका समावेश इन उपर्युक्त हेतुओं में ही हो जाता है । वे हेतु हैं—'अविद्यमान वचनात्' अर्थात् मन्त्रों में ऐसे वस्तुओं या प्राणियों का उल्लेख है जो इस ससार में कही भी

दिखाई नहीं देते । जैसे—'**चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादा०** (ऋ० वे० ४।५।५८) इस मन्त्र में एक ऐसे बैल का वर्णन है जिसके चार सींग, तीन पैर, दो सिर तथा सात हाथ हैं। ऐसा बैल कहीं देखने में नहीं आता। 'स्वाध्यायवद् अवचनात्' अर्थात् जिस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में यह कहा गया कि 'स्वाध्याय' (वेद) का अध्ययन पाठ करना चाहिये उसी प्रकार कहीं यह नहीं कहा गया कि वेदों के मन्त्रों का अर्थ भी जानना चाहिये। 'अनित्यसंयोगान् मंत्रानर्थक्यम्' अर्थात् मंत्रों का अर्थ स्वीकार करने पर उनका सम्बन्ध अनित्य वस्तुओं से हो जाता है। जैसे— **किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः** (कीकट देश में गायें तुम्हारा क्या बिगाड़ती हैं) इस मंत्र में अनित्य कीकट आदि स्थानों तथा अनित्य गायों के सम्बन्ध का पता लगता है। इसलिये यदि यह माना गया कि मन्त्र सार्थक हैं तो इस अनित्य सम्बन्ध के कारण मन्त्रों तथा मन्त्रों समूह वेद को भी अनित्य मानना पड़ेगा।

'मंत्र सार्थक हैं' इस मत का प्रतिपादन

मूल—अर्थवन्तः शब्द-सामान्यात् एतद् **यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत् कर्म क्रियमाणम् ऋग् यजुर् वा अभिवदति** (गोपथ ब्राह्मण २।२।६) इति च **ब्राह्मणम्**। क्रीडन्तौ पुत्रैर् नप्तृभिः (ऋ० वे० १०।६५।४२) इति।

अनुवाद—(वैदिक तथा लौकिक वाक्यों में) शब्दों की समानता के कारण (वेदों के मंत्र भी) अर्थवान् हैं। ब्राह्मण (ग्रन्थों) में यह कहा है कि—'जो रूप से समृद्ध होना है...(अर्थात् यज्ञ में) किये जाते हुए कर्म को ऋक् तथा यजुष् का मंत्र कहता है—यह यज्ञ की पूर्णता है'। जैसे—विवाह के अवसर पर प्रयुक्त वह मंत्र) 'क्रीडन्तौ पुत्रैर् नप्तृभिः' **(हे दम्पती तुम दोनों पुत्रों तथा पौत्रों के साथ क्रीडा करते हुए)।**

व्याख्या—कौत्स के मत में—'मंत्र अनर्थक हैं'—का खण्डन करने से पूर्व यास्क ने इन पंक्तियों में यह प्रतिपादन किया है कि मंत्र सार्थक होते हैं अनर्थक नहीं। मंत्रों की सार्थकता के प्रतिपादन के लिए यहाँ दो हेतु दिये गये हैं।

पहले हेतु को 'अर्थवन्तः शब्द-सामान्यात्' इस वाक्य में प्रस्तुत किया गया जो एक दम सूत्र-शैली में निबद्ध जान पड़ता है। इस वाक्य का अभिप्राय यह है लौकिक संस्कृत भाषा तथा वैदिक भाषा के शब्दों में पूरी समानता है। **समानस्य भावः सामान्यम्। शब्दानां सामान्यं शब्द-सामान्यम्। तस्मात् शब्द सामान्यात्।** आकांक्षा, योग्यता तथा आसत्ति के द्वारा लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त गौर् गच्छति' आदि शब्द किसी विशेष अर्थ को निश्चित रूप से प्रकट हैं। वे ही 'गौ' इत्यादि सार्थक शब्द वेदों में भी प्रयुक्त हैं, फिर वे अनर्थक कैसे हो सकते हैं? इसलिए जहाँ तक सार्थकता का सम्बन्ध है लौक तथा वेद दोनों में व्यवहृत या प्रयुक्त शब्द समान हैं। इसलिए यदि शब्द लोक में प्रयुक्त होकर किसी विशेष को प्रकट कर सकते हैं तो वेद में ऐसा वे क्यों नहीं कर सकते? **तेषां मनुष्यवद् देवताभिधानम्** यास्क के इस वाक्य में तथा **य एव लौकिका शब्दास्त एव वैदिकास्त एव च तेषाम् अर्थाः** मीमांसकों के द्वारा स्वीकृत इस वाक्य में भी इस तथ्य का उल्लेख किया गया है जिनकी व्याख्या पहले की जा चुकी है।

दूसरा हेतु यास्क ने यह दिया है कि ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञ आदि कार्यों की पूर्णता तभी मानते हैं यदि यज्ञ में की जा रही क्रियाओं तथा विधियों का समर्थन ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के मंत्र करते हों। अभिप्राय यह है कि यज्ञ की उन उन क्रियाओं को करते हुए जिन मंत्रों का उच्चारण किया जा रहा है यदि उन मंत्रों में भी, उस समय होने वाली, क्रियाओं का उल्लेख या संकेत हो तभी यज्ञ की वे क्रियायें तथा विधियाँ, यज्ञ के वे अंग अथवा दूसरे शब्दों में स्वयं यज्ञ सार्थक माना जायगा—सफल माना जायगा तथा—उससे अभीष्ट फल की प्राप्ति हो सकेगी। इसके विपरीत यदि किसी यज्ञ में उच्चरित अथवा विनियुक्त मंत्रों में उन क्रियाओं का उल्लेख नहीं मिलता तो उस यज्ञ को अधूरा मानना चाहिये तथा ऐसे यज्ञ से किसी प्रकार की सफलता की आशा नहीं की जानी चाहिये।

'समृद्धम्' शब्द 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'ऋध्' धातु से 'भाव' में 'क्त' प्रत्यय करके निष्पन्न हुआ है। अतः इसका अर्थ है 'समृद्धि'। 'रूप समृद्धम्' शब्द में 'रूप' का तात्पर्य है 'सुसंगत-मंत्र' अर्थात् यज्ञ में हो रही क्रिया अथवा विधि को

बतलाने वाले मंत्र । इस प्रकार के मंत्रों से समृद्ध होना 'रूप-समृद्धि' है । अभिप्राय यह है कि यज्ञ की समृद्धि–सफलता–तभी संभव है जब वे 'रूप' से समृद्ध हों अर्थात् उनमें ऐसे मंत्रों का विनियोग हो जो उनमें हो रही क्रिया को कहते हों । 'रूप-समृद्ध' शब्द के इस आशय को स्वयं गोपथ ब्राह्मण के—**यत् कर्म क्रियमाणम् ऋगयजुर्वाऽभिवदति** ये शब्द ही स्पष्ट कर रहे हैं । इस अंश का अन्वय है—**तत् क्रियमाणं कर्म ऋग् यजुर्वा अभिवदति** । स्पष्ट अर्थ यह है कि किये जा रहे कार्य का ऋग्वेद आदि के मंत्रों द्वारा कहा जाना ही 'रूप समृद्ध' (रूप से समृद्धि) शब्द का अभिप्राय है । यहाँ जिस प्रकार 'सुसंगत' या 'सुसम्बद्ध' के अर्थ में 'रूप' शब्द का प्रयोग हुआ है उसी अर्थ में ब्राह्मणग्रन्थों में 'अभिरूपा' शब्द का भी प्रयोग हुआ है । द्र०—ऐतरेय ब्राह्मण ३।५) ।

ब्राह्मण ग्रन्थों के इस कथन को स्पष्ट करने के लिये विवाह संस्कार में विनियुक्त और बोले जाने वाले एक मंत्र को यास्क यहाँ उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं । यह मंत्र है—

इहैव स्तं मा वि यौष्ट विश्वम् आयुर् व्यश्नुतम् ।
क्रीडन्तौ पुत्रैर् नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥ (ऋ०वे० १०।८५।४२)

इस मंत्र का अर्थ यह है कि 'दम्पति तुम दोनों यहीं रहो, वियुक्त मत होओ, अपने घर में पुत्रों तथा पौत्रों के साथ खेलते हुये तथा प्रसन्न होते हुए सम्पूर्ण आयु को प्राप्त करो । अपने इस अर्थ के द्वारा यह मंत्र उसी भावना की पुष्टि कर रहा है जो पूरे विवाह संस्कार में व्याप्त है । इसलिये ऐसे मंत्रों के उच्चरित होने पर ही विवाह यज्ञ सफल समझा जायगा ।

इस प्रकार चूँकि ब्राह्मण ग्रन्थ यह कहते हैं कि 'यज्ञ की सम्पूर्णता या सफलता तभी सम्भव है यदि यज्ञ में किये जा रहे क्रिया-कलापों को वेद के मंत्र भी कहते हों, इसलिए ब्राह्मण ग्रन्थों के इस कथन से भी यह प्रमाणित होता है कि मंत्रों का अर्थ होता है—वे सार्थक हैं—अनर्थक नहीं ।

कौत्स की युक्तियों का खण्डन

मूल—यथो एतन् 'नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति' इति **लौकिकेष्वप्येतत् । यथा 'इन्द्राग्नी', 'पितापुत्रौ' इति ।**

यथो एतद् 'ब्राह्मणेन रूप सम्पन्ना विधीयन्ते' इति, उदातानुवादः स भवति।

यथो एतद् 'अनुपपन्नार्था भवन्ति', इति, आम्नाय-वचनाद् अहिंसा प्रतीयेत।

यथो एतद् 'विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति', इति, लौकिकेष्वप्येतत्। यथा—'असपत्नोऽयं' 'ब्राह्मणः', अनमित्र राजा' इति।

यथो एतज् 'जानन्तं सम्प्रेष्यति' इति जानन्तम् अभिवादयते, जानते मधुपर्कं प्राह।

यथो एतद् 'अदितिः सर्वम् इति, लौकिकेष्वप्येतत्। यथा—सर्वरसा अनुप्राप्ताः पानीयम् इति।

अयो एतद 'अविस्पष्टार्था भवन्ति' इति, नैष स्थाणोर् अपराधो यद् एनम् अन्धो न पश्यति। पुरुषापराधः स भवति।

अनुवाद—जो यह (कहा गया) कि '(मन्त्रों में) शब्दों की योजना तथा क्रम नियत हैं (इसलिये मंत्र अनर्थक हैं)' यह तो लौकिकों (संस्कृत आदि भाषाओं) में भी (देखा जाता) है। जैसे—'इन्द्राग्नी', 'पितापुत्रौ'।

जो यह (कहा गया) कि 'ब्राह्मण (मन्त्रों को) रूप (अर्थ या प्रयोजन) से युक्त करते हैं' वह तो (मन्त्रों के द्वारा) कथित (बात) का अनुवाद (मात्र) है।

जो यह (कहा गया) कि '(मन्त्र)' असंगत अर्थ वाले हैं? वहाँ (वृक्ष के छेदन आदि क्रियाओं में) वेद के वचन से ही अहिंसा मान ली जानी चाहिये।

जो यह (कहा गया) कि '(मन्त्र) विरोध अर्थ वाले हैं,' तो ऐसे प्रयोग तो लोक में भी होते हैं। (जैसे दो एक शत्रु होने पर भी) 'असत्नोऽयं ब्राह्मणः' (यह ब्राह्मण शत्रु रहित है) तथा 'अनमित्रोऽयं राजा' इस राजा का कोई शत्रु नहीं है' इत्यादि।

जो यह (कहा गया) कि 'जानते हुए को सम्प्रेष्य (आदेश या प्रेरणा)

दिया जाता है' तो (यह तो लौकिक भाषा में भी होता है, जैसे) जानते हुए (गुरु) को (अपना नाम बताकर शिष्य) अभिवादन करता है। (यह मधुपर्क है इस बात को जानते हुए वर को यह) मधुपर्क है (इसे ग्रहण कीजिये इत्यादि) कहा गया है।

जो यह (कहा गया) कि 'अदिति सब कुछ है' लौकिक (भाषाओं) में भी इस प्रकार का प्रयोग मिलता है। (जैसे)—'सर्वंरसा अनुप्राप्ताः पानीयम्' (पानी में सभी रस हैं)।

जो यह (कहा गया) कि मंत्रों के शब्द अविस्पष्ट अर्थ वाले हैं' तो यदि अन्धा खम्भे को नहीं देखता तो यह खम्भे का दोष नहीं है अपितु वह (न देखने वाले अन्धे) पुरुष का दोष है।

व्याख्या—यास्क और सम्भवतः सभी नैरुक्त मंत्रों को सार्थक मानते हैं। यदि मंत्र अनर्थक हों तो फिर तो मन्त्रों के शब्दों का निर्वचन इत्यादि करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इस रूप में निरुक्त का सारा प्रयोजन ही समाप्त हो जाता है। इसलिये कोई भी नैरुक्त विद्वान् मन्त्रों को अनर्थक नहीं मान सकता। क्योंकि मन्त्रों को अनर्थक मानने से उसके सम्प्रदाय पर ही कुठाराघात होता है। इस कारण, अनुमानतः, मन्त्रों को अनर्थक मानने वाला वह कौत्स याज्ञिक सम्प्रदाय का आचार्य है जिसकी दृष्टि में वैदिक मन्त्रों की महत्ता उनके उच्चारण, अथवा दूसरे शब्दों में, यज्ञों में विनियोग मात्र में ही है जिससे एक विशेष अदृष्ट या अभ्युदय की प्राप्ति होती है।

एक नैरुक्त होने के नाते यास्क का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे अपने मत—'मन्त्र सार्थक है' का प्रतिपादन कर चुकने के पश्चात् मन्त्रों की अनर्थकता के विषय में **कौत्स** के द्वारा प्रस्तुत किये गये आक्षेपों अथवा हेतुओं का खण्डन करें। इसी दृष्टि से यास्क ने संक्षिप्त शैली में निरुक्त में इन युक्तियों का खण्डन किया जिसे नीचे दिया जा रहा है।

प्रथम हेतु में मन्त्रों में शब्दों की निश्चित योजना तथा क्रम की जो बात कही गयी वह ठीक नहीं है क्योंकि लौकिक संस्कृत में भी अनेक ऐसे प्रयोग

मिलते हैं जिनमें शब्द की योजना तथा क्रम दोनों ही निश्चित हैं। जैसे—'इन्द्राग्नी', 'पितापुत्रौ', 'मातापितरौ', 'माख्याते' इत्यादि शब्द। इन प्रयोगों में भी न तो शब्द बदले जा सकते हैं और न क्रम। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने योग्य है कि शब्दों का क्रम परिवर्तन कर देने से ऋचाओं में छन्दोभंग का दोष भी उपस्थित हो सकता है। वस्तुतः किसी भी अच्छे कवि के काव्य की यह विशेषता होती है कि उसमें न तो शब्द बदले जा सकते है और न ही क्रम, जैसे कालिदास के किसी भी श्लोक में किसी प्रकार का परिवर्तन करना कवि के साथ अन्याय होगा।

दूसरे हेतु में जो यह कहा गया कि ब्राह्मण-वाक्यों द्वारा मन्त्र 'रूप' अर्थात् 'अर्थ' या 'सामर्थ्य' से 'सम्पन्न' अर्थात् युक्त बनाये जाते हैं तो उसका उत्तर यह है कि वेद मन्त्रों में जो बात कही गयी होती है उसी बात का ब्राह्मण वाक्य अनुवाद मात्र करते हैं—वे कोई नई बात नहीं करते। **उदितानुवादः स भवतिः** का अर्थ है **ऋचि उदितस्य (कथितस्य) अर्थस्य ब्राह्मणवाक्यैः अनुवादः स भवति।** किसी बात का अनुवाद कर दिये जाने मात्र से अनुवाद्य अंश अनर्थक नहीं हो जाता।

तीसरे में जो बात कही गयी कि मन्त्र असंगत अर्थ वाले होते हैं उस का उत्तर यह है कि चूंकि ऐसा कहते हैं—विधान करते हैं—इसलिये लौकिक दृष्टि से प्रतीत होने वाली हिंसा भी वस्तुतः हिंसा नहीं—अपितु अहिंसा ही है। क्योंकि भारतीय परम्परा में वेदों की जो स्वतः प्रामाण्य की स्थिति दी गयी है उसको ध्यान में रखते हुए, क्या हिंसा है तथा क्या अहिंसा है इस प्रश्न का अन्तिम निर्णायक तो वेद को ही मनना होगा। और याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार वेद के शब्दों में वृक्ष को काटते हुए यजमान यह प्रार्थना करता है कि 'हे ओषधे ! तू इस वृक्ष की रक्षा कर' (**ओषधे त्रायस्व एनम्**,)' 'हे कुल्हाड़ी ! तू इस वृक्ष की हिंसा मत कर' (**स्वधिते मैनं हिंसीः**)। यहाँ यज्ञ में काटे जाते हुए वृक्ष तथा मारे जाते हुए पशु इत्यादि की रक्षा का तात्पर्य स्वयं ब्राह्मणों में यह बताया गया है कि इन्हें विशेष अभ्युदय तथा स्वर्ग की

प्राप्ति हो। द्र०—पशुर् वै नीयमानः स मृत्युं प्रापश्यत्। स देवान् अन्वकामयत एतुम्। तं देवा अब्रुवन् एहि स्वर्गं वै त्वा लोकं गमिष्यामः (ऐतरेय ब्राह्मण २।६)।

स्कन्द आम्नाय वचनाद् अहिंसा प्रतीयेत् को स्पष्ट करते हुए लिखता है—अत एव हि स्वर्गगमनार्थाद् आम्नायवचनाद् मृतस्य हि पशोः स्वर्गगमना भूयसोऽनुग्रहस्य निवृत्तेर हिंसाऽप्येषा अहिंसैव प्रतीयते (स्कन्दभाष्य, भाग १, पृ० १०१) इस बात को मीमांसकों के द्वारा स्वीकृत—**वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति** इस न्याय में भी कहा गया है।

टिप्पणी—यह सम्भावना पहले व्यक्त की जा चुकी है कि **कौत्स** याज्ञिक प्रक्रिया का आचार्य है इसीलिये **कौत्स** की ये द्वितीय तथा तृतीय युक्तियाँ याज्ञिक प्रक्रिया से ही सम्बद्ध हैं। निरुक्तकार यास्क ने भी याज्ञिक प्रक्रिया की दृष्टि से ही इन युक्तियों का उत्तर दिया है।

चौथे आक्षेप में जो यह कहा गया कि मन्त्र परस्पर विरोधी अर्थ वाले हैं वह भी उचित नहीं है क्योंकि वैसी बात तो लौकिक भाषा के प्रयोगों में भी मिलती है। जिसके एक दो या बहुत कम शत्रु होते हैं उसके 'असपत्न' 'अनमित्र' (शत्रु रहित) का प्रयोग किया जाता ही है। इसी दृष्टि से प्राचीन काल में युधिष्ठिर को कई बार युद्ध भूमि में उतरना पड़ा तथा गाँधी जी एक शत्रु की ही गोली से मृत्यु को प्राप्त हुए। ऐसे प्रयोगों में 'न' का अर्थ हो सकता सापेक्षिक कल्पना है—सर्वथा अभाव नहीं। क्योंकि दुनिया में ऐसा कोई नहीं हो सकता जिसके शत्रु या मित्र न हों द्र०—

मुनेर् अपि वनस्थस्य स्वानि कार्याणिः कुर्वतः।
उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रवः॥ (दुर्ग टीका में उद्धृत)।

पाँचवे हेतु में जानने वाले 'होता' को 'सम्प्रेष' देने की जो बात कही गयी है वह भी ठीक नहीं है क्योंकि लौकिक व्यवहार में अनेक स्थलों पर जानने वाले को भी बताया हो जाता है। जैसे शिष्य जब गुरु को अभिवादन

करता है तो गुरु शिष्य का नाम जानता है फिर भी शिष्य अपना नाम उच्चारण करके 'अभिवादये देवदत्तोऽहम्भो' इस रूप में अभिवादन करता है। (द्र० मनुस्मृति २।१२२)। इसी प्रकार विवाह में वर को, जोकि यह जानता है कि यह सामने रखी हुई वस्तु मधुपर्क (दही, शहद तथा घृत मिश्रित भोज्य वस्तु) है तथा मुझे ही इसे खाना है फिर भी यह कहा ही जाता है कि यह मधुपर्क रखा हुआ है इसे आप खायें (मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः प्रतिगृह्यताम्')।

छठे हेतु में जो, एक मन्त्र में, अदिति को सब कुछ कहे जाने की बात कही गयी वह भी कोई दोष नहीं है। क्योंकि लौकिक प्रयोगों में भी ऐसे अनेक वाक्य या श्लोक मिलते हैं जिनमें इस प्रकार के भाव उपनिबद्ध मिलते हैं। जैसे यह कहा गया कि 'सर्वरसाः अनुप्राप्ताः पानीयम्' अर्थात् पानी में सभी रस विद्यमान हैं। अथवा इसी प्रकार भक्ति की भावना से ओत प्रोत भक्त भगवान से आज भी कह उठता है—

त्वम् एव माता च पिता त्वम् एव,
त्वम् एव बन्धुश्च सखा त्वम् एव,
त्वम् एव विद्या द्रविणं त्वम् एव,
त्वम् एव सर्वं मम देव देवः॥

इसी प्रकार उपरि निर्दिष्ट मन्त्र में भी अदिति की महिमा के कारण ही उसे ही सब कुछ कह दिया गया।

सातवें आक्षेप में मन्त्रों के अनेक शब्दों के अस्पष्टार्थक होने की जो बात कही गयी है वह तो कहने वाले का ही दोष है जिसे वे शब्द अस्पष्टार्थक प्रतीत होते हैं। इनमें उन शब्दों का क्या दोष है कि उन्हें अनर्थक मान लिया जाय? यदि किसी अन्धे को खम्भा न दिखाई दे तो इसमें खम्भे का क्या दोष है? यह तो उस अन्धे व्यक्ति की दृष्टिहीनता का दोष माना जायेगा। संस्कृत के किसी कवि ने निम्न पंक्तियों में दो एक सुन्दर उदाहरण इस दृष्टि से दिये हैं—

पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किम् ?
नोलूको अवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किम् दूषणम् ?
धारा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणम् ?

अतः इस प्रकार के शब्दों को अस्पष्टार्थक कह कर नहीं छोड़ देना चाहिए, अपितु विभिन्न उपायों से इस प्रकार के शब्दों के अर्थ को जानने का प्रयास किया जाना चाहिये। इसी बात को मीमांसा दर्शन के 'सतः परम् अविज्ञानम्' (१।२।४६) सूत्र में भी प्रकट किया गया है जिसे स्पष्ट करते हुए भाष्यकार शबर स्वामी ने कहा है—**विद्यमानोऽप्यर्थः प्रमादालस्याभिर् नोपलभ्यते। निगम निरुक्त-व्याकरण-वशन धातुतोऽर्थः कल्ययितव्यः।** 'अभ्यक्', 'यादृश्मिन्', तथा 'जारयामि' इन शब्दों के अर्थ के विषय में यास्क ने निरुक्त ६।१५ तथा 'काणुका' के विषय में निरुक्त ५।११ में विचार किया है।

वैदिक मन्त्रों के अर्थज्ञान के लिये-भूयोविद्य बनने की आवश्यकता

मूल—यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।

अनुवाद—जिस प्रकार जनपद (देहात आदि) में रहने वाली (अनपढ़) जनता में (थोड़ी सी) विद्या से (भी कोई) पुरुष विशेष बन जाता है। परन्तु आगम परम्परा से (वेद के) ज्ञाता विद्वानों में (तो बहुत ज्ञान वाला व्यक्ति ही मन्त्रार्थ को अच्छी तरह जानने के कारण प्रशंसा का पात्र बन पाता है।

व्याख्या—यास्क ने इस वाक्य में इस बात को स्पष्ट किया है कि वेदार्थ के क्षेत्र में उसी व्यक्ति को सफलता प्राप्त होती है जिसने अनेक विद्याओं का ज्ञान, मनन एवं पर्याप्त अभ्यास किया है तथा उनमें विशेष प्रौढ़ता प्राप्त की है। जिसने बार-बार वेदों का मनन एवं गहन अध्ययन किया है ऐसा परिनिष्णात विद्वान् ही प्रशंसनीय होता है। देहात की अनपढ़ या कम पढ़ी लिखी जनता

में भले ही कोई व्यक्ति थोड़ी सी विद्या पढ़कर भी पुरुष-विशेष बन सकता है, उनमें प्रतिष्ठित हो सकता है परन्तु विद्वानों में प्रतिष्ठित होने के लिये व्यक्ति को 'भूयोविद्य' अथवा विद्या महान् धनी बनना पड़ेगा। ऐसे 'भूयोविद्य' एवं प्रतिभासमन्वित विद्वानों के लिये वेद के दुरूढ़ शब्द भी सरल एवं स्पष्ट अर्थ वाले बन जाते हैं।

टिप्पणी—निरुक्त की इस पंक्ति में 'यथा' शब्द अनावश्यक प्रतीत होता है क्योंकि यहाँ कहीं भी 'यथा' शब्द का न तो प्रयोग हुआ है और न ही उसकी कोई संगति लगती है। 'जानपदीषु' का विग्रह है—'जनपदे भवा जनपदी' अर्थात् जनपद (देहात आदि) में रहने वाली जनता। दुर्ग तथा स्कन्द ने इस स्थल का अर्थ यह किया है कि जनपद में होने वाली शिल्प, चित्र-कर्म आदि क्रियाएँ। उनमें जिस प्रकार विद्या के द्वारा ही कोई पुरुष विशेष बन पाता है जो परम्परा से उसे पढ़ता है तथा अभ्यास करता है वही इन शिल्प आदि विद्याओं को अच्छी तरह जानता है। उसी प्रकार यहाँ भी जिसने मन्त्रार्थ को अच्छी तरह से पढ़ा है तथा उसका अभ्यास किया है उसे कुछ भी अस्पष्ट नहीं प्रतीत होता और जो परम्परा से वेदार्थ को पढ़े हुए होते हैं उनमें जो बहुत अधिक ज्ञान वाला होता है, केवल वही प्रशंसनीय होता है। परन्तु यास्क की पंक्तियों से यह अभिप्राय प्रकट नहीं होता। यहाँ 'पारोवर्यवित्सु' के बाद जो 'तु' का प्रयोग हुआ है वह स्पष्टत: इस वैषम्य का द्योतक है कि देहाती जनता में तो सामान्य ज्ञान से भी व्यक्ति पुरुष विशेष बन जाता है परन्तु आगमवित् विशिष्ट ज्ञानियों में तो 'भूयोविद्य' ही प्रशंसनीय हो पाता है। 'पारोवर्यविद:' का विग्रह किया गया है—**परोर्यम् आगम-परम्परा तया ये विदन्ति ते पारोवर्यविद: तेषु पारोवर्यवित्सु**। अर्थात् आगम परम्परा या गुरु-परम्परा से अध्ययन करने वाले विद्वानों में। 'पारोवर्य' शब्द को भट्टोजि दीक्षित (सिद्धान्त कौमुदी ५।२।१०) ने, पाणिनीय व्याकरण के अनुसार असाधु माना है। परन्तु यास्क के द्वारा

प्रयुक्त होने के कारण इस प्रयोग की साधुता के लिये पाणिनीय व्याकरण की मोहर प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार मन्त्रों की सार्थकता का प्रतिपादन तथा मन्त्रों की अनर्थकता के सिद्धान्त का खण्डन कर देने से वैदिक मन्त्र सार्थक हैं, यह बात प्रमाणित हो जाती है तथा मन्त्रों के सार्थक हो जाने से इस निरुक्त शास्त्र की सार्थकता स्वतः सिद्ध है द्र०—

इति प्रभिन्ने परस्य हेतुषु स्वपक्षसिद्धाव् उदिते च कारणे।
अविस्थिता मन्त्रगणस्य सार्थता तदर्थम् एतत् खलु शास्त्रम् अर्थवत्।
(दुर्गभाष्य में उद्धृत)

———

प्रथम अध्याय

षष्ठ-पाद

पद-विभाग ज्ञान के लिये निरुक्त के अध्ययन की आवश्यकता

मूल—अथापीदमन्तरेण पद-विभागो न विद्यते ।

'अवसाय पद्वते रुद्र मृड' इति । पद्वदवसं गावः पथ्यदनम्' अवते-र्गत्यर्थस्यासौ नामकरणः तस्मान्नावगृह्णन्ति । 'अवसायाश्वान्' इति स्यति-रूप-सृष्टोविमोचने तस्मादवगृह्णन्ति ।

अनुवाद—(अब पद विभाग ज्ञान प्राप्त करने के लिये निरुक्त का अध्ययन करना आवश्यक है क्योंकि) इस निरुक्त शास्त्र के सम्यक् ज्ञान के बिना पद विभाग भी नहीं किया जा सकता है (जब पद विभाग) पद-विच्छेद) भी नहीं किया जा सकता है तो फिर अर्थ ज्ञान की सम्भावना ही नहीं की जाती है, अतः मन्त्रों के पदों का विभाग करने के लिये निरुक्त शास्त्र के अध्ययन की परमाव-श्यकता स्वयं सिद्ध हो जाती है) निरुक्त ज्ञान के बिना पद विभाग सम्भव ही नहीं है तो फिर मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान स्वयं आकाश कुसुम की तरह हो जाता है, अतः निरुक्त शास्त्र का अध्ययन अवश्य करना चाहिये । पद विभाग का उदाहरण निम्न प्रकार देखिये—

"हे रुद्र देव ! पैर वाले पाथेय (भोजन) पर कृपा कीजिये । पैरों से युक्त पाथेय (रास्ते का भोजन) । गायें रास्ते का भोजन हैं । नेत्यर्थक अव् असु प्रत्यय लगाने पर 'अवसं' वनता है, यह 'अवस' शब्द संज्ञावाचक है । इसी कारण पद विभाग करने वाले इसका ग्रहण नहीं करते हैं । घोड़ों को खोलकर 'उप' उपसर्ग के साथ सो का प्रयोग छोड़ने के अर्थ में होता है, इसलिये पद विभाग ग्रहण किया जाता है ।

व्याख्या—"अवसाय पद्वते रुद्र मूल" (ऋग्वेद १०।१६९।१), "अवसायाश्वान्" (ऋग्वेद १।१०४।१) इन दोनों मन्त्रों में पठित "अवसाय" शब्द समान रूप से दृष्टिगोचर होता है परन्तु अर्थ में भिन्नता प्राप्त होती है, समानता नहीं। इस भिन्नता का परिज्ञान पद विभाग के बिना सम्भव नहीं। अतः पद विभाग करना अत्यावश्यक है तथा पद विभाग के लिये निरुक्त का अध्ययन आवश्यक है। उदाहरण के लिये दो मन्त्रों के उपर्युक्त दो मन्त्रांश अवतरित किये गये हैं, यहाँ प्रथम मन्त्र में अवसाय अव् धातु से अस प्रत्यय लगाकर चतुर्थी एकवचन में "अवसाय" बनाते हैं जिसका अर्थ चलने वाले अर्थात् पैरों से युक्त भोजन के लिये कृपा करो। दूसरे मन्त्रांश में 'अवसाय' शब्द इससे एकदम विपरीत अर्थ ग्रहण होता है कि अव उपसर्ग पूर्वक सो धातु से क्त्वा और क्त्वा के स्थान पर ल्यप् प्रत्यय होने पर "अवसाय" बनता है जिसका अर्थ छोड़कर ग्रहण होता है। अतः ऐसी विषम स्थिति में पद विभाग ज्ञान के बिना "अवसाय" आदि पदों का वास्तविक अर्थ ज्ञान नहीं हो सकेगा। अतः पद ज्ञान के लिये निरुक्त का अध्ययन अनिवार्य है।

टिप्पणी—

अवसाय=मार्ग के भोजन के साधन रूप। **पद्वते**=गाय के लिये। **मृड**=कल्याण करो, कृपा करो, अतः **पद्वत्** का अर्थ गायें और **अवसस्** का अर्थ मार्ग का भोजन है, गत्यर्थक √अव + अस (प्रत्यय) = अवसम् बनता है, चतुर्थी एकवचन में अवसाय बनता है, यहाँ पद विभाग नहीं किया जाता है, **तस्मात्** इसलिये न **अवगृह्णन्ति**=पदविभाग (पद-विच्छेद) नहीं करते। षोऽन्त कर्मणि √सो धातु से उप उपसर्ग होने पर क्त्वा को ल्यप् होकर **अवसाय** छोड़कर, अर्थ ग्रहण किया जाता है। अतः यहाँ द्वितीय मन्त्रांश में अवसाय का पद विभाग करके ही अर्थज्ञान की सम्भूति होती है। इस पद विभाग ज्ञान के लिये निरुक्त का अध्ययन परमावश्यक है।

मूल—'दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम' इति पञ्चम्यर्थ-प्रेक्षा वा षष्ठ्यर्थंप्रेक्षा वा आःकारान्तम्। 'परो निर्ऋत्या आचक्ष्व' इति। चतुर्थ्यर्थ-प्रेक्षैकारान्तम्।

अनुवाद—हे देव! यह कपोत दूत बनकर निर्ऋति का अथवा निर्ऋति

के पास से हमारे घर आया है। इस मन्त्र में 'आ' का अर्थ पंचमी तथा षष्ठी दोनों के अर्थ में प्रयुक्त हो सकता है, क्योंकि पंचमी तथा षष्ठी दोनों में एक समान 'आः' शेष रहता है। परन्तु "परोनिर्ऋत्या आचक्ष्व" यहाँ पर दूर जाकर निर्ऋति के लिये कुत्सित विचार अथवा कुभावना के लिये हमारा सन्देश कह दो, यहाँ "निर्ऋति" में चतुर्थी के अर्थ में 'ऐ' का पद विभाग किया जाता है।

व्याख्या—यद्यपि दोनों मन्त्रों में "निर्ऋत्या" प्रयोग समान रूप से किया गया है तथापि पद विभाग के द्वारा प्रथम "निर्ऋत्या" पद विभाग पंचमी तथा षष्ठी के अर्थ में किया गया है जिससे यह अर्थ ज्ञात होता है। हे देव! यह दूत निर्ऋति से अथवा निर्ऋति का मेरे घर आया है। निर्ऋति शब्द से 'आः' का प्रयोग पंचमी अथवा षष्ठी के अर्थ में हुआ है। परन्तु "**परोनिर्ऋत्या आचक्ष्व**" में निर्ऋत्या शब्द से चतुर्थी के अर्थ 'ऐ' का पद विभाग करके यह अर्थ ग्रहण किया जाता है कि निर्ऋति के लिये हमारा कुत्सित विचार कहो। यहाँ निरुक्त शास्त्र के परिज्ञान के बिना पद विभाग नहीं किया जा सकता है और पद विभाग के बिना सही अर्थ की प्रतीति सम्भव नहीं है। अतः उचित अर्थ के परिज्ञान के लिये पद विभाग का ज्ञान आवश्यक है और पद विभाग ज्ञान के लिये निरुक्त शास्त्र का अध्ययन परमावश्यक है।

मूल—'परः सन्निकर्षः संहिता'। 'पद-प्रकृतिः संहिता'। 'पद-प्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि।'

अनुवाद—अत्यन्त समीपता को संहिता कहते हैं। वेद की समस्त शाखाओं के प्रातिशाख्य की ऋचायें मूल में पद ही हैं। अतः पद के अभाव में 'ऋ' की व्याख्या सम्भव नहीं हो सकती है।

व्याख्या—"पर सन्निकर्षः संहिता" यह पाणिनि का संहिता विधायक एक सूत्र है, जिसका अर्थ यह है कि वर्णों की अत्यन्त समीपता की संहिता संज्ञा होती है। इसमें विद्वानों के दो मत हैं, एक मत से 'पद' 'विकृति' और 'संहिता' प्रकृति है। दूसरे मत के अनुसार 'पद' प्रकृति है और 'संहिता' विकृति है। इस प्रकार एक समस्या उत्पन्न हो जाती है कि पद को प्रकृति मानें या विकृति। इसी प्रकार 'संहिता' को प्रकृति मानें या विकृति। इस सन्देह को दूर करने के लिये

पद प्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि लिखा है । इसका आशय यह है कि वेद की सभी शाखाओं के प्रातिशाख्यों ने पदों को ही संहिता का कारण स्वीकार किया है और 'संहिता' को विकृति अर्थात् कार्य माना है ।

इस सन्दिग्ध स्थिति में 'पद' को अथवा 'संहिता' को प्रकृति अथवा विकृति स्वीकार करें । इस प्रश्न के समाधान में दुर्गाचार्य ने यह मत व्यक्त किया है कि अन्य शाखा वाले अपनी इच्छानुसार पद को चाहें प्रकृति मानें या विकृति मानें । परन्तु हमें पदों को संहिता की विकृति ही स्वीकार है । अतः संहिता कारण और पद कार्य होते हैं । इसका प्रमाण कर्मकाण्ड के यज्ञकर्मों में संहिता से ही मन्त्रों का विनियोग किया जाता है, पदों से नहीं यदि पद कारण और संहिता को कार्य मानना इष्ट होता तो यज्ञकर्मों में पदों का ही विनियोग होता, इसके अतिरिक्त यदि पद ही कारण अर्थात मुख्य स्वीकार किये गये होते, तो यज्ञकर्मों में पदों का विनियोग अवश्य दृष्टिगोचर होता तथा यदि पद की प्रमुखता स्वीकार होती तो गुरु शिष्यों को अध्यापन कराते समय पहले पदों को पढ़ाते परन्तु वे पहले शिष्यों को 'संहिता" ही पढ़ाते हैं । अतः उपर्युक्त दो तर्कों से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि 'संहिता" को प्रकृति अर्थात् कारण, और पद को विकृति अर्थात् कार्य मानना अधिक न्याय संगत है ।

टिप्पणी—चरण = वेद की विभिन्न शाखायें, और उनके अनेक संस्करण । पार्षद = प्रातिशाख्य अर्थात् पदपाठ के नियमों का प्रतिपादक ग्रन्थ विशेष, 'संहिता' यह परिभाषा पाणिनि ने संज्ञा सूत्रों के प्रसंग (१।४।१०९) में की है । पाणिनि ने इस "संहिता" संज्ञा को प्रातिशाख्य से ग्रहण करके वर्णन किया है ।

सूल—अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति, तदेतेनोपेक्षितव्यम् । ते चेद् ब्रूयुर्लिङ्गज्ञा अत्र स्म इति, 'इन्द्र' न त्वा शवसा देवता वायुम्पृणन्ति' इति वायु-लिङ्गं चेन्द्र लिङ्गं चाग्नेये मन्त्रे, 'अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्वः' इति तथाऽग्निर्मान्यवे मन्त्रे, त्विषितो ज्वलितः त्विषिरित्यप्यस्य दीप्तिनाम भवति ।

अनुवाद—इसके अतिरिक्त निरुक्त पढ़ने का एक यह प्रयोजन और है कि यज्ञ कर्म में देवताओं के सम्बन्ध में बहुत सी विधियों का निर्देश किया गया है,

इन निर्देशों को जानने के लिए निरुक्त शास्त्र का अध्ययन अवश्य करना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि यज्ञ कर्मों में अनेक स्थानों पर नियम है कि अमुक स्थान पर प्राजापत्य आहुति देनी चाहिए, अमुक स्थान पर आग्नेय आहुति देनी चाहिए। इन निर्देशों का परिज्ञान निरुक्त शास्त्र के अध्ययन के बिना नहीं हो सकता। अतः यज्ञ कर्म के सम्यक् सम्पादन के लिए निरुक्त शात्र का अध्ययन अवश्य करना चाहिए, यदि कदाचित् वे याज्ञिक यह कहें कि हम लोग तो वेदों में देवताओं के लिङ्गों को भली-भाँति जानते हैं अर्थात् मन्त्रों में पठित देवताओं के लक्षण इतने स्पष्ट हैं कि हम उन्हें मन्त्रों में ही जान लेते हैं अतः देवताओं के लिङ्ग (लक्षण) परिज्ञान के लिए निरुक्त शास्त्र के अध्ययन आदि की कोई आवश्यकता नहीं है। तो उन याज्ञिकों से इन मन्त्रों के देवताओं का प्रश्न पूछते हैं।

मन्त्रों के अर्थ—इन्द्र के समान, वायु के समान, उच्च स्वर से स्तुतियों को उच्चारण करते हुए पूजा करते हैं। इसी प्रकार अग्नि देवता के मन्त्र में वायु का भी लक्षण है और इन्द्र देवता का भी लक्षण है। अतः लिंग अथवा लक्षण के द्वारा यह जान लेना कि इस मन्त्र में प्रधान देवता कौन है, यह अत्यन्त दुष्कर एवं असम्भव है। द्वितीय मन्त्र का अर्थ—हे मन्यु स्वरूप राजन् ! अग्नि के समान तेज की ज्वाला से शत्रुओं को पराजित करो, हाँ इस मन्यु देवता के लक्षण में अग्नि देवता का भी लक्षण प्राप्त होता है। त्विषित का अर्थ प्रज्वलित है। इसका दीप्ति नाम है अर्थात् त्विषि और दीप्ति ये दोनों तुल्यार्थक शब्द हैं। अतः यज्ञ कर्मों में देवताओं का सम्यक् परिज्ञान केवल लक्षणों से नहीं हो सकता है। अतः यज्ञ कर्म में देवताओं के स्वरूप परिज्ञान के लिए भी निरुक्तशास्त्र का अध्ययन परमावश्यक है।

मूल—

अथापि ज्ञान-प्रशंसा भवति, अज्ञान-निन्दा च—

अनुवाद—इसके अतिरिक्त निरुक्त शास्त्र के अध्ययन का यह एक चौथा प्रयोजन है कि निरुक्त शास्त्र को जानने वाला ज्ञानी अथवा ज्ञाता कहा जाता है।

संसार में ज्ञान की सदा प्रशंसा और अज्ञान की निन्दा होती है। अतः प्रशंसा के लिये निरुक्त शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।

मूल—

'स्थाणुरयं भार-हारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञान-विधूत-पाप्मा॥'

अनुवाद—जो व्यक्ति वेद को पढ़कर अर्थ नहीं जानता है वह तो सूखे वृक्ष के समान व्यर्थ जीवन वाला होता है, जिस प्रकार सूखा वृक्ष ठूंठ फलादि नहीं देता है अर्थात् व्यर्थ होता है उसी प्रकार वेद के अर्थ को न जानकर वेद को पढ़ने वाला व्यर्थ होता है। उससे कोई लोक अथवा अपना कल्याण नहीं होता है। इसके अतिरिक्त जो वेद के अर्थ को जानने वाला होता है, वह सम्पूर्ण कल्याण को प्राप्त करता है और ज्ञान से समस्त पापों को नष्ट करके स्वर्ग प्राप्त करता है।

मूल—

'यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्।'

अनुवाद—जिसको केवल ग्रहण कर लिया अर्थात् रट कर कण्ठस्थ कर लिया और अर्थ नहीं समझा केवल शब्दों के उच्चारण मात्र से ही ध्वनि को प्राप्त होता है अर्थात् केवल शब्द को पढ़ता ही रहता है, उसे पढ़ने का कोई सुपरिणाम नहीं होता है, जिस प्रकार सूखी लकड़ी अग्निरहित स्थान में रखी होने मात्र से कभी भी प्रज्वलित नहीं होती है, उसी प्रकार अर्थ जाने बिना केवल शब्दों का उच्चारण करने से वेदपाठ का वास्तविक लाभ नहीं प्राप्त होता है। अतः अर्थ-ज्ञान होना परमावश्यक है।

मूल—

स्थाणुस्तिष्ठतेः। अर्थोऽर्तेररणस्थो वा।

अनुवाद—स्थाणु शब्द स्था धातु से निष्पन्न हुआ है, अर्थशब्द ऋ गतौ धातु से निष्पन्न हुआ है, अरणस्थः = अधिपति के दिवंगत हो जाने पर यह अर्थ रुपये पैसा आदि समस्त धन नहीं छूट जाता है कुछ भी साथ नहीं जाता है। इसी

अर्थ के समान शब्द का अर्थ भी यहीं रह जाता है। अतः शब्द के अर्थ को और धन सम्पत्ति को भी अर्थ के नाम से अभिहित करते हैं।

अर्थ प्रशंसा--

'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुतं त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥"

अनुवाद–जो मूर्ख व्यक्ति अर्थ को बिना जाने हुए केवल मन्त्रों को कण्ठस्थ कर लेता है, वह मूर्ख व्यक्ति वेद-वाणी को देखते हुए भी नहीं देखता है। अर्थ-ज्ञान के अभाव में वेद-वाणी से उचित एवं वास्तविक लाभ नहीं प्राप्त कर सकता है। वह मूर्ख व्यक्ति (अर्थज्ञान से शून्य) वेद-वाणी को सुनते हुए भी नहीं सुनता है। अर्थ जानने वाले व्यक्ति के लिए यह वेद-वाणी अपने शरीर को वैसे खोलकर सामने उपस्थित कर देती है, जिस प्रकार सुन्दर वस्त्रों को धारण किये हुए पति के द्वारा चाही जाती हुई स्त्री पति के लिए अपना शरीर खोलकर समर्पित करती है। अर्थ को जानने वाला ही व्यक्ति वेदवाणी के वास्तविक लाभ को प्राप्त कर सकता है, अर्थ न जानने वाला कभी नहीं।

मूल—

अप्येकः पश्यन्नपि न पश्यति वाचम्। अपि च शृण्वन्न शृणोत्येनाम् इति अविद्वांसमाहार्धम्। अप्येकस्मै तन्वं विसस्रे इति स्वमात्मानं विवृणुते। ज्ञान प्रकाशनमर्थस्याहानया वाचोपमोत्तमया वाचा। जायेव पत्ये कामयमाना सुवासा ऋतु-कालेषु। सुवासाः कल्याण-वासाः। कामयमाना ऋतुकालेषु। यथा स एनां पश्यति, स शृणोतीत्यर्थज्ञ-प्रशंसा।

अनुवाद—कोई मूर्ख व्यक्ति भी इस वेदवाणी को नहीं देखता अर्थात् वाणी वास्तविक अर्थ को न जानने के कारण तत्वज्ञान से वञ्चित रहता है और सुनकर भी नहीं सुनता है। यह मन्त्र का आधा भाग मूर्ख अर्थात् अर्थ-ज्ञान को न जानने वाले व्यक्ति के लिए कहा गया है, और किसी एक अर्थात् अर्थज्ञ के सामने वाणी उसी प्रकार अपने शरीर को खोलकर प्रस्तुत कर देती है। इस मन्त्र के तीसरे

भाग में अर्थज्ञान का महत्व प्रकटित करके चतुर्थ भाग में उपमा के द्वारा अर्थज्ञान की प्रशंसा की है जिस प्रकार ऋतुकाल में पत्नी अपने पति को अपना शरीर खोलकर समर्पित कर देती है, उसी प्रकार वेदवाणी अर्थज्ञ को अपना शरीर खोलकर समर्पित कर देती है, यह अर्थज्ञ की प्रशंसा है।

मूल—

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय।

अनुवाद—आगे लिखी हुई ऋचा अर्थज्ञ प्रशंसा की महत्ता का अधिक निर्वचन करने के लिये अवतरित की गई है।

मूल —

'उत त्वं सख्ये स्थिर-पीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवां अफलामपुष्पाम्॥'

अनुवाद—कुछ लोग जो वेदवाणी के निश्चित अर्थ को जानते हैं, उन्हें कठिन शब्दों के प्रयोग अथवा अर्थ-ज्ञान के विषय में कोई पराजित नहीं कर सकता है। दूसरे जो झूठी गाय की माया से व्यवहार करते हैं और ये फलरहित तथा फूल शून्य वाणी को सुनते हैं। इस मन्त्र के प्रथम भाग में अर्थज्ञ की प्रशंसा और दूसरे भाग में अर्थ न जानने वाले की निन्दा ध्वनित की गई है। इसके विपरीत राजवाड़े के एक विद्वान् ने इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है कि सख्य = कवि कर्म, स्थिरपीत = स्थिर ज्ञान, वाजिन = कवियों की सभा। अतः आशय यह है कि कुछ कविगण अपने कवि कर्म स्थिर ज्ञान वाले होते हैं। नवीन कविता करने में असमर्थ होते हैं। इसलिए उनको विद्वत्समाज में नहीं भेजा जाता है। उपर्युक्त प्राचीन अर्थ अधिक समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि प्रसंग के अनुकूल ऊपर का ही अर्थ संगत प्रतीत होता है।

मूल —अप्येकं वाक् सख्ये स्थिरपीतमाहू रममाणं विपीतार्थं देव–सख्ये रमणीये स्थान इति वा विज्ञातार्थं यन्नाप्नुवन्ति वाग्ज्ञेयेषु बलवत्स्वपि। अधेन्वा ह्येष चरति मायया वाक्प्रतिरूपया। नास्मै कामान् दुग्धे वाग्दोह्यान् देव–मनुष्यस्थानेषु यो वाचं श्रुतवान् भवत्यफलामपुष्पामित्य-

फलास्मा अपुष्पा वाग् भवतीति वा किञ्चित्पुष्पफलेति वा। अर्थं वाचः पुष्पफलमाह। याज्ञ-दैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा।

अनुवाद--वाणी से मित्रता के सम्बन्ध में कुछ लोगों को स्थिरपीत अर्थात् वाणी के उचित अर्थ-ज्ञान में रमण करने वाला, आनन्द का अनुभव करने वाला अर्थ को जानने वाला कहा गया है। अथवा देवताओं से मित्रता करने वालों से रमणीय स्थान (स्वर्गलोक) में अर्थ के रहस्य को जानने वाले की तुलना अन्य लोग वाणी के दुरूह अर्थ के स्थलों में भी नहीं कर सकते हैं। वह दूसरा वाणी के यथार्थ ज्ञान शून्य व्यक्ति गाय रहित होकर भाषा से वाणी के चक्कर में पड़ जाता है, उचित अर्थ के रहस्य नहीं समझ पाता है। देवता तथा मनुष्य के बीच दुही जाने वाली वाणी रूपी गाय मनोरथों को ऐसे व्यक्तियों को नहीं प्रदान करती है, जो वाणी के फूल, फल रहित (वास्तविक अर्थ के तत्त्व) को नहीं जानते हैं, अथवा जो वाणी के वास्तविक अर्थ को नहीं जानते हैं। उनके लिये वाणी फूल, फल रहित हो जाती है। अर्थात् उनके लिये वेद मन्त्रों का (अर्थज्ञान के बिना) पाठ निष्फल हो जाता है। अथवा अल्प फूल-फल वाली वाणी होती है। वाणी (वेदमन्त्र) के अर्थ को ही फूल-फल कहा गया है। यज्ञ तथा देवता सम्बन्धी ज्ञान को ही क्रमशः फूल-फल कहा गया है, अथवा वेद के अध्ययन से उत्पन्न देवता सम्बन्धी ज्ञान और आत्म-सम्बन्धी ज्ञान ही वाणी के फूल-फल हैं। इस प्रकार अर्थज्ञ की प्रशंसा स्वतः स्पष्ट हो जाती है और अर्थ-ज्ञान के लिए निरुक्त का अध्ययन अत्यावश्यक है।

मूल—साक्षात्कृत-धर्माण ऋषयः बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृत-धर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च। बिल्मं भिल्मं भासनमिति वा।

अनुवाद--ऋषि लोग धर्म का साक्षात्कार किये हुये थे अर्थात् ऋषियों ने धर्म का साक्षात्कार (सम्यक् धर्म तत्व को जान) लिया था। अन्य लोगों को ऋषियों ने उपदेश के द्वारा मन्त्रों को प्रदान किया। भली-भाँति उपदेश करने के उद्देश्य से मन्त्रों के उपदेश में कष्ट का अनुभव करके अन्य लोगों ने मन्त्रों का

वर्गीकरण करलता के उद्देश्य से वेद और वेदाङ्गों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया अर्थात् प्राचीन ऋषिगण साक्षात् धर्म को जानने वाले होते हुए अन्य लोगों के लिए मन्त्रों का मौखिक उपदेश देते थे परन्तु इस मौखिक उपदेश में कठिनता का अनुभव करके मन्त्रों के उपदेश सरल बनाने के उपाय को खोजते हुए मन्त्रों का वर्गीकरण चार वेद, ६ वेद के अंगों का प्रकाशन मन्त्रों के अर्थज्ञान की सरलता के उद्देश्य से किया।

मूल––एतावन्तः समान-कर्माणो धातवः। धातुर्दधातेः एतावन्त्यस्य सत्त्वस्य नामधेयानि। एतावतामर्थानामिदमभिधानम्। नैघण्टुकमिदं देवतानामप्राधान्येनेदमिति।

अनुवाद––अब यहाँ निघण्टु के विषय-सामग्री के भेद से तीन भेदों का वर्णन किया जाता है।

इस निघण्टु कोश के तीन भेदों में प्रथम भेद (१) "नैघण्टुक काण्ड" है—इसमें एक अर्थ वाली अनेक धातुओं के नाम का परिगणन किया गया है। जैसे गत्यर्थक धातुओं के परिगणन के प्रसंग में १२२ गत्यर्थक धातुओं का उल्लेख किया गया। इसी प्रकार अनेक धातुओं का एकार्थक प्रसंग में वर्णन किया गया है। इसी प्रकार पृथिवी के समानार्थक शब्दों अथवा नामों का परिगणन करते हुए पृथ्वी के २१ नामों का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार अन्य धातुओं तथा द्रव्यवाचक समानार्थक अनेक शब्दों का प्रसंग के अनुकूल वर्गीकरण जिसमें किया गया है उसे नैघण्टु कोश कहते हैं।

दूसरा एकपदिक अथवा नैगम-काण्ड के नाम से अभिहित किया गया है। जिसमें एकपदिक अथवा नैगम-काण्ड में इसको भी यह और इसको भी यह कहते हैं, ऐसा वर्णन जिसमें किया गया है उसे नैगम-काण्ड अथवा एकपदिक कहते हैं जैसे—"**आदित्योऽकूपार उच्यते समुद्रोऽप्यकूपार** उच्यते" अर्थात् आदित्य को 'अकूपार' कहते हैं तथा समुद्र को भी अकूपार कहते हैं, ऐसे वर्णन जिस काण्ड में किये गये हैं उन्हें एकपदिक अथवा नैगम-काण्ड कहते हैं। इस नैगम-काण्ड में यह देवता नाम अप्रधान है और यह देवता नाम प्रधान है, इत्यादि विवेचन का वर्णन किया गया है।

देवताओं की प्रधानता अप्रधानता का वर्णन

मूल—तद् यद् अन्य-दैवते मन्त्रे निपतति नैघण्टुकं तत्। 'अश्वं न त्वा वारवन्तम्।' अश्वमिव त्वा वालवन्तम्। वाला दंश-वारणार्था भवति। दंशो दशतेः।

अनुवाद—वह जो अन्य देवता के मन्त्र में आता है, उसे निघण्टु कहते हैं, अर्थात् वह अप्रधान देवता होता है। उस अप्रधान देवता को ही निघण्टु कहते हैं। **उदाहरणार्थ**—"अश्वं न त्वया वारवन्तं.........सम्राजमध्वराणाम्"। अर्थात् अग्निदेव समस्त देवताओं से पहले तुमको बाल वाले घोड़े के समान नमस्कारों से पूजते हैं। अथवा तुम्हारी वन्दना करते हैं। अर्थात् जिस प्रकार तीव्र गति वाले बलवान् घोड़े की सभी प्रशंसा करते हैं, उसी प्रकार हम आपकी सबसे पहले प्रशंसा करते हैं। क्योंकि जिस प्रकार तेज चलने वाला घोड़ा शीघ्र ही हमें गन्तव्य स्थान को पहुँचा देता है, उसी प्रकार हे अग्नि देव! हमारे द्वारा यज्ञादि में प्रदत्त आहुति को अभीष्ट देवता के पास पहुँचा देते हो जिनसे हमारा मनोरथ शीघ्र पूर्ण हो जाता है। अतएव अपने मनोरथ सिद्धि के लिए हम नमस्कारों के द्वारा आपकी वन्दना करते हैं। इस मन्त्र में पठित अश्व अप्रधान और अग्नि प्रधान देवता है। बाल (केश) दंशों अर्थात् डांसों को (मच्छर आदि को) भगाने वाले होते हैं। दंश शब्द दंश धातु से निष्पन्न होता है।

मूल—'मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।' मृग इव भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणः। भीमो बिभ्यत्यस्मात्। भीष्मोऽप्येतस्मादेव। कुचर इति चरतिकर्म कुत्सितम्। अथ चेद् देवताभिधानम्, क्वायं न चरतीति। गिरिष्ठा गिरि-स्थायी। गिरिः पर्वतः, समुद्गीर्णो भवति। पर्ववान् पर्वतः। पर्व पुनः पृणातेः प्रीणातेर्वा। अर्द्धमास पर्व-देवानस्मिन् प्रीणन्ति इति। तत्प्रकृतीत–रत्सन्धि-सामान्यात्। मेघस्थायी। मेघोऽपि गिरिरेतस्मादेव।

अनुवाद—नैघण्टुक का एक और उदाहरण देते हुए कहा है–"मृगो न भीमः'

इत्यादि मन्त्र में मृग नैघण्टुक और इन्द्र प्रधान देवता है। निघण्टुक में पठित गति अर्थ वाली मृज् धातु से मृग बनता है। क्योंकि यह मृग अन्य जीवों को मारने के लिये गमन करता है, इसीलिये इसको भीम कहते हैं। इसी भीम के समान भीष्म भी भयानकता का बोधक है, अर्थात् भीम और भीष्म दोनों का अर्थ भयंकर है। इसको कुचर इसलिए कहते हैं कि यह प्राणियों की हिंसा रूप निन्दित कर्म करता है। इसके विपरीत यदि कुचर देवता का वाचक है, तो इसका अर्थ यह होगा कि यह कहाँ नहीं जाता है। देवता महा प्रभावशाली होते हैं, उनकी गति सर्वत्र होती है। वे सब कहीं विचरण करने में समर्थ होते हैं। पर्वत पर रहता है। गिरि पर्वत को कहते हैं, क्योंकि यह पृथ्वी से ऊपर को उठता हुआ निकलता है। पर्वत पर्वों वाला होता है, शिला, शिखर (चोटी) सन्धि आदि ही पर्वत के पर्व होते हैं। पर्व शब्द पूरणार्थक पृ धातु से बनता है। शिला, शिखर सन्धि आदि पर्वत को पूर्ण करते हैं। यदि पर्व शब्द तर्पण अथवा प्रसन्न करने वाली प्रीञ् धातु से बनता है, परन्तु जब पर्व की निष्पत्ति प्रीञ् तर्पणे से स्वीकार करेंगे, तो पर्व शब्द अर्द्धमास अर्थात् अमावस्या, और पूर्णिमा के अर्थ में प्रयुक्त होगा, क्योंकि अमावस्या तथा पूर्णिमा देवता के लिये तर्पण किया जाता है। इस दशा में स्वाभाविक अर्थ को देने वाला पर्व शब्द सन्धिवाचक हो जायेगा, क्योंकि सन्धि की समानता से दोनों अर्थों का बोधक होगा अर्थात् जिस प्रकार पर्वतों में सन्धि होती है, उसी प्रकार समय में भी सन्धि होती है। "गिरिष्ठा" का देवता पक्ष में अर्थ यह मेघ पर बैठने वाला होगा इसी कारण गिरि को भी मेघ कहते हैं। क्योंकि जिस प्रकार पर्वत ऊपर को उठता हुआ निकलता है, उसी प्रकार मेघ भी अन्तरिक्ष में ऊपर उठता हुआ प्रकट होता है।

मूल – तद् यानि नामानि प्राधान्य-स्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते। तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः। नैघण्टुकानि नैगमानीहेह।

अनुवाद—जिन काण्डों प्रकरणों में मुख्य रूप से स्तुति किये गये देवताओं के

नामों का उल्लेख अथवा वर्णन किया गया है, उन प्रकरणों अथवा काण्डों को "दैवत काण्ड" कहते हैं अर्थात् जिन मन्त्रों में मुख्य रूप से देवताओं की स्तुति की गई है, उन प्रकरणों को "दैवत" के नाम से कहते हैं। उस दैवत काण्ड को व्याख्या आगे करेंगे। नैघण्टुक काण्ड तथा नैगम की व्याख्या यहीं पर करेंगे, अर्थात् हम सर्वप्रथम नैघण्टुक काण्ड की तदनन्तर नैगम काण्ड की व्याख्या करेंगे। उसके बाद अर्थात् अन्त में दैवत काण्ड की व्याख्या करेंगे। यहाँ इह शब्द का दो बार पाठ करके अध्याय की समाप्ति की सूचना व्यक्त की गई है।

[इति निरुक्त व्याख्यायां प्रथमोऽध्यायः]

———

अथ द्वितीयोऽध्याय

प्रथमः पादः

मूल—अथ निर्वचनम्

निष्कृष्य-विगृह्य वचनं-निर्वचनम् ॥

अर्थ—प्रथम अध्याय में नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात का स्वरूप विवेचन, शास्त्रारम्भ का मुख्य प्रयोजन, वेद एवं वेदाङ्गादि का प्रयोजन सहित कथन नैघण्टुक नैगम और दैवत आदि तीन काण्डों का वर्णन करके दैवत काण्ड की व्याख्या आगे करेंगे और नैघण्टुक की तथा नैगम काण्ड की व्याख्या यहीं पर कर रहे हैं। यह व्याख्या निर्वचन ज्ञान के बिना सम्भव प्रतीत नहीं होती है। अतः अब यहाँ द्वितीय अध्याय के आरम्भ में निर्वचन का लक्षण कहते हैं कि—

मूल—तद्येषु पदेषु स्वर-संस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात्।

अर्थ—यहाँ तत् शब्द वाक्य का बोधक है, जिन मन्त्रों के पदों में उदात्त, अनुदात्त आदि स्वर, प्रकृति प्रत्यय, लोप आगम आदि संस्कार व्याकरण पद्धति के अनुसार होते हैं, उन उदात्त स्वरों का तथा प्रकृति प्रत्यय, लोप आगम आदि का, व्याकरण के नियमानुसार उसी प्रकार निर्वचन करना चाहिये अर्थात् व्याख्या करते समय व्याकरण के नियमानुसार स्वर, प्रकृति प्रत्यय, लोप, आगम आदि का निर्वचन करना चाहिये। (तभी उचित व्याख्या हो सकेगी)।

यहाँ शब्द के दो भेद कहे गये हैं—(१) समर्थ स्वर और (२) असमर्थ स्वर अर्थात् प्रातिपदिक शब्द दो प्रकार के होते हैं—(१) व्युत्पन्न और (२) अव्युत्पन्न। व्युत्पन्न शब्दों के विषय में यह कहा गया है कि व्युत्पन्न शब्दों का व्याकरण के नियमों के अनुसार निर्वचन कर लेना चाहिये। परन्तु जो अव्युत्पन्न शब्द हैं उनका निर्वचन कैसे करें? इसी प्रश्न की सम्भावना करते हुए समाधान प्रस्तुत किया है।

मूल—अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन।

अर्थ—जहाँ जिस मन्त्र भाग में अथवा पद में अर्थ की संगति उचित नहीं प्रतीत हो रही हो अथवा शब्द कुछ हो और उसका अर्थ कुछ अन्य ही लगता हो और उस पद अथवा शब्द की सिद्धि व्याकरण की रीति से भी सम्भव न हो रही हो, तो वहाँ ऐसे स्थलों पर अर्थ को प्रधान मानकर किसी भी क्रिया से समानता की परीक्षा कर लेनी चाहिये, अर्थात् शब्द की समानता किस धातु से मिल रही है, यह विचार कर व्युत्पन्न शब्दों के अर्थ ग्रहण कर लेना चाहिये और शब्द की समानता से धातु आदि का निर्वचन कर लेना चाहिये, क्योंकि अर्थ ही मुख्य अर्थात् प्रधान हैं। शब्द तो अप्रधान है।

मूल—अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षर वर्ण-सामान्यान्निर्ब्रूयात्। न त्वेव न निर्ब्रूयात्। न संस्कारयाद्रियेत। विषयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति। यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्।

अर्थ—जहाँ जिस मन्त्र में पद अथवा शब्द की समानता भी किसी धातु से नहीं मिल रही है, ऐसी स्थिति में अक्षर अथवा वर्ण तथा स्वर व्यंजन की समानता के आधार पर निर्वचन कर लेना चाहिये। परन्तु निर्वचन करना न भूलें। निर्वचन अवश्यमेव करना चाहिये। व्याकरण के नियमों की उपेक्षा करके भी निर्वचन कर लेना चाहिये, क्योंकि शब्दों के अर्थों में वृत्तियाँ सन्देह उत्पन्न कर देती हैं। अतः जहाँ जिस मन्त्र के पद में जो अर्थ उचित एवं संगत प्रतीत होता हो वहाँ उसी के अनुकूल विभक्तियों का परिवर्तन कर लेना चाहिये।

प्रस्तुत पंक्ति में अर्थ के कारण व्याकरण में भी शब्दों का परिवर्तन होता है अथवा, व्यंजन की समानता से कैसे निर्वचन करना चाहिये? यह स्पष्ट करते हुए कहा है—

मूल—प्रत्तमवत्तमिति धात्वादी एव शिष्येते।

अर्थ—प्र पूर्वक दा धातु से क्त होने पर 'प्रक्तम्' और अव उपसर्ग पूर्वक दा धातु से क्त प्रत्यय होने पर "अवत्तम्" बनता है। प्र+दा+क्त→त— प्र+दा+त इस स्थिति में "अच उपसर्गात्तः" सूत्र से दा की "आ" को "त"

हो जाता है और "झरोझरो सवर्णे" सूत्र से "त" का लोप होने पर 'खरिच" सूत्र से द को त हो जाता है। इस प्रकार प्रथमा एकवचन नपुं० लिं० में प्रत्तम् और अवत्तम् बनता है। इसी प्रकार √दो अवखण्डने धातु से क्त प्रत्यय होने पर "आदेच उपदेशेऽशिति" सूत्र से "ओ" को "आ" प्रदा+त इस दशा में "अच उपसर्गात्तः" से "आ" को "त" अर्थात् प्र द् द् त इस स्थिति में "झरो झरि सवर्णे" से द् का लोप और "खरिच्" से द् को त् होने पर प्र० एकवचन, नपुं० लिं० में प्रत्तम् तथा अवत्तम् बनता है। इन दोनों में "दो" धातु का आदि अक्षर द् शेष रहता है, जिसका "खरिच्" से "त्" हो गया है।

मूल—अथाप्यस्तेनिवृत्ति स्थानेष्वादिलोपो भवति स्तः सन्तीति।

अर्थ—इसी प्रकार गुणवृद्धि के निषेध स्थानों पर अस् धातु के आदि अक्षर "अ" का लोप होने पर "स्तः" बनता है अर्थात् "क्ङिति" सूत्र से गुण वृद्धि का निषेध होने पर "श्नसोरल्लोपः" सूत्र से "अ" का लोप होने पर "स्तः" बनता है।

मूल—अथाप्यन्त लोपो भवति—गत्वा, गतमिति।

अर्थ—इसी प्रकार कहीं २ पर धातु के अन्तिम अक्षर का लोप हो जाता है। जैसे गम्+क्त्वा→त्वा=गम्+त्वा इस स्थिति में "अनुदात्तोपदेश इत्यादि" सूत्र से म् का लोप होने पर गत्वा और गम्+क्त→त में म् का लोप होने पर गतम् बनता है।

मूल—अथाप्युपधा-लोपो भवति—जग्मतुर्जग्मुरिति।

अर्थ—इसी प्रकार कहीं कहीं पर "उपधा" का लोप होता है। (अन्तिम वर्ण से पहले आने वाले स्वर की उपधा संज्ञा होती है) जैसे जग्मतुः और जग्मुः। गम्+लिट् लकार से अतुस् और गम् धातु के द्वित्व आदि कर्म होकर जगम्+अतुस् की स्थिति में 'अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा" से ग के अ की उपधा संज्ञा होकर "गमहनजनखनेत्यादि" सूत्र से ग के "अ" का लोप होने पर जग्मतुः, प्र० पुरुष के बहुवचन में "जग्मुः" बनता है।

मूल—अथाप्युपधा-विकारो भवति—राजा, दण्डीति।

अर्थ—इसी प्रकार कहीं कहीं पर उपधा संज्ञक "अ" का लोप न होकर उसे दीर्घ हो जाता है। जैसे राजन्+सु यहाँ उपधा संज्ञक "ज" की "अ" का

लोप नहीं होता है। बल्कि 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ" सूत्र से दीर्घ हो जाता है, जिससे राजा बनता है। इसी प्रकार दण्डिन् + सु में "इ" उपधा का लोप न होकर दीर्घ होकर दण्डी बनता है।

मूल—अथापि वर्ण-लोपो भवति—तत्त्वा यामिति।

अर्थ—कहीं पर वर्ण का लोप हो जाता है। जैसे "तत् त्वा यामि" यहां "तं त्वां याचामि" में "च" का लोप होकर "यामि" शेष रहता है, परन्तु यह वर्ण लोप वेद में ही होता है, लोक में नहीं।

मूल—अथापि द्विवर्ण-लोपस्तृच इति।

अर्थ—कहीं पर तो दो वर्णों का एक साथ लोप हो जाता है। जैसे "तृचः", "तृचः" में तिस्रः "तृचः" यह विग्रह होती है। त्रि ऋच् इस दशा में "**ऋचि त्रेः सम्प्रसारणमुत्तरपदादिलोपश्च छन्दसि**" इस वार्तिक से त्रि को सम्प्रसारण होकर "तृ" और ऋच की "ऋ" का लोप हो जाता है। इस प्रकार यहाँ दो वर्णों के लोप का उदाहरण दिखाया गया है।

मूल—अथाप्यादि-विपर्ययो भवति—ज्योतिर्घनो बिन्दुर्बाट्य इति।

अर्थ—कहीं पर तो आदि वर्ण का विपर्यय हो जाता है। जैसे ज्योतिः, घनः, बिन्दुः, बाट्यः द्युत् धातु से औणादिक इस् प्रत्यय होने पर द् के स्थान पर ज् करने पर "ज्योतिः" बनता है। इसी प्रकार घनः में हन् धातु के ह के स्थान पर घ का विपर्यय होने पर घनः बनता है। भिदि से भ को ब विपर्यय होने पर बिन्दुः और बाट्य में भट् धातु की भ के स्थान पर ब होने पर बाट्य बनता है।

मूल—अथाप्याद्यन्त-विपर्ययो भवति—स्तोका रज्जुः सिकतास्तर्क्विति।

अर्थ—कहीं पर तो आदि और अन्त दोनों वर्णों का विपर्यय होता है। जैसे "श्चयुतिर् क्षरदै" धातु के आदि और अन्त के अक्षर का विपर्यय होने पर "स्तोकम्" बनता है। सृज् धातु से "रज्जु", कस् विकसने धातु से "सिकता" और "कृती छेदने" धातु से तर्कु बनता है।

मूल—अथाप्यन्त-व्यापत्तिर्भवति—ओघो मेघो नाघो गाघो वधर्मध्विति।

अर्थ— कहीं कहीं पर अन्तिम वर्ण का परिवर्तन हो जाता है। जैसे "ओघः" में √वह् धातु से घञ् प्रत्यय होने पर धातु के अन्तिम वर्ण 'ह्" को "घ्" हो जाता है। इसी प्रकार √मिह् धातु से "ह्" को "घ्" √णह् की "ह्" को "घ्" तथा √"गाह्" की "ह्" को "घ्" हो जाता है।

मूल—अथापि वर्णोपजनः। आस्थद्, द्वारो भरूजेति।

अर्थ—कहीं कहीं पर तो अन्य वर्ण का आगम भी हो जाता है। जैसे आस्थत् में √अस् + लुङ्त् लकार के प्रथम पुरुष एकवचन में "अस्यतेस्थुक्" सूत्र से थुक् आगम होता है। √वृङ् सम्भक्तौ धातु से घञ् प्रत्यय होने पर "धार" बनता है और द् का आगम होने पर "द्वार" हो जाता है। भरूजा में भ्रस्ज् = अङ्—अ इस स्थिति में भ् से आगे "अ" और र् से आगे "ऊ" का आगम हो जाता है तथा स्त्रीलिंग के अर्थ अजादि भरूज शब्द से टाप् (आ) प्रत्यय हो जाता है। इस प्रकार भरूजा बनता है।

इस प्रकार शब्द शास्त्र अर्थात् व्याकरण शास्त्र में कहीं पर स्वर का आदि लोप, कहीं अन्त लोप, कहीं दो वर्णों का लोप, कहीं वर्ण एवं शब्द विपर्यय होता है तो फिर अर्थ प्रधान निरुक्त शास्त्र में इनका विवेचन अत्यावश्यक हो जाता है। निरुक्त में यह (१) वर्णागम्, (२) आदि वर्ण का लोप, अन्त लोप, (३) वर्ण विपर्यय, (४) वर्ण विकार तथा (५) वर्णनाश आदि भेद से पाँच प्रकार का होता है।

मूल—तद् यत्र स्वरादनन्तरान्तस्थान्तर्धातु भवति तद् द्वि-प्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति।

अर्थ—जिस धातु के स्वर से व्यवधान रहित प्रारम्भ अथवा अन्त में य, व, र, ल वर्णों में कोई वर्ण धातु के अन्तर हो, तो वह दो स्वभाव वाले शब्दों का स्थान होता है, ऐसा विद्वानों ने कहा है अर्थात् जिस धातु के अव्यवहित स्वर से आगे या पीछे य, व, र, ल वर्णों से से कोई वर्ण आवे तो वह धातु दो प्रकार के स्वभाव वाली हो जाती है। (१) सम्प्रसारण जन्य रूप, (२) असम्प्रसारण जन्य रूप। उदाहरणार्थ–यज् + क्त → त = इष्टम्, यज् + क्त्वा → त्वा = इष्ट्वा (सम्प्रसारण जन्य रूप) यज् + तव्यत् → तव्य = यष्टव्यम् यज् + तुमुन् → तुम् =

यष्टुम् (असम्प्रसारण जन्य रूप) इस प्रकार सम्प्रसारण और असम्प्रसारण जन्य धातु के दो स्वभाव (रूप) हो जाते हैं।

मूल—तत्र सिद्धायामनुपपद्यमानायामितरयोपपिपादयिषेत्।

अर्थ—इस प्रकार की स्थिति में अर्थ की संगति न बनाने पर अन्य प्रकार से अर्थ की संगति करने का प्रयास करना चाहिये, अर्थात् अर्थ की संगति जिस प्रकार से बैठ सके उस प्रकार सम्प्रसारण अथवा असम्प्रसारण जन्य धातु के रूप का ग्रहण करके अर्थ की संगति बना लेनी चाहिये।

मूल—तत्राप्येकेऽल्प-निष्पत्तयो भवन्ति। यथैतद्—ऊतिः, मृदुः, पृथुः, पृषतः, कुणारुमिति।

अर्थ—परन्तु उन धातुओं को कुछ थोड़ी ही धातुएँ सम्प्रसारण के स्वभाव में प्रयुक्त होती हैं अर्थात् कुछ धातुओं से ही सम्प्रसारण होता है। जैसे ऊतिः √अव+क्तिन्→ति (अवति) "व" को "ज्वरत्वर स्रिव्यविमवं" इत्यादि सूत्र से ऊ ठ् होकर "ऊति" बनता है। √म्रद्+कु (उणादि प्रत्यय)→उ, म्र की र को सम्प्रसारण ऋ होकर मृदुः बनता है। इसी प्रकार प्रथ्+कु→उ, (सम्प्रसारण) पृथुः, √प्रष्+अतच्→अत (प्र की र सम्प्रसारण) ऋ होकर पृषतः बनता है। क्वण शब्दे धातु से वाहुलक अर्थ में √क्वण+कारू, प्रत्यय करने पर सम्प्रसारण होने पर "कुणारूः" बनता है।

मूल—अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते—दमूनाः, क्षेत्रसाधा इति।

अर्थ—इसी प्रकार लौकिक धातुओं से वैदिक कृदन्तीय शब्दों की रचना की जाती है जैसे दमूनाः, दम् उपशमे धातु से लौकिक व्याकरण में दाम्यति दमयति, दान्तः आदि शब्द बनते हैं। इसी प्रकार वैदिक भाषा में औणादिक "ऊनसी" प्रत्यय करने पर "दमूनाः" बनता है। क्षेत्रसाधाः=क्षेत्रं साधयतीति क्षेत्रसाधा क्षेत्र+साध्+असुन् (अस्) (औणादिक असुन्) प्रत्यय होने पर क्षेत्र-साधाः प्रयोग निष्पन्न होता है।

मूल—अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः—उष्णम्, घृतमिति।

अर्थ—जिस प्रकार लौकिक धातुओं से वैदिक शब्दों की निष्पत्ति की जाती है, उसी प्रकार वैदिक धातुओं से भी लौकिक शब्दों की निष्पत्ति होती है। जैसे

"उष्णम्" वैदिक दाहार्थक √उष्+नक् (औणादिक नक् प्रत्यय) होने पर उष्णम् बनता है। यह उष्णम् वैदिक शब्द होते हुए भी लौकिक तथा वैदिक भाषा में समान रूप से "उष्णम्" बनता है तथा वैदिक घृ धातु से घृतम् बनता है। अतः वैदिक और लौकिक धातुओं से वैदिक तथा लौकिक दोनों प्रकार के शब्द दोनों धातुओं से निष्पन्न होते हैं।

[अथ देश प्रसिद्धया शब्दारूढि निर्णयः]

मूल—अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते, विकृतय एकेषु।

शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यन्ते। कम्बोजाः कम्बल-भोजाः कमनीय-भोजा वा। कम्बलः कमनीयो भवति। विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु. दात्रमुदीच्येषु।

अर्थ—किन्हीं देशों में प्रकृति अर्थात् धातु का ही बोलने आदि में व्यवहार किया जाता है और किन्हीं देशों में विकार अर्थात् धातु जन्य (यौगिक) शब्दों का ही व्यवहार किया जाता है। जैसे गमनार्थक 'शव' धातु कम्बोज देश में ही व्यवहृत किया जाता है। जैसे कम्बोज शब्द की निष्पत्ति **कम्बलभोजाः कम्बलान् उपभुंजते**, अर्थात् कम्बोज देश निवासी कम्बल का अधिक व्यवहार करते हैं, क्योंकि वहाँ शीत अधिक पड़ता है। इसीलिये वहाँ के निवासियों को कम्बोज कहा जाता है अथवा कमनीय आकर्षक एवं सुन्दर अर्थात् प्रार्थनीय रत्न आदि का अधिक प्रयोग करते हैं। वहाँ रत्नों की अधिकता प्राप्त होती है। कम्बल को कम्बल क्यों कहते हैं? इसका उत्तर यह है, शीत प्रधान देशों में कम्बल अधिक प्रार्थनीय अर्थात् अभीष्ट होता है, क्योंकि वह शीत से रक्षा करता है। आर्यावर्त्त देश में (भारतवर्ष में) गत्यर्थक शव धातु के विकार अर्थात् संज्ञा अर्थ में शव शब्द का व्यवहार करते हैं, अर्थात् गमनार्थक शव धातु के विकार को भारत में मृतक शरीर के लिये व्यवहार किया जाता है। पूर्व में रहने वालों में काटने के अर्थ में 'दातिः' शब्द का प्रयोग होता है। उत्तर भाग में रहने वालों में दाप् लवने धातु से निष्पन्न शब्द 'दात्र' का संज्ञा अर्थ में व्यवहार किया जाता है।

मूल—एवमेक-पदानि निब्रूयात्।

अर्थ—इसी प्रकार अकेले अनेक पदों का निर्वचन कर लेना चाहिये।

मूल—अथ तद्धित-समासेष्वेक-पर्वसु चानेक-पर्वसु च पूर्वं पूर्वमपरम-परं प्रविभज्य निर्ब्रूयात्।

'दण्ड्यः पुरुषः' दण्डमर्हतीति वा दण्डेन सम्पद्यत इति वा। दण्डो ददतेर्धारयतिकर्मणः। 'अक्रूरो ददते मणिम्' इत्यभिभाषन्ते। दमनादित्योपमन्यवः। दण्डमस्याकर्षतेति गर्हायाम्।

अर्थ—तद्धित तथा समास प्रकरण में एक पद वाले अनेक पद वाले शब्दों में प्रथम-प्रथम पद को, बाद में आने वाले पद को एक दूसरे से पृथक् करके निर्वचन करना चाहिये। जैसे दण्ड्यः पुरुषः यहाँ तद्धितीय दण्ड्य शब्द की व्युत्पत्ति का निर्वचन किया जाता है। **दण्डमर्हति इति दण्ड्यः**—जो दण्ड प्राप्त करने योग्य हो अथवा **दण्डेन** सम्पद्यते वा, अर्थात् जो दण्ड से युक्त किया जाय उसे दण्ड्य कहते हैं। इस प्रकार प्रथम दण्ड्य शब्द में तद्धितीय यत् प्रत्यय का निर्वचन किया है। अब दण्ड शब्द किस धातु से बना है, इसका निर्वचन कहते हैं। धारण करने के अर्थ में दद् धातु से दण्ड शब्द बनता है। दण्ड ही समस्त प्रजा को धारण करता है तथा दण्ड के द्वारा ही सम्पूर्ण संसार की मर्यादा स्थिर की जाती है।

दद् धातु का धारण करना भी अर्थ होता है। इसका प्रमाण प्रस्तुत करते हुए "अक्रूरो मणिं ददते" उदाहरण दिया है, जिसका अर्थ यह है कि—वृष्णि तथा अन्धक जातियों का राजा अक्रूर स्यमन्तक नामक मणि को धारण करता है। यह कथन ही दद् धातु के धारण करने अर्थ का प्रबल प्रमाण है। परन्तु उपमन्यु के पुत्र ही दण्ड शब्द की व्युत्पत्ति दम् धातु से मानते हैं, क्योंकि दमन करने के कारण ही दण्ड शब्द व्यवहार किया जाता है। इसके प्रमाण में कहा है कि गर्हा अर्थात् निन्दित काम करने वाले दमन के योग्य पुरुष को उद्देश्य करके कहा गया है कि इसे दण्ड दिया जाय।

मूल—'कक्ष्या रज्जुरश्वस्य'।

कक्षं सेवते। कक्षो गाहतेः क्स इति नामकरणः। ख्यातेर्वानर्थकोऽभ्यासः। किमस्मिन् ख्यानमिति कषतेर्वा। तत्सामान्यान्मनुष्य-कक्षो बाहुमूल-सामान्यादश्वस्य।

अर्थ—अश्व की रस्सी, जिसको तंग कहते हैं उसे कक्ष्या भी कहते हैं परन्तु अश्व की रस्सी को कक्ष्या क्यों कहते हैं ? कक्ष शब्द का अर्थ बगल के पार्श्ववर्ती रस्सी को कहते हैं परन्तु कक्ष क्यों कहा जाता है ? इसके समाधानार्थ कहा है कि विलोडनार्थक "गाह्" धातु से "क्स" प्रत्यय होने पर "कक्ष" शब्द बनता है। अर्थात् √गाह् + क्स, प्रत्यय होने पर आदि और अन्त (क्, स) वर्णों के विपर्यय करके "कक्ष" बनता है। अथवा प्रकथनार्थक "ख्या" धातु से हो यों ही स्वार्थ में द्विरावृत्ति की गई है अर्थात् "ख्या" धातु को द्वित्व आदि करके "कख्य" बनता है फिर कख्य ही कहा जाने लगा। अथवा इस बगल में कौन ऐसी वस्तु है जो वर्णनीय अर्थात् दर्शनीय है। अतः ख्या धातु से निष्पन्न कख्य को कक्ष्य कहने लगे। अथवा कष् धातु से "कक्ष" शब्द बनता है जिसका अर्थ खुजलाना है। बगल में स्वभावतः पसीने के निकलने से खुजली उत्पन्न होती है, खुजली की शान्ति के लिए बार-बार खुजलाना पड़ता है। उस स्त्री की बगल के समान पुरुष की भी बगल होती है। इसलिए पुरुष के बाहुमूल के अधोभाग को कक्ष (बगल) कहते हैं। बाहुमूल की समानता के आधार से घोड़े के भी बाहुमूल स्थान को "कक्ष" कहा जाने लगा। घोड़े की बाहु का मूल भाग घोड़े के आगे के दोनों पैरों के मूलस्थान को ही कहा जाता है।

मूल—राज्ञः पुरुषो राज पुरुषः। राजा राजतेः। पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा। पूरयत्यन्तरित्यन्तर पुरुषमभिप्रेत्य।

"यस्मात्परं नामरमस्ति किंचिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽति किञ्चित्। वृक्ष इव स्त स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्ते नेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥" इत्यपि निगमो भवति।

अर्थ—राजा का पुरुष, राजपुरुष शब्द से व्यवहृत होता है। √ राजृदीप्तौ धातु से राजा शब्द की सिद्धि होती है। पुरुष को पुरुष क्यों कहते हैं ? इस प्रश्न के समाधान में कहा है कि वह शरीर अथवा बुद्धि में विषयों को भोगने के लिए रहता है इसीलिए पुरिषादः कहा जाता हुआ पुरुष कहा जाने लगा। पुरिशयः = पुरि = बुद्धि अथवा शरीर में सोता है अर्थात् विशेष प्रकार से रहता है। इसीलिए पुरिशय होता हुआ पुरुष कहा जाने लगा। वह पुरुष अन्दर से सम्पूर्ण संसार को पूर्ण कर रहा है अर्थात् अन्तर्यामी होने के कारण सर्वत्र

व्याप्त रहता है। यहाँ "अन्तरपुरुषम्" शब्द से परमात्मा की ओर संकेत किया गया है। मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार देखिए—

जिस परमात्मा से आदि या अन्त में कुछ भी नहीं है अर्थात् संसार के प्रारम्भ और प्रलय का एकमात्र कारण वही परमात्मा शेष रहता है। शेष सब कुछ नाशवान् है। जिस परमात्मा से न तो कोई वस्तु सूक्ष्म है और न ही स्थूल है अर्थात् परमात्मा ही सूक्ष्मतर और स्थूलतर है। जो परमात्मा शान्त निश्चल, एकाकी प्रकाशमान अपने आत्मा में ही हमेशा निवास करता है, उसी अन्तर्यामी परमात्मा (पुरुष) से यह संसार व्याप्त रहता है तथा वह परमात्मा ही समस्त भुवनों में व्याप्त है।

मूल—'विश्चकद्राकर्षः' वीति चकद्र इति श्व-गतो भाष्यते। द्रातीति गतिकुत्सना। कद्रातीति द्राति-कुत्सना। चकद्राति कद्रातीता सतोऽनर्थकोऽभ्यासः। तदस्मिन्नस्तीति विश्चकद्रः।

अर्थ—समास का एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। "चकद्र" का व्यवहार कुत्ते की गति के अर्थ में प्रयुक्त होता है। परन्तु यहाँ "चकद्र" शब्द का प्रयोग कुत्तों के साथ गमन करने वाले व्यक्ति के लिए किया गया है। "द्राति" इस क्रिया का प्रयोग निन्दनीय गति के लिए किया जाता है। चकद्राति यह कद्राति का ही स्वार्थिक द्वित्व है। अतः "चकद्र" शब्द का अर्थ निन्दित गति है। इस "निश्चकद्राकर्षः" का अर्थ यह हुआ कि उस नीच पुरुष को खींच लाओ, अर्थात् कुत्ते के समान निन्दित जीवन व्यतीत करने वाले अपराधी पुरुष को खींच लाओ। इस प्रकार विश्चकद्राकर्ष का अर्थ कथन किया गया है—

मूल—कल्याण-वर्ण-रूपः कल्याण-वर्णस्येवास्य रूपम्। कल्याणं कमनीय भवति। वर्णो वृणोतेः। रूपं रोचतेः एवं तद्धित-समासान्निर्ब्रूयात्।

नैक-पदानि निर्ब्रूयात्।

अर्थ—समास का तीसरा उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है कि "कल्याणवर्णरूपः"—कल्याणवर्णस्य इव अस्य रूपम्—अर्थात् सोने के समान सुन्दर

इसका रूप (रंग) है इसलिये इसको कल्याण रूप कहते हैं।

सोने को कल्याण क्यों कहा जाता है? कल्याण अर्थात् आकर्षक होने के कारण सबके द्वारा सोना प्रार्थनीय होता है। इसलिये सोने को कल्याण कहा जाता है। वृञ् धातु से वर्ण शब्द की निष्पत्ति हुई है, वर्ण अपने पार्श्ववर्ती आश्रित को आच्छादित कर लेता है। रुच् धातु से रूप शब्द की निष्पत्ति होती है। रूप सबको रुचिकर प्रतीत होता है। अतः रूप सबको प्रिय लगता है। इसी प्रकार तद्धितीय और समस्त पदों का निर्वचन करना चाहिए।

प्रसंग रहित एवं उपपद रहित एकाकी पदों का निर्वचन नहीं करना चाहिए। जैसे 'जहा' यहाँ एकाकी एवम् उपपद रहित शब्द है। अतः प्रसंग एवम् उपपद शब्द के बिना यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि "जहा" शब्द की सिद्धि ओहाक् त्यागे धातु से, अथवा हन् हिंसागत्योः धातु से हुई है। अतः एकाकी एवम् उपपद रहित पदों का निर्वचन नहीं करना चाहिए।

(अथ वर्ज्यशिष्य-निरूपणम्)

मूल—नावैयाकरणाय, नानुपसन्नाय, अनिदंविदे वा।

अर्थ—जो व्याकरण शास्त्र को नहीं जानता है, उसे निरुक्त नहीं पढ़ना चाहिए। और जो भलीभाँति शिष्यत्व भाव को ग्रहण करके पास न आये, उसे भी निरुक्त शास्त्र नहीं पढ़ाना चाहिए तथा जो अयोग्यतावश निरुक्त को समझने में असमर्थ हो, उसे भी निरुक्त न पढ़ना चाहिए।

मूल—नित्यं ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूया।

अर्थ—जो मूर्ख सदा निरुक्तशास्त्र के उपदेष्टा एवं ज्ञाता आचार्य के असूया अर्थात् दोष निकालने की प्रवृत्ति वाला होवे। अतः निरुक्तशास्त्र को समझने में असमर्थ मूर्खबुद्धि वाले को निरुक्तशास्त्र नहीं पढ़ाना चाहिए।

मूल—उपसन्नाय तु निर्ब्रूयाद्यो वाऽलं विज्ञातुं स्यान्मेधाविने तपस्विने वा।

अर्थ—जो विनीत भाव से अर्थात् भली भाँति शिष्यत्व की भावना से श्रद्धापूर्ण शिष्य, आचार्य के समीप आवे उसे निरुक्तशास्त्र पढ़ाना चाहिए तथा जो निरुक्त शास्त्र की जिज्ञासा रखता हो, बुद्धिमान् तथा तपस्या करने वाला

हो अर्थात् सब प्रकार से विनीत, योग्य, श्रद्धालु और आस्तिक बुद्धिमान् योग्य शिष्य हो, उसे निरुक्तशास्त्र पढ़ाना चाहिए।

मूल—विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥

अर्थ—प्राचीनकाल की बात है कि स्वेच्छा से रूप धारण करने वाली विद्या ब्राह्मण के समीप उपस्थित हुई और बोली कि मेरी रक्षा करो। मैं तुम्हारी निधि (भण्डार) हूँ—हे ब्राह्मण ! तुम दोषान्वेषी एवं पर-निन्दा करने वाले कपटी स्वच्छन्द आचरण करने वाले असंयमी शिष्य को मुझे मत पढ़ाना, ऐसा करने पर बलवती होकर मैं (विद्या) तुम्हारे लिए वीर्यशालिनी होऊँगी।

मूल—य आतृणत्त्यवितथेन कर्णाविदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह॥

अर्थ—जो आचार्य अथवा उपदेष्टा गुरु वेद के यथार्थ ज्ञान के द्वारा किसी को किञ्चित् भी कष्ट न देता हुआ, (शिष्य के) दोनों कानों को तृप्त अर्थात् खोल देता है। ज्ञान अज्ञान का भेद स्पष्ट कर देता है। उस गुरु आचार्य को माता-पिता समझना चाहिए। उस विद्वान् गुरु से कभी भी द्रोह बुद्धि नहीं रखनी चाहिए अर्थात् कभी भी द्रोह (वैर-भाव) नहीं करना चाहिए।

मूल—अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्॥

अर्थ—जो गुरु के द्वारा पढ़ाये हुए शिष्य मन से, कर्म से, और वाणी से गुरु का सम्मान नहीं करते हैं और जो शिष्य गुरुओं की सेवा से बचते हैं अर्थात् जिस प्रकार गुरु के द्वारा अध्यापित शिष्य गुरु के काम में नहीं आते, उसी प्रकार गुरु के द्वारा पढ़ाई हुई विद्या भी उन (वञ्चक) शिष्यों के काम नहीं आती अर्थात् विद्या निष्फल हो जाती है।

मूल—यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्च नाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्! इति॥

मूल—निधिः शेवधिरिति ।

अर्थ—हे ब्राह्मण देव ! जिसको तुम पवित्र, यम नियम का पालन करने में तत्पर, प्रमाद (आलस्य) रहित, तीव्र-बुद्धि एवं ब्रह्मचर्य से युक्त समझो और जो शिष्य कभी भी किसी दशा में तुमसे द्रोह (वैर-भाव) न करे, जो योग्य, विनीत आस्तिक विद्या के ज्ञानराशि की रक्षा करने वाला हो, उसे मुझको (विद्या को) पढ़ाओ । शेवधि=निधि अर्थात् भण्डार (कोश) को कहते हैं अर्थात् योग्य शिष्य को पढ़ाई हुई विद्या सुख का भण्डार होती है ।

(इति द्वितीयाध्याये प्रथमः पादः)

———

अथ नैघण्टुक-काण्डम्

द्वितीय अध्याय

द्वितीयः पादः

मूल—अथातोऽनुक्रमिष्यामः ।

अर्थ—यहाँ पठित अथ शब्द अधिकारार्थ बोधक के रूप में प्रयोग किया गया है । सामान्य रूप से समाम्नाय की व्याख्या की जा चुकी है । इसलिये अब यहाँ से क्रमशः निघण्टु की व्याख्या करेंगे ।

मूल—गौरिति पृथिव्या नामधेयम् । यद् दूरङ्गता भवति । यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति । गातेर्वौकारो नामकरणः ।

अर्थ—गोः यह शब्द पृथिवी का नाम है क्योंकि यह पृथिवी बहुत दूर तक गई है अर्थात् बहुत दूर तक फैली हुई है । जिससे इस पृथिवी पर समस्त प्राणि वर्ग गमन करते हैं अर्थात् समस्त जीवों का यह पृथिवी आधार है । इन दोनों अर्थों में √गम् धातु से 'डो' प्रत्यय करने पर गौ शब्द निष्पन्न होता है अथवा गाङ् धातु से नामकरण अर्थ में 'ओ' प्रत्यय करने पर 'गो' बनता है। इस प्रकार गम्+डो अथवा गा+ओ होकर 'गो' शब्द निष्पन्न होता है ।

मूल—अथापि पशु नामेह भवत्येतस्मादेव ।

अर्थ—वह गो शब्द कर्त्ता और अधिकरण में इन्हीं दोनों गम् तथा गाङ् गतौ धातु से निष्पन्न गो शब्द पशु का वाचक होता है ।

मूल—अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति—"गोभिः श्रीणीत मत्सरम्" (ऋ० सं० ९।४६।४) इति पयसः । मत्सरः सोमो मन्दतेस्तृप्तिकर्मणः । मत्सर इति लोभ-नाम । अभिमत्त एनेन धनं भवति । पयः पिबतेर्वा प्यायतेर्वा । क्षीरं क्षरतेः । घसेर्वेरो नामकरण उशीरमिति यथा।

अर्थ—इस प्रस्तुत गो शब्द से तद्धितीय प्रत्यय करके समस्त गो शब्द के समान वैदिक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। तात्पर्य यह है कि जो अर्थ 'गो' शब्द से निकलता है, वही अर्थ तद्धितीय प्रत्यय करने पर भी निकलता है। उदाहरणार्थ—गो शब्द से गाय का ग्रहण होता ही है और साथ ही 'गो' शब्द से गाय के दूध, दही, मक्खन आदि का भी ग्रहण किया जाता है। जैसे गोभिः मत्सरं श्रीणीत = गाय के दूध से सोमरस पकाओ। यहाँ गो शब्द गाय के दूध का बोधक और मत्सर सोमरस का वाचक है।

तृप्त्यर्थक मदि धातु से मत्सर की सिद्धि की जाती है। मत्सर शब्द लोभ का वाचक है। क्योंकि इस लोभ के वशीभूत मनुष्य धन के लिये पागल हो जाता है। पयः शब्द पा पाने अथवा प्यायी वृद्धौ से बनता है। यहाँ पयः शब्द का अर्थ दूध ग्रहण किया जाता है। क्षीर शब्द भी दूध का वाचक है। क्षीर शब्द की सिद्धि श्च्योतनार्थक क्षर् धातु से 'ईर्' प्रत्यय करने पर होती है। क्योंकि क्षीर (दूध) स्तनों से टपकता है अथवा नामकरण के अर्थ में घस् धातु से ईर् प्रत्यय करने पर क्षीर शब्द निष्पन्न होता है। जिस प्रकार उशीर शब्द की सिद्धि की जाती है। वश कान्तौ धातु से ईरक प्रत्यय करके 'व' को सम्प्रसारण 'उ' करने पर उशीर शब्द बनता है।

मूल—"अंशु दुहन्तो अध्यासते गवि" (ऋ० १०।९४।९) इत्यधिषवणचर्मणः। अंशुःशमष्टमात्रो भवति। अननाय शम्भवतीति वा। चर्म चरतेर्वा, उच्चृत्तं भवतीति वा।

अर्थ—गाय के चर्म से बने हुए एक विशेष प्रकार के पात्र में सोमरस दुहते हुए अथवा निचोड़ते हुए बैठे हैं। यहाँ 'गो' शब्द सोमरस को रखे जाने वाले गो चर्म निर्मित पात्र विशेष के लिये प्रयुक्त किया गया है।

यज्ञ में यजमान के द्वारा पिया हुआ सोमरस सुख प्रदान करता है अथवा जीवन के लिये कल्याण करने वाला होता है। गत्यर्थक चर् धातु से चर्म बनता है क्योंकि चर्म समस्त शरीर में व्याप्त अर्थात् फैला हुआ रहता है अथवा चर्म काटकर खींचा (उचेड़ा) जाता है। अतः हिंसार्थक चृती धातु से चर्म शब्द की सिद्धि की जाती है।

मूल—अथापि चर्म च श्लेष्मा च। 'गोभिः सन्नद्धो असि वीलयस्व' (ऋ० सं० ६।४७।२६) इति रथ-स्तुतौ।

अर्थ—गो शब्द से गाय का चर्म और श्लेष्मा का भी अर्थ बोध होता है। उदाहरणार्थ—रथ ? गोभिः सन्नद्धः असि=हे रथ तू गाय के चर्म और श्लेष्मा से दृढ़ता से बंधा हुआ है, अतः वीरता दिखाओ, यह रथ की प्रशंसा के विषय में कहा गया है।

मूल—अथापि स्नाव च श्लेष्मा च—

"गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता" (ऋ० सं० ६।७५।११) इतीषु-स्तुतौ।

अर्थ—गो शब्द स्नाव=शिरा अथवा तांत का भी बोधक है। गो शब्द से श्लेष्मा का अर्थ निकलता है। इसका आशय यह है कि गो से बनने वाली तांत तथा श्लेष्मा को भी गो शब्द से व्यवहार किया जाता है। उदाहरणार्थ— "गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता" ताँत और सरेस से मजबूती बंधा हुआ बाण शत्रु के ऊपर गिरता है, यह बाण की प्रशंसा के विषय में कहा गया है।

मूल—ज्यापि गौरुच्यते। गव्या चेत्ताद्धितम्। अथ चेन्न गव्या गमयतीषूनिति।

अर्थ—धनुष की डोरी को भी "गो" कहते हैं अर्थात् गो का अर्थ धनुष की डोरी भी ग्रहण किया जाता है। यदि धनुष की डोरी के लिये 'गव्या' शब्द का प्रयोग किया गया हो तो यहाँ 'गव्या' शब्द तद्धितीय प्रत्यय से बनाया गया है। यहाँ गव्या का अर्थ यह होगा कि गाय की ताँत से बनी हुई डोरी। यदि गाय की ताँत से न बनी हो तो जो बाणों को चलाती है उसे 'गो' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। ऐसा अर्थ ग्रहण करने पर ण्यन्त गम् धातु से डो प्रत्यय करके गौ शब्द निष्पन्न हो जाता है। धनुष की डोरी के लिये भी गौ शब्द का प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित मन्त्र द्रष्टव्य है।

मूल—'वृक्षे वृक्षे नियतामीमयद् गौस्ततो वयः प्रपतान् पुरुषादः।' (ऋ० सं० १०।२७।२२) वृक्षे वृक्षे धनुषि धनुषि। वृक्षो व्रश्चनात्।

वृत्वा क्षां तिष्ठतीतिः वा। क्षा क्षियतेर्निवासकर्मणः। नियतामीमयद् गौः शब्द करोति। मीमयतिः शब्द-कर्मा। ततो वयः प्रपतन्ति पुरुषानदनाय। विरिति शकुनि-नाम, वेतेर्गतिकर्मणः अथापीषु-नामेह भवत्येतस्मादेव।

अर्थ—धनुष पर चढ़ी हुई डोरी शब्द करती है और फिर पुरुषों को मारने वाले बाणों को गिराती है अर्थात् प्रथम धनुष से टंकार होती है और फिर हिंसक बाण निकलते हैं। वृक्ष की लकड़ी से धनुष का निर्माण किया जाता है। अतः वृक्ष शब्द से धनुष का अर्थ ग्रहण किया जाता है। वृक्ष शब्द का निर्वचन इस प्रकार है। छेदन की क्रिया (काटने की क्रिया) से युक्त होने के कारण वृक्ष कहा जाता है। क्योंकि जलाने के लिये लकड़ी काटी जाती है अथवा यह वृक्ष पृथिवी को आवृत (घेर) करके स्थित रहता है। इसलिये इसे वृक्ष शब्द से अभिहित किया जाता है और पृथिवी को निवास बनाकर ठहरता है। निवासार्थ क्षि धातु से क्षा शब्द निष्पन्न होता है जिसका आशय यह है कि सभी (जड़ चेतन) पृथिवी पर निवास करते हैं। बंधी हुई अथवा चढ़ी हुई धनुष की डोरी शब्द (टंकार) करती है। मीमयति क्रिया का अर्थ है—शब्द करता है तब धनुष की डोरी से बाण गिरते हैं। पुरुषों को मारने के लिये "विः" यह शब्द पक्षी वाचक है। क्योंकि "वि" शब्द गत्यर्थ वी धातु से बनता है। परन्तु यहाँ (इस मन्त्र में) प्रयुक्त "विः" शब्द बाण का वाचक है। इसका कारण है कि बाण में पक्षियों के पंख लगे रहते हैं। पक्षी के समान बाण तेज गति वाला होता है। इसलिये बाण के लिये "विः" शब्द का प्रयोग किया गया है।

मूल—आदित्योऽपि गौरुच्यते—'उतादः परुषे गवि।' (ऋ० सं० ६।५६।३) पर्ववति भास्वतीत्यौपमन्यवः।

अर्थ—सूर्य भी गौ शब्द का वाचक है, अर्थात् गो शब्द का सूर्य के अर्थ से भी प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ—"उत अदः परुषे गवि" और इस पर्वयुक्त अर्थात् दिन-रात रूप पर्व से युक्त सूर्य में। इस प्रस्तुत मन्त्रांश में "गो" शब्द का प्रयोग सूर्य के अर्थ में किया गया है। उपमन्यु के शिष्य अथवा उपमन्यु के मत को मानने वाले पुरुष शब्द का अर्थ पर्व वाला अथवा प्रकाशयुक्त मानते हैं।

मूल—अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रतिदीप्यते तदेतेनोपेक्षितव्यम्–आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवतीति। 'सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः' (य० १८।४०) इत्यपि निगमो भवति।

अर्थ—इस सूर्य की किरणें चन्द्रमा में जाकर चमकती हैं, अर्थात् सूर्य की किरणें भी चन्द्रमा को प्रकाशित करती हैं। अतः सूर्य की किरणें भी चन्द्रमा को ज्योति प्रदान करती हैं। इस अर्थ को (वेद के अर्थ को) जानने वालों को अवश्य समझ लेना चाहिये। इस चन्द्रमा की कान्ति सूर्य की कान्ति से होती है, अर्थात् सूर्य से चन्द्रमा को प्रकाश प्राप्त होता है। प्रमाणार्थ यह मन्त्रांश दर्शनीय है। सुषुम्णा नामक एक सूर्य की किरण होती है। सूर्य की उस सुषुम्णा नामक किरण को चन्द्रमा धारण करता है। इस सुषुम्णा नामक सूर्य की किरण को "गो" शब्द से व्यवहृत किया गया है।

मूल—सोऽपि गौरुच्यते—'अत्राह गोरमन्वत' इति। तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः।

अर्थ—सूर्य की यह सुषुम्णा नामक केवल एक किरण भी "गो" शब्द से व्यवहृत की जाती है। इसका प्रमाण यह प्रस्तुत मन्त्रांश ही है। इस मन्त्र की व्याख्या आगे करेंगे।

मूल—सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते।

अर्थ—सूर्य की समस्त किरणें "गो" शब्द से व्यवहृत होती है। उदाहरणार्थ निम्नस्थ मन्त्र दर्शनीय है।

मूल—"ता वां वास्तुन्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि॥
(ऋ० १।१५४।६)

तानि वां वास्तूनि कामयामहे गमनाय यत्र गावो बहु-श्रृङ्गाः। भूरीति बहुनो नामधेयं प्रभवतीति सतः। श्रृङ्गं श्रयतेर्वा श्रृणातेर्वा शम्नातेर्वा शरणायोद्‌गतमिति वा शिरसो निर्गतमिति वा। अयासोऽयनाः। तत्र तदुरुगायस्य विष्णोर्महागते परमं पदं पराद्धर्यस्थमवभाति भूरि। पादः पद्यतेः। तन्निधानात्पदम्। पशु-पादः प्रकृतिः प्रभागपादः। प्रभाग-पाद-सामान्यादितराणि पदानि।

अर्थ—दम्पति को लक्ष्य करके यह मन्त्र कहा गया है कि तुम दोनों दम्पतियों के लिए उन भवनों को गमन के लिए हम इच्छा करते हैं अर्थात् तुम दोनों उन भवनों को गमन करो जिन भवनों में प्रचुर प्रकाशयुक्त सूर्य की किरणें संचरण करती हैं अर्थात् जिन भवनों में पर्याप्त सूर्य की किरणों का प्रकाश फैला रहता है। वहाँ उन भवनों में तीव्र गति वाले सूर्य का अत्यन्त श्रेष्ठ स्थान सुशोभित होता है। वहाँ तुम दोनों (दम्पति) गमन करो, यह हम चाहते हैं।

यहाँ इस मन्त्र में पठित भूरि शब्द बहुत का बोधक है, क्योंकि भूरि शब्द बहुत की वाचकता की शक्ति से युक्त हैं। श्रृंग शब्द सेवार्थक √श्रिञ् धातु से बनता है क्योंकि सींग का आश्रय स्थान शिर होता है अथवा सींगों से पशु को मारने में समर्थ होता है। अत: श्रृंग शब्द श्रृ हिंसायाम धातु से बनता है अथवा शमनार्थक शम् धातु से श्रृंग शब्द बनता है क्योंकि सींगों से अन्य पशुओं को मारकर शान्त करता है अथवा अपनी रक्षा करने के लिए सींग ऊपर को उठे रहते हैं। अत: उनको सींग (श्रृंग) कहते हैं अथवा सींग शिर से निकलते हैं। इसलिए श्रृंग कहते हैं।

अयास: तथा अयना: शब्द का अर्थ गमन करना है। पाद शब्द पद् गतौ धातु से बनता है। जिसमें गमन क्रिया की जाती है उसे "पाद" कहते हैं। पैर के रखने के स्थान को पद कहते हैं। पशुओं के पैर स्वभाव वाले होते हैं। दीनार (अशरफी) मुद्रा आदि के ($\frac{1}{4}$) भाग को पाद कहते है। दीनार मुद्रा की समानता के आधार पर अन्य श्लोक आदि के एक भाग को भी पाद कहते हैं।

मूल—एवमन्येषामपि सत्त्वानां सन्देहा विद्यन्ते। तानि चेत् समान-कर्माणि-समान-निर्वचनानि, नाना-कर्माणि चेन्नाना-निर्वचनानि यथार्थं निर्वक्तव्यानीति।

अर्थ—इसी प्रकार अन्य समान वस्तुओं के नामों में भी सन्देह उत्पन्न होता है। यदि किसी वस्तु में समान कर्म दृष्टिगोचर हो तो जहाँ जैसा अर्थ अवलोकन करें तो वहाँ अर्थ के अनुसार निर्वचन कर लेना चाहिये। यदि वस्तु में अनेक कर्मों की समानता दिखाई पड़ रही हो तो अनेक निर्वचन कर लेना चाहिये अर्थात् अर्थ की अनेकता में अनेक निर्वचन कर लेना चाहिये।

मूल—इमान्येकविंशतिः पृथिवी-नामधेयान्युत्क्रान्तानि । तत्र निर्ऋतिः निरमणादृच्छतेः कृच्छ्रापत्तिरितरा । सा पृथिव्या सन्दिह्यते । तयोः विभागः ।

अर्थ—ये पृथिवी के इक्कीस नामों को क्रमशः पढ़ा गया है । उन इक्कीस नामों से पठित "निर्ऋति" शब्द का निर्वचन इस प्रकार है । निर्ऋति का अर्थ है कि जिस पर (पृथिवी पर) रहते हुए जीव रमण करते हैं अर्थात् सुख भोगते हैं । उस पृथिवी को निर्ऋति कहते हैं । इसके अतिरिक्त "निर्ऋति" शब्द का जो एक अन्य अर्थ निकलता है वह "निर्ऋति" शब्द का अर्थ "कष्ट" होता है । ऋच्छ धातु से "ऋच्छ" बनता है । ऋच्छ शब्द का पृथिवी के पर्यायवाची शब्द होने में सन्देह हो जाता है । इन दोनों का विभाग अलग-अलग जान लेना चाहिए ।

मूल—तस्या एषा भवति—

अर्थ—उस पृथिवीवाचक और कष्टवाचक निर्ऋति शब्द की यह ऋचा देखिए ।

मूल—'य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् ।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश ॥'
(ऋ० १।१६४।३२)

बहु-प्रजाः कृच्छ्रमापद्यत इति परिव्राजकाः । वर्ष-कर्मेति नैरुक्ताः य ईं चकारेति करोति किरती सन्दिग्धौ वर्ष-कर्मणा । 'न सो अस्य वेद' मध्यमः स एवास्यं वेद मध्यमो यो ददर्शादित्योपहितम् । 'स मातुर्योना' मातान्तरिक्षम् । निर्मीयन्तेऽस्मिन् भूतानि । योनिरन्तरिक्षं महानयवः परिवीतो वायुना । अयमपीतरो योनिरेतस्मादेव, परियुतो भवति । बहुप्रजा भूमिमापद्यते वर्षकर्मणा ।

अर्थ—जो गर्भ को करता है, जो वीर्य का निषेक (स्थापना) करता है। वह गर्भ के रहस्य को नहीं जानता है । जो ईम् शब्द है वह एक पद पूरक ही है । इस गर्भ को देखता है । जो गर्भ के अन्दर स्थित प्राणी इसका अनुभव करता है, उससे भी ढका हुआ ही रहता है । गर्भ के रहस्य को वह भी अध्यात्म

भावना की दृष्टि से नहीं जानता है। वह जानता हुआ ही माता की योनि में जरायु से आवृत अपने समय पर जन्म ग्रहण करता है। अनेक सन्तान वाला अथवा अनेक बार जन्म ग्रहण करने वाला होने के कारण वह प्राणी दुःख को प्राप्त होता है। अनेक बार जन्म धारण करने वाला अथवा अनेक सन्तान वाला होने के कारण पुरुष कष्ट को भोगता है, ऐसा परिव्राजकों का मत है। निरुक्तकारों का मत है कि यह "कृच्छ्र" शब्द वर्षा के अर्थ का बोधक है। निरुक्तकार के मत में वर्षा को लेकर इस प्रकार अर्थ होगा। जो वर्षा करता है अथवा फेंकता है वह मेघ इस वर्षा के रहस्य को नहीं जानता है। यह मेघ यही नहीं जानता है कि जो यह जल मैं बरसा रहा हूँ वह जल मुझमें कहाँ से आया है? जो इन्द्र इस वर्षा का दृष्टा है उस इन्द्र का यह रहस्य ढका हुआ रहता है अर्थात् केवल वह इन्द्र ही वर्षा के महत्त्व को जानता है। अन्तरिक्ष के विशेष स्थान के अन्दर हवा से युक्त अनेक जल की धाराओं को उत्पन्न करने वाला अर्थात् जल बरसाने वाला मेघ पृथिवी में प्रविष्ट हो जाता है अर्थात् वर्षा के समय मेघ नीचे पृथिवी की ओर लटक आता है यहाँ "चकार" क्रिया वर्षा कर्म में सम्बन्ध रखती है। कृ निक्षेपे तथा डुकृञ् करणे इन दोनों धातुओं से चकार क्रिया की सिद्धि होती है। इस चकार क्रिया का वर्षा कर्म से सम्बन्ध है। है। वह साध्य स्थान में रहने वाला मेघ इस वर्षा के रहस्य को नहीं जानता है।

परन्तु मध्यम स्थानीय इन्द्र ही इस वर्षा के महत्त्व (रहस्य) को जानता है। जिस इन्द्र ने सूर्य में अन्तर्निहित वर्षा का साक्षात्कार किया है। यहाँ मातृ शब्द से अन्तरिक्ष का अर्थ ग्रहण किया जाता है। अन्तरिक्ष में प्राणियों की सृष्टि की जाती है—उत्पन्न हुए समस्त जीवों को अवकाश प्रदान कर यह अन्तरिक्ष बहुत बड़ा उपकार करता है योनि शब्द का अर्थ वर्षा की ओर उन्मुख अन्तरिक्ष का एक विशेष स्थान है जो अन्तरिक्ष का विशेष स्थान हवा से व्याप्त है। यह अन्य योनि वाचक भग शब्द भी इसी अर्थसाम्य के आधार पर स्त्री के गुप्तांग का वाचक होता है। यह भी जरायु से घिरा हुआ रहता है। बहुत सी वर्षा की धाराओं की वर्षा करने वाला मेघ वर्षा को करने के लिये (वर्षा के समय) पृथिवी पर नीचे आ जाता है।

मूल—शाकपूणिः सङ्कल्पयाञ्चक्रे—सर्वा देवता जानामीति। तस्मै देवतोभय लिङ्गा प्रादुर्बभूव। तां न जज्ञेः तां पप्रच्छ विविदिषाणि त्वेति। सास्मा एतामृचमादिदेश। एषा मद्देवतेति।

अर्थ—शाकपूणि ने अपना मन व्यक्त करते हुए कहा है कि मैं समस्त देवों को जानता हूँ। उस शाकपूणि में लिए शाकपूणि संकल्प करते ही एक देवता उत्पन्न हुई, जो उभयलिङ्ग थी, वह देवता स्त्री और पुलिङ्ग दोनों लक्षणों से युक्त थी अर्थात् मध्यस्थान लिङ्ग और द्युस्थान लिङ्ग वाली थी। उस देवता को यह शाकपूणि नहीं जान सका। शाकपूणि यह पहचानने में समर्थ नहीं हुआ कि वह देवता स्त्रीरूप है, अथवा यह देवता मध्यस्थानीय अथवा द्युस्थानीय है। उस देवता शाकपूणि ने पूछा कि मैं तुम्हें जानने की इच्छा रखता हूँ। कृपापूर्वक आप अपना परिचय दीजिए। शाकपूणि के इस प्रकार पूछने पर वह देवता प्रकट हुई और इसके लिए निम्नस्थ ऋचा का उपदेश दिया और कहा मैं इस ऋचा का देवता हूँ—तुम निरुक्त के ज्ञाता हो अतः तुम मन्त्र के अर्थ-ज्ञान के द्वारा मुझे पहचान लो अर्थात् मुझे जान लो मैं कौन हूँ ?

मूल—'अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृतामिमाति मायु ध्वसनावधिश्रिता। सा चित्तिभिर्निहि चकार मर्त्यं विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत॥' (१।१६४।२९) अयं स शब्दायतेतयेन गौरभिप्रवृत्ता मिमाति मायुं शब्दं करोति। मायुमिवादित्यमिति वा। वागेष माध्यमिका ध्वसने मेघेऽधिश्रिता। सा चित्तिभिः कर्मभिर्नीचैर्निकरोति मर्त्यम्। विद्युद्भवन्ती प्रत्यूहते वव्रिम्। वव्रिरिति रूप-नाम। वृणोतीति सतः वर्षेण प्रच्छाद्य पृथिवीं तत् पुनरादत्त।

अथ—यह वह प्रसिद्ध मेघ गर्जता है। यद्यपि मेघ स्वयं नहीं गर्जता है, फिर सहसा बादल गर्जता है। ऐसा व्यवहार किया जाता है अर्थात् गर्जन की शीघ्रता के कारण बिजली का गर्जन न कहकर बादल गर्जता है ऐसा सामान्यतया व्यवहृत होता है जिस प्रकार मञ्च पर स्थित लोग शब्द करते हैं, मञ्च नहीं परन्तु व्यवहार में यही कहा जाता है कि मञ्च शब्द करते हैं। उसी प्रकार मेघ गर्जता है, यह व्यवहार किया जाता है जिस मेघ से वाणी बिजली का

गर्जन रूप ढका रहता है वह बिजली मेघ में रहती हुई शब्द को (गर्जन को) करती है वह बिजली गर्जन रूप कार्यों से पुरुष को नीचे कर देती है। यह बिजली जिस समय कड़कती है तो उस समय मनुष्य भय से झुक जाता है। फिर चमकती हुई बिजली अपने तेज को अपने ही में तिरोहित कर लेती है।

बिजली के दो रूप होते हैं। (१) जो गर्जन करता है। (२) जो चमकता है।

मेघ में रहने वाली बिजली अपने दोनों स्वरूपों को प्रकट करती है और समेट लेती है अर्थात् स्वयं अन्तर्हित हो जाती है।

यह मेघ गर्जना है। जिस मेघ से ढकी हुई माध्यमिका वाणी माध्यमिक बिजली गर्जन करती है अथवा मायु से यहाँ आदित्य अर्थ लेते हैं और लुप्तोपमा मानकर इस प्रकार अर्थ करते हैं कि सूर्य के समान बिजली चमकती है। मेघ में रहने वाली यह स्तनयित्नुरूप बिजली गर्जन के रूप कर्मों से पुरुष को भय से झुका देती है, चमकने वाली बिजली होती हुई भी अपने आप को स्वयं छुपा लेती है। वव्रि शब्द का अर्थ रूप होता है। आच्छादनार्थक वृञ् धातु से "वव्रि" बनता है। वह रूप आश्रित को ढक लेता है। जल वर्षण के द्वारा पृथ्वी को ढककर सर्वत्र पर्याप्त जल की वर्षा करके फिर उस जल को सूर्य रूप होकर अपनी किरणों से ऊपर को खींच लेती है।

(इति द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः)

———

तृतीयः पादः

हिरण्यनामान्युत्तराणि पञ्चदश।

मूल—हिरण्यं कस्माद् ?—ह्रियत आयम्यमानमिति वा, ह्रियते जनाज्जनमिति वा, हित-रमणं भवतीति वा, हृदय-रमणं भवतीति वा, हर्यतेर्वा स्यात् प्रेप्सा—कर्मणः।

अर्थ—अब आगे सोने के १५ नाम कहते हैं। सोने को हिरण्य क्यों कहते हैं ? हिरण्य शब्द का क्या निर्वचन है ? लम्बा किया जाता हुआ खींचा जाता है। अथवा एक व्यक्ति के द्वारा दूसरे व्यक्ति के पास ले जाया जाता है। यह हिरण्य नामक सोना हिरण्य नामक औषधि के समान हितकारी होता है। शरीर पर धारण करने में आकर्षक एवं सुन्दर होता है। यह हिरण्य (सोना) हृदय को प्रिय लगता है। इच्छार्थक "हर्य्य" धातु से हिरण्य शब्द बनता है। प्रत्येक व्यक्ति को हिरण्य (सोना) की इच्छा रहती है। इसलिए सोने को हिरण्य कहते हैं।

मूल—अन्तरिक्ष-नामान्युत्तराणि षोडश।

अर्थ—आगे १६ अन्तरिक्ष के नामों का कथन करते हैं।

मूल—अन्तरिक्षं कस्मात् ?—अन्तरा क्षान्तं भवत्यन्तरेमे इति वा, शरीरेष्वन्तर-क्षयमिति वा।

अर्थ—अन्तरिक्ष शब्द की क्या निरुक्ति है ? अर्थात् अन्तरिक्ष शब्द कैसे बनता है ? द्युलोक और भूलोक के मध्यभाग में स्थित अन्तरिक्ष पृथ्वी तक व्याप्त रहता है। इसलिए अन्तरिक्ष शब्द से अभिहित किया जाता है। क्षान्त शब्द का अर्थ पृथ्वी तक होता है अथवा जो द्युलोक तथा भूलोक के मध्य में रहता है, उसे अन्तरिक्ष कहते हैं। शरीरों के अन्दर रहने वाला यही एक अविनाशी है अन्य सब पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूत विनाशशील हैं। यह शरीर पंचमहाभूतों से बना हुआ है।

मूल—तत्र समुद्र इत्येतत् पार्थिवेन समुद्रेण सन्दिह्यते।

अर्थ—उन अन्तरिक्ष के १६ नामों में यह समुद्र नाम पृथ्वी पर बहने वाले समुद्र (जलनिधि) से सन्दिग्ध हैं अर्थात् अन्तरिक्ष के १६ नामों में पठित समुद्र नाम पृथ्वी पर स्थित समुद्र (सागर) का सन्देह उत्पन्न कराता है।

मूल—समुद्रः कस्मात् ? समुद्द्रवन्त्यस्मापदापः, समभिद्रवन्त्येनमापः, सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि, समुदको भवति, समुनत्तीति वा।

अर्थ—यह समुद्र संज्ञा कैसे प्रसिद्ध हुई अर्थात् समुद्र क्यों कहा गया है? इस समुद्र से जल लहरों के रूप में ऊपर उठता है, इसलिए सागर को समुद्र कहते हैं। अथवा सागर को जल चारों ओर से एकत्रित होकर प्राप्त होता है अर्थात् सभी ओर से जल समुद्र में इकट्ठा होता रहता है अथवा इस समुद्र में सभी जल के जीव प्रसन्न रहते हैं। अथवा समुद्र बहुत जलराशि में युक्त होता है। "उद्" शब्द जल का वाचक है। अथवा यह समुद्र जल से भिगोता रहता है। "उद" शब्द की सिद्धि उन्दी क्लेदने धातु से होती है।

मूल—तयोर्विभागः। तत्रेतिहासमाचक्षते। देवापिश्चार्ष्टिषेणः शन्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः। स शन्तनुः कनीयानभिषेचयाञ्चक्रे। देवापिस्तपः प्रतिपेदे। ततः शन्तनो राज्ये द्वादश वर्षाणि देवो च विवष। तमूचर्ब्राह्मणः—अधर्मस्त्वयाचरितो ज्येष्ठं भ्रातरमन्तरित्याभिषेचितम्, तस्मात्रेदेवो न वर्षतीति। स शन्तनुर्देवापि शिशिक्ष राज्येन। तमुवाच देवापिः—पुरोहितस्तेऽसानि याजयानि च त्वेति। तस्यैतद् वर्ष-काम-सूक्तम्। तस्यैषा भवति।

अर्थ—जलनिधि तथा अन्तरिक्ष का वाचक समुद्र शब्द उन दोनों सागर और अन्तरिक्ष के विषय में प्रकरण अर्थात् प्रसंग को आधार मानकर अर्थ ग्रहण कर लेना चाहिए, सागर तथा अन्तरिक्ष इन दोनों अर्थों को स्पष्ट करने के लिये जो मन्त्र अवतरित किया जाता है, उसका ऐतिहासिक परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

ऋष्टिषेण के पुत्र देवापि और शन्तनु ये दोनों भाई कुरु वंश में उत्पन्न हुए थे। उन दोनों भाइयों में जो छोटा शन्तनु था उसने अपना राजतिलक करा लिया और देवापि ने तपस्या करना प्रारम्भ किया। तब शन्तनु के राज्य में

बारह वर्षों तक जल की वर्षा नहीं हुई अर्थात् मेघ नहीं बरसे तो ब्राह्मणों ने शन्तनु से कहा कि तुमने पाप कर्म किया है कि अपने बड़े भाई देवापि के राज्याधिकार को समाप्त करके तूने स्वयं अपना राजतिलक करा लिया है। यही कारण है कि तुम्हारे राज्य में मेघ जल नहीं बरसा रहे हैं। ब्राह्मणों के इस कथन को सुनकर उस शन्तनु ने अपने बड़े भाई देवापि से राज्य ग्रहण करने की प्रार्थना की। तब देवापि ने अपने छोटे भाई शन्तनु से कहा कि—यदि मैं तेरा यजमान बनकर तुम्हें यज्ञ कराऊँ, तो अवश्य मेघ जल बरसेंगे, उसी देवापि का यह "वर्षकामसूक्त" है। इस सूक्त में वर्षा की कामना से मन्त्रों की रचना की गई हैं। उसी "वर्षकामसूक्त" की यह ऋचा है।

मल—आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन् देवापिर्देव सुमतिं चिकित्वान्। स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद्वर्ष्या अभि।' (ऋ० १०।९८।५) आर्ष्टिषेण ऋष्टिषेणस्य पुत्र इषित-सेनस्येति वा। सेना सेश्वरा समानगतिर्वा। पुत्रः पुरुः त्रायते, निपरणाद्वा, पुत्ररकं ततस्त्रायत इति वा। होत्रमृषिर्निषीदन्। ऋषिर्दर्शनात्। स्तोमान ददर्शत्यौपमन्यवः। 'तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत्त ऋषयोऽभवंस्तदृषीणामृषित्वम्' इति विज्ञायते। देवापिर्देवानामप्तया स्तुत्या च देव-सुमतिं देवानां कल्याणीं मतिम्। चिकित्वांश्चेतनावान। स उत्तरस्मादधरं समुद्र उत्तर स्वद्धततरो भवति। अधरोऽधोरः। अधो न धावतीत्यूर्ध्वगतिः प्रतिषिद्धा।

अर्थ—ऋष्टिषेण का पुत्र देवापि नामक तपस्वी, देवताओं की लोककल्याणकारिणी बुद्धि को वर्षोन्मुखी प्रवृत्ति को वृष्टि के रहस्य को जानता हुआ यजमान के रूप में यज्ञ कराने के लिये बैठ गया। उस देवापि ने ऊपर के समुद्र-अन्तरिक्ष से पृथिवी पर स्थित समुद्र जलनिधि को लक्ष्य करके श्रेष्ठ अन्न को उत्पन्न करने वाली वर्षा को (जलों को) गिराया अर्थात देवापि ने वर्षा करा दी।

आर्ष्टिषेण शब्द का अर्थ ऋष्टिषेण का पुत्र है अथवा उषितसेन का पुत्र है। इन शब्द का अर्थ स्वामी होता है। अतः स्वामी सहित जो होता है, वह

सेना अर्थात् स्वामी सहित होता है अथवा समान गति से गमन करने वाली होती है। एक ही विजय रूप कार्य को लक्ष्य करके एक साथ समान रूप से गमन करती है। इसीलिये सेना कही जाती है। पुरू=बहुत (अत्यधिक) पिता के द्वारा किये हुये पापों से (पिता की) रक्षा करता है। इसलिये पुत्र कहते हैं। अथवा निपरण क्रिया के योग से—नि उपसर्ग पूर्वक पृ धातु से बचने के कारण पुत्र कहा जाता है। क्योंकि वह पुत्र पिता को लक्ष्य करके पिण्डदान, श्राद्ध, तर्पण आदि करता है। निपरण शब्द का अर्थ पिण्डदान है अथवा पुम् नामक नरक से पिता की रक्षा करता है, इसलिये पुत्र कहते हैं। मन्त्र का द्रष्टा होने से तथा मन्त्र का विचार करने वाला होने से ऋषि कहा जाता है। अपनी सूक्ष्म विवेक बुद्धि से मन्त्रों के गुप्त रहस्यों को भी देखने में (समझने से) समर्थ होता है। इसलिये 'ऋषि' कहते हैं। ऋषि ने स्तोत्रों को मन्त्रों के समूहों को देखा है मन्त्रों पर सूक्ष्म एवं गूढ़तम विचार किया है। मन्त्रों के गूढ़ तत्व-ज्ञान को अर्जित किया है। इसलिये ऋषि कहते हैं। ऐसा उपमन्यु के शिष्य अथवा उपमन्यु के मतानुयायी लोग कहते हैं। ब्राह्मण भी कहता है, क्योंकि तपस्या करने वाले इन ऋषियों के समक्ष में (अन्तस्तल में) अपौरुषेय वेद प्रकट हुये। इसीलिये वे ऋषि कहलाये, यही ऋषियों का ऋषित्व है। ऐसा जाना जाता है। ऋषियों की यही विशेष विशेषता है कि उन्होंने केवल तपस्या के बल से किसी से बिना पढ़े हुये अपौरुषेय वेद के रहस्य को जान लिया। देवताओं के ज्ञान तथा रहस्य की प्राप्ति के कारण ही वह देवापि के नाम से प्रसिद्ध हुये। देवापि को देवताओं के तत्वज्ञान की प्राप्ति देवताओं की स्तुति करने तथा देवताओं को हवि देने से हुई। चिकित्वान् का अर्थ है—चेतनायुक्त, ज्ञानवान् जानता हुआ अथवा समझता हुआ। उत्तरः उद्धततरो भवति=का अर्थ है—ऊपर को गया हुआ। अधरः अधोरः का अर्थ है नीचे गया हुआ। अधः नधावति जो नहीं दौड़ता है अर्थात् जो ऊपर गमन न कर सके। इसलिये ऊपर की गति निषिद्ध है ऐसा कहा गया है। जो अधोगति वाला होता है, उसकी ऊपर की गति स्वयं निषिद्ध होती है।

मूल—तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय।

अर्थ—उस प्रस्तुत विषय का विस्तृत निर्वचन (व्याख्या) करने के लिये यह अग्रिम ऋचा प्रस्तुत करते हैं।

मूल—"यद्देवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपवन्नदीधेत् ।
देव-श्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत् ।"

शन्तनुः शन्तनोऽस्त्विति वा शमस्मै तन्वा अस्त्विति वा । पुरोहितः पुर एनं दधति: होत्राय वृतः कृपायमाणोऽन्वध्यायत् । देवश्रुतं देवा एनं शृण्वन्ति । वृष्टिवनिं वृष्टियाचिनम् । रराणो रातिरभ्यस्तः । बृहस्पतिर्ब्रह्मासीत् । सोऽस्मै वाचमयच्छत् । बृहदुपव्याख्यातम् ।

अर्थ—यज्ञ के लिये वरण किए हुये देवापि ने राजा शन्तनु के लिये पुरोहित कर्म स्वीकार कर कृपा करते हुये शन्तनु के राज्य में वर्षा हो इस प्रकार ध्यान किया । देवताओं से सुनकर वर्षा की याचना करने वाले देवापि को वृष्टि का दान करते हुये ब्रह्मा ने देवापि को वर्षा कराने वाली वाणी को प्रदान किया । फिर उस ब्रह्मा के द्वारा प्राप्त वाणी के माध्यम से देवताओं की प्रशंसा करके देवापि जल वर्षा को प्राप्त हुये अर्थात् शन्तनु के राज्य में जल बरसाने में सफल हो गये । शन्तनु शब्द की निरुक्ति इस प्रकार है–हे तनो ! हे शरीर शम् अस्तु—हे शरीर तेरा कल्याण हो—सुख प्राप्त करो, इसलिये शन्तनु यह नाम संसार में प्रसिद्ध हुआ अथवा इस पञ्चभौतिक शरीर का कल्याण हो ऐसी प्रशंसा इस शरीर के लिये की जाती है । पुरोहित शब्द का निर्वचन इस प्रकार है जो समस्त कार्यों में आगे रखता है, अतः उसे पुरोहित कहते हैं। पुरोहित के कथन को देवता लोग सदा सुनते हैं । इसलिये देवश्रुत कहते हैं। वृष्टिवनिम्—वर्षा की याचना करने वाले इसको रराणः रातिः अभ्यस्तः—रराण शब्द में रा धातु को द्वित्व आदि होकर 'रराणः' बनता है जिसका अर्थ होता है, देता हुआ ।

चतुर्थः पादः

(साधारणानां षण्णां नाम्ना निर्वचनम्)

मूल—साधारणान्युत्तराणि षड् दिवश्चादित्यस्य च ।

अर्थ—द्युलोक और आदित्य के दोनों के आगे कहे जाने वाले ६ नाम समान हैं अर्थात् समान रूप से दोनों के वाचक हैं ।

मूल—यानि त्वस्य प्राधान्येनोपरिष्टात्तानि व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—इस आदित्य के जो प्रमुख नाम हैं, उनकी आगे व्याख्या की जायेगी ।

मूल—आदित्यः कस्माद् ?—आदत्ते रसान्, आदत्ते भासं ज्योतिषाम्, आदीप्तोभासेति वा, अदितेः पुत्र इति वा ।

अर्थ—आदित्य यह नाम किस लिये प्रसिद्ध हुआ ? किरणों के द्वारा यह रसों को ग्रहण करता है और चन्द्रमा तथा नक्षत्र आदि के प्रकाश को यह आदित्य ग्रहण कर लेता है अर्थात् सूर्य के (आदित्य के) निकलते ही चन्द्रमा तथा नक्षत्र आदि की कान्ति नष्ट हो जाती है अथवा यह आदित्य प्रकाश अर्थात् तेज पुंज से आवृत है अथवा अदिति का पुत्र है । इसलिये इसको आदित्य अथवा अदिति की सन्तान कहते हैं । अदिति शब्द मे अपत्य अर्थ में दित्यादित्यादित्य-पत्युत्तरपदाण्ण्यः 'सूत्र' से 'ण्य' प्रत्यय होकर अदिति + ण्य आदि वृद्धि तथा 'यचिभम्' सूत्र से भसंज्ञा होकर 'यस्येति च' सूत्र से 'ति' की इ का लोप हो जाता है । इस प्रकार प्रथमा एकवचन में आदित्य बनता है ।

मूल—अल्प-प्रयोगं त्वस्यैतदार्चाभ्याम्नाये सूक्तभाक् । सूर्यमादितेयमदिते पुत्रम् ।

अर्थ—ऋग्वेद में तो इस सूर्य का 'आदितेय' यह नाम बहुत कम प्रयुक्त हुआ है जो सूत्र का भजन करने वाला है । इस अदिति के पुत्रत्व के रूप से ऋग्वेद में आदितेय शब्द का प्रयोग बहुत कम हुआ है । यदि आदितेय शब्द सूक्त

का भजन करने वाला तो है। क्योंकि—सूर्यमादितेयम्' इत्यादि मन्त्र में 'आदितेय' शब्द पढ़ा गया है परन्तु इस आदितेय शब्द से कहीं भी किसी मन्त्र के द्वारा हवि नहीं अर्पित की गई है। अतः आदितेय यह शब्द से हविर्भाक् नहीं है और सूक्तभाक् है।

मूल—एवमन्यासामपि देवतानामादित्य-प्रवादाः स्तुतयो भवन्ति। तद् यथैतन्मित्रस्य वरुणस्यार्यम्णो दक्षस्य भगस्यांशस्येति।

अर्थ—इसी प्रकार अन्य देवताओं की भी स्तुतियाँ आदित्य के नाम की गई हैं। उदाहरणार्थ देखिये—मित्र, वरुण, अर्यमा, दक्ष आदि देवताओं को आदित्य के नाम से अभिहित किया गया है। जैसा कि निम्नलिखित मन्त्र में देखिये :—

इमा गिर आदित्येभ्यो घृतस्नूः सनाद्राजभ्यो जुह्वा जुहोमि।
शृणोतु मित्रो, अर्यमा भगो नस्तु विजातो वरुणो दक्षो अंशः।

इस मन्त्र में सभी देवताओं को समान रूप से आदित्य शब्द से अभिहित किया गया है अर्थात् सभी देवताओं की स्तुति आदित्य के नाम से की गई है।

मूल—अथापि मित्रावरुणयोः "आदित्या दानुनस्पती दानपती (ऋ० १।१३६।३)।

अर्थ—और भी मित्रावरुण नामक दोनों देवताओं की प्रशंसा अथवा प्रार्थना आदित्य के नाम से की गई है, जैसा कि निम्न प्रकार देखिये।

ता स सम्राजा घृतासुती आदित्या दानुनस्पती।
सचेते अनवह्वरम्॥

वे दोनों मित्रावरुण विशेष शोभा से चमत्कृत जल की वर्षा करने वाले अदिति के पुत्र दान के स्वामी सावधान अर्थात् दत्तचित्त होकर अप्रतिहत शक्ति से युक्त यजमान की अभिलाषा पूर्ण करते हैं। इस मन्त्र में प्रयुक्त "आदित्यौ" शब्द मित्रावरुण का बोधक है अर्थात् मित्रावरुण के लिए "आदित्यौ" का प्रयोग किया गया है।

मूल—अथापि मित्रस्यैकस्य—प्रसमित्र मर्त्तो अस्तु प्रयस्वान्यस्त आदित्य शिक्षति ब्रतेन (३।५९।२) इत्यपि निगमो भवति।

अर्थ—और एकाकी मित्र नामक देवता के लिए भी "आदित्य" का प्रयोग किया गया है। हे मित्र देवता, अदिति के पुत्र ! वह पुरुष अन्न सम्पन्न हो जावे अर्थात् उसके बहुत अन्न होवे (ऐसी कृपा करो) जो तुम्हारे लिये यज्ञ आदि कर्मों के द्वारा तथा व्रत आदि के करने से दान देता रहता है। यज्ञादि के द्वारा आपको आहुति प्रदान करता रहता है।

मूल—अथापि वरुणस्यैकस्य—यथा वयमादित्य व्रते तव। (ऋ० १।२४।१५) व्रतमिति कर्म-नाम वृणोतीति सतः। इदमपीतरद् व्रतमेत-स्मादेव निवृत्ति कर्म वारयतीति सतः। अन्नमपि व्रतमुच्यते यदावृणोति शरीरम्।

अर्थ—प्रस्तुत मन्त्र में अकेले वरुण देवता के लिए "आदित्य" शब्द का प्रयोग किया गया है अर्थात् आदित्य के नाम से अकेले वरुण को सम्बोधित करके वर्णन किया है। वह मन्त्र इस प्रकार है—

उदुत्तमं वरुण ! पाशमस्मदवाधमं विमध्यमं श्रथाय।
अथावयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्यामः॥

मन्त्रार्थ—हे वरुण देव ! हम आपके पाशों से ऊपर से, नीचे से, मध्य भाग से तथा सब ओर से बंधे हुए हैं। अतः आपकी सेवा में हम आये हैं और तुमसे प्रार्थना करते हैं कि हमारे ऊपर के पाश को ढीला कर दीजिये अर्थात् खोल दीजिये। नीचे के पाश को भी ढीला कर दो अर्थात् खोल दीजिये। मध्य भाग में बंधे हुए पाश को ढीला कर दीजिये। इस प्रकार जब हम आपके द्वारा पाश बन्धन से मुक्त हो जायेंगे तो हे आदित्य—अदिति के पुत्र वरुण देव ! अपराध रहित होते हुए पाप रहित हम आपकी सेवा करने में और अपने दीनता के भाव को समाप्त करने में समर्थ हो सकेंगे। यहाँ व्रतम् शब्द व्रत कर्म का वाचक है। आच्छा-दनार्थक वृञ् धातु से लट् लकार के प्रथम पुरुष में वृणोति बनता है। शुभ तथा अशुभअर्थात् अच्छे बुरे कर्मों के फल से युक्त अच्छे बुरे कर्म मनुष्य को आच्छादित कर लेते हैं। यह भी दूसरा निवृत्ति-परक अर्थ वाला यम नियम आदि से युक्त व्रत शब्द इसी वृञ् वरणे धातु से सिद्ध होता है, क्योंकि यह व्रत स्त्री पुरुषों को कुत्सित कर्मों से पृथक् करता है। अन्न को भी व्रत कहते हैं, क्योंकि यह अन्न शरीर को रस, अस्थि मज्जा आदि के द्वारा आच्छादित करता है।

अब 'स्वः' आदि सामान्य नामों का निर्वचन करते हैं।

मूल—स्वरादित्यो भवति—सु अरणः, ईरणः, स्ववृतो रसान् स्ववृतो भासं ज्योतिषाम् स्ववृतो भासेति वा एतेन द्यौर्व्याख्याता।

"स्वः" यह आदित्य का नाम है क्योंकि वह आदित्य भली-भाँति अन्धकार को नष्ट करता है और (पृथिवी से) रस (जल) को ग्रहण करने के लिये जाता हैं। चन्द्रमा एवं नक्षत्रादि के प्रकाश को ग्रहण करने के लिये जाता है, क्योंकि आदित्य (वह सूर्य) अपने प्रकाश पुंज से होता है। इसी अर्थ से द्युलोक की "दिव्" शब्द की भी व्याख्या समझ लेनी चाहिये। द्यौः अर्थात् द्युलोक के लिये भी स्वः शब्द के समान निर्वचन कर लेना चाहिये।

मूल—पृश्निरादित्यो भवति—प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः, संस्प्रष्टा रसान, संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषाम्. संस्पृष्टो भासेति वा अथ द्यौः—संस्पृष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृदिभश्च।

अर्थ—सूर्य की पृश्नि भी एक नाम है, क्योंकि यह सूर्य श्वेत वर्ण से व्याप्त है, ऐसा निरुक्तकारों का कहना है। यह सूर्य रसों (जलों का स्पर्श करता है अर्थात् जलों को ग्रहण करता है। चन्द्रमा एवं नक्षत्र आदि के प्रकाश को स्पर्श करने वाला है अर्थात् सूर्य की किरणों के स्पर्श से ही चन्द्रमा आदि कान्तिहीन हो जाते हैं क्योंकि वह सूर्य अपने प्रकाश से सब ओर प्रभाव करता है। इसलिये इस सूर्य को पृश्नि कहते हैं। इसी प्रकार पृश्नि शब्द से द्युलोक का भी व्यवहार किया जाता है, क्योंकि वह द्युलोक भी चन्द्रमा नक्षत्र आदि के प्रकाश पुञ्जों से युक्त होता है तथा पुण्य कर्म करने वालों से युक्त होता है। अतः पृश्नि के नाम से द्युलोक का भी व्यवहार किया जाता है।

मूल—नाक आदित्यो भवति—नेता रसानाम्, नेता, भासम्, ज्योतिषा प्रणयः। अथ द्यौः। कमिति सुख नाम, तत् प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्येत। 'न वा अमुं लोकं जग्मुषे किं च नाकम्' न वा अमुं लोकं गतवते किञ्च नासुखम् पुण्यकृतो ह्येव तत्र गच्छन्ति।

अर्थ—नाक शब्द भी सूर्य का वाचक है क्योंकि वह सूर्य रसों को (जलों को) ले जाने वाला नायक है। चन्द्रमा तथा नक्षत्र आदि तेजों के ले जाने वाला

अर्थात् प्रकाश प्रदान करने वाला है और द्युलोक को भी नाक कहते हैं क्योंकि कम् यह शब्द सुख का वाचक है, उस सुख का विलोम अर्थात् दुःख और कम् का अक=दुःख को निषिद्ध करने वाला है। न+अक=नाक=जहाँ दुःख न हो उस स्थान अथवा व्यक्ति को नाक कहते हैं। द्युलोक में कुछ भी दुःख नहीं होता। इसके प्रमाण में कहा है कि इस द्युलोक को प्राप्त हुए प्राणी को कुछ भी दुःख एवं कष्ट नहीं होता है क्योंकि वहाँ (द्युलोक में) केवल पुण्य कर्म मनुष्य ही पहुँच पाते हैं।

मूल—गौरादित्यो भवति—गमयति, रसान्, गच्छन्यन्तरिक्षे। अथ द्यौर्यत् पृथिव्या अधि दूरं गता भवति, यच्चास्यां ज्योतीषि गच्छन्ति।

अर्थ—गो शब्द भी आदित्य (सूर्य) का वाचक है क्योंकि यह आदित्य (सूर्य) रसों को जलों को) खींच कर सुखा देता है। यह सूर्य अन्तरिक्ष स्थान में गमन करता है और द्युलोक को भी "गो" कहते हैं क्योंकि द्युलोक भूमि से बहुत दूर गया हुआ होता है और जिसके लिये चन्द्रमा तथा नक्षत्र आदि द्युलोक में गमन करते हैं।

मूल—विष्टवादित्यो भवति—आविष्टो रसान्, आविष्टो भासं ज्योतिषाम्, आविष्टो भासेति वा। अथ द्यौराविष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च।

अर्थ—सूर्य को विष्टप भी कहते हैं, क्योंकि वह सूर्य अपनी किरणों के द्वारा रसों में प्रवेश करता है। चन्द्रमा तथा नक्षत्र आदि के प्रकाश में सूर्य प्रविष्ट होता है। अथवा वह सूर्य प्रकाश से देदीप्यमान रहता है। द्युलोक को भी विष्टप कहते हैं। क्योंकि—वह द्युलोक चन्द्रमा तथा नक्षत्र आदि के प्रकाश पुञ्ज से तथा पुण्यकर्मा देवताओं से युक्त होता है। अतः द्युलोक को भी विष्टप कहते हैं।

मूल—नभ आदित्यो भवति—नेता भासाम्, ज्योतिषां प्रणयः। अपि वा भन एव स्याद् विपरीतः, न न भातीति वा। एतेन द्यौर्व्याख्याता।

अर्थ—नभ यह नाम भी सूर्य का है अर्थात् सूर्य को नभ भी कहते हैं। क्योंकि वह सूर्य समस्त दिशा में प्रकाश को ले जाता है (फैलाता है), चन्द्रमा तथा नक्षत्र आदि को लेजाने वाला है। समस्त चन्द्रमा एवं नक्षत्र आदि ग्रह-

चक्र इस सूर्य के चारों ओर अर्थात् सूर्य की किरणों के समीप भ्रमण करता है। भन शब्द को विपरीत करने पर नभ बनता है। भन शब्द प्रकाश का वाचक है, भन ही उलट कर नभ हो गया है, नहीं नहीं प्रकाशित होता है अर्थात् अत्यन्त प्रकाश होता है। चमकने वाला होने के कारण सूर्य को नभ कहते हैं। सूर्य के समान द्यु लोक को भी नभ कहते हैं। ऐसी व्याख्या समझ लेनी चाहिए। द्यु लोक भी सूर्य के समान चन्द्रमा आदि ग्रहचक्र को ले जाने वाला है, इत्यादि सभी समानतायें सूर्य के समान द्यु लोक में घटित कर लेनी चाहियें।

(इति चतुर्थः पादः)

पंचमः पादः

अथ रश्मिनाम-निर्वचनम्

मूल—रश्मि-नामान्युत्तराणि पञ्चदश।

अर्थ—आगे कहे जाने वाले १५ नाम रश्मि के हैं।

मूल—रश्मिर्यमनात्।

अर्थ—नियमन कर्त्री होने के कारण रश्मि यह नाम पड़ा। अश्व तथा जल का नियमन करती है। अतः अश्व की बागडोर को रश्मि कहते हैं। जल को सूर्य की किरणें सुखाकर नियमन करती हैं। अतः सूर्य की किरणों को भी रश्मि कहते हैं।

मूल—तेषामादितः साधारणानि पञ्चाश्व-रश्मिभिः।

अर्थ—उन रश्मि के १५ नामों में प्रारम्भ के पाँच नाम अश्व की बागडोर के समान हैं अर्थात् १५ रश्मि के नामों में प्रारम्भ के पाँच नाम सूर्य की किरणों के और घोड़े की बागडोर के समान रूप के वाचक हैं। अतः प्रारम्भ के ५ नाम सूर्य की किरणों और घोड़े की बागडोर के भी बोधक अथवा पर्यायवाची हैं।

(अथ दिङ्नाम निर्वचनम्)

मूल—दिङ्नामान्युत्तराण्यष्टौ।

अर्थ—आगे कहे जाने वाले ८ नाम दिशा के हैं।

मूल—दिशः कस्माद् ?—दिशतेः, आसदनात् अपि वाभ्यसनात्।

अर्थ—दिशा किसलिए कहते हैं ? इसका समाधान यह है कि अति सर्जनार्थक दिश् धातु से दिशा शब्द की सिद्धि होती है। अतः दिशा शब्द से व्यवहार करते हैं। देवताओं के लिए बलि का अन्न आदि उपहार इन्हीं दिशाओं में दिया जाता है। ये समस्त दिशायें उन उन वस्तुओं को प्राप्त किये हुए हैं।

इसीलिए दिशा कही जाती हैं। सद् धातु से क्विप् प्रत्यय और क्विप् का सर्वापहारी लोप होने पर सद् को विपर्यय (उलट) करके हमें इकार जोड़ने पर "दिश्" शब्द निष्पन्न होता है। अथवा समीपस्थ होने से उन उन समस्त पदार्थों के समीप रहती है अथवा उन उन पदार्थों को व्याप्त करके रहने के कारण दिशा कही जाती है।

मूल—तत्र काष्ठा इत्येतदनेकस्यापि सत्त्वस्य नाम भवति।

अर्थ—उन दिशा के नामों में पठित "काष्ठा" नाम दिशा का नाम होते हुए भी अनेक वस्तुओं का वाचक होता है।

मूल—काष्ठा दिशो भवति क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति।

अर्थ—काष्ठा यह नाम दिशावाची है, क्योंकि यह काष्ठा (दिशा) समस्त वस्तु समूह आदि को घेर कर स्थित रहती है।

मूल—काष्ठा उपदिशो भवन्तीतरेतरं क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति।

अर्थ—उपदिशाओं को भी काष्ठा कहते हैं, क्योंकि ये सभी दिशायें तथा उपदिशाएँ आपस में एक दूसरे को आक्रान्त किए रहती हैं। अतः उपदिशाओं को भी काष्ठा कहते हैं।

मूल—आदित्योऽपि काष्ठोच्यते क्रान्त्वा स्थितो भवति।

अर्थ—सूर्य को भी काष्ठा से अभिहित करते हैं, क्योंकि सूर्य अपने स्थान को आक्रान्त करके स्थित रहता है।

मूल—आज्यन्तोऽपि काष्ठोच्यते क्रान्त्वा स्थितो भवति।

अर्थ—युद्ध स्थूल को भी काष्ठा के नाम से पुकारते हैं, क्योंकि युद्धस्थल अपने स्थान पर घेर कर स्थित रहता है।

मूल—आपोऽपि काष्ठा उच्यन्ते क्रान्त्वा स्थिता भवन्तीति स्थावराणाम्।

अर्थ—जल को काष्ठा कहते हैं, क्योंकि जल भी अपने स्थान (तड़ाग आदि में) जाकर स्थित रहता है। यह स्थावर (एक स्थान में स्थित रहने वाले) जल के विषय में कहा गया है। परन्तु जो जल स्थावर नहीं है अर्थात् एक ही स्थान

पर स्थित नहीं रहते हैं, निरन्तर बहते रहते हैं, कहीं विराम नहीं करते हैं, इसलिये अस्थावर जल पवित्र होते हैं। गंगा तथा सागर आदि का जल अस्थावर होता है और जलाशय झील आदि का जल स्थावर कहा जाता है, क्योंकि ये जल एक ही स्थान पर भरा रहता है, बहता नहीं।

मूल—"अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।
वृत्रस्य निण्यं विचरन्त्यापो दीर्घंतम आश्शयदिन्द्र-शत्रुः॥
(ऋ० १।३२।१०)

अतिष्ठन्तीनामनिविशमानानामित्यस्थावराणां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरं मेघः। शरीरं शृणातेः शम्नातेर्वा। वृत्रस्य निण्यं निर्णामम्। विचरन्ति विजानन्त्याप इति। दीर्घं द्राघतेः। तपस्तनोतेः। आशाय-दाशेतेः। इन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता वा तस्मादिन्द्रशत्रुः।

अर्थ—कहीं भी न रुकने वाले अर्थात् अप्रतिहत गति वाले अस्थावर जलों के मध्य में मेघ का शरीर स्थित है। जब ये अस्थावर जल मेघ के निचले प्रदेश में विचरण करते हैं, तब मेघ घने एवं काले अन्धकार को फैला देता है। अतिष्ठन्तीनाम्=जो कहीं नहीं रुकते ऐसे मेघ, काष्ठानाम्=बेरोक-टोक अप्रतिहत-गति सर्वत्र गमन करने वाले मेघ, ये दो विशेषण बहते हुए जलों के दिये गये हैं। उन जलों के मध्य में मेघ स्थित रहता है। शरीर शब्द हिंसार्थक शृ धातु से अथवा शमनार्थक शम् धातु से सिद्ध होता है। मेघ के निचले भाग में स्थित जल जानते हुये विचरण करते हैं। दीर्घ शब्द की सिद्धि "द्राघृ आयामे" धातु से होती है। तम शब्द की सिद्धि तनु विस्तारे धातु से होती है। आशयत्—की सिद्धि आङ् उपसर्ग पूर्वक, शीङ् स्वप्ने धातु से होती है। इन्द्रशत्रु=इसका अर्थ यह है कि इन्द्र वृत्र को शान्त कर देता है—मार डालता है। इन्द्र वृत्र को काट डालता है। इसलिये इन्द्र का शत्रु (वृत्र) कहा गया है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्राप्त अर्थ के अनुकूल वृत्र का एक नाम इन्द्रशत्रु है अर्थात् इन्द्र का शत्रु वृत्र।

मूल—तत्को वृत्रः ?—मेघ इति नैरुक्ताः। त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः। अपांच ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते। अत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति।

अर्थ—तो यह वृत्र कौन है ? अर्थात् वृत्र किसे कहते हैं ? निरुक्तकारों का मत है कि वृत्र मेघ को कहते हैं। इतिहासकारों का कथन है कि यह वृत्र त्वष्टा का पुत्र असुर है। जल और विजली सम्बन्धी अग्नि के मिश्रण से वर्षा होती है। उस जल और वैद्युती अग्नि के मिश्रण की क्रिया की उपमा के लिये युद्ध का रूपक प्रस्तुत करते हैं। अतः यह कहें कि जल और वैद्युती ताप के मिश्रण की क्रिया को युद्ध का रूपक बनाकर आलङ्कारिक वर्णन किया है। इसका आशय यह है कि जल और अग्नि परस्पर विरोधी तत्त्वों के एकत्रित होने की क्रिया को रूपक बना दिया गया है, जिसके परिणामस्वरूप मेघ जल के रूप में द्रवीभूत होकर पृथिवी पर आकर गिरता है अर्थात् एकत्रित जल बिजली सम्बन्धी उष्णता से पिघल कर पृथिवी पर गिरता है (बरसता है) इसी को वर्षा कहते हैं। जल और अग्नि के विरोधी तत्त्वों के मिश्रण की क्रिया को रूपक बना दिया है, वास्तव में कोई युद्ध नहीं होता है और न ही कोई इन्द्र का शत्रु है। केवल एक आलङ्कारिक वर्णन है।

मूल—अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणः वादाश्च। विवृद्ध्या शरीरस्य स्रोतांसि निवारयाञ्चकार तस्मिन् हते प्रसस्यन्दिर आपः।

अर्थ—मन्त्रों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में वृत्र के समान अहि शब्द भी इन्द्र का प्रतिद्वन्द्वी कहा गया है। यहाँ यह अहि शब्द भी मेघ का ही वाचक है, सर्प आदि का नहीं। इसलिये वृत्र आदि शब्द भी मेघ का वाचक है अर्थात् वृत्र मेघ को ही कहते हैं। किसी असुर का वाचक नहीं है। शरीर की वृद्धि अर्थात् विस्तार से वृत्र ने जल के वेग को रोक लिया था। उस जल निवारक मेघ के मारे जाने पर (काटे जाने पर) जल बरसने लगे अर्थात् जल निवारक वृत्र नामक मेघ के छिन्न भिन्न होते ही जल वर्षा प्रारम्भ हो गयी।

मूल—तदभिवादिन्येवर्गभवति—

अर्थ—उसी अभिप्राय को कहने वाली ऋचा निम्न प्रकार दर्शनीय है।

मूल—"दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।
अपां बिलमपिहितं यदासीद्वृत्रं जघन्वां अप तद्ववार॥ (१।३२।११)

दासपत्नीर्दासाधिपत्न्यः। दासो दस्यतेरुपदासयति कर्माणि। "अहिगोपा अतिष्ठन्' अहिना गुप्ताः। अहिरयनादेत्यन्तरिक्षे। अयमपीतरोऽहिरेतस्मादेव निर्ह्रसितोपसर्ग आहन्तीति। निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।

पणिर्वणिग् भवति । पणिः पणनात् । वणिक् पण्य नेनेक्ति । 'अपां बिल-मपिहितं यदासीत्' । बिलं भरं भवति बिभर्तेः । वृत्रं जघ्निवानपववार तत् । वृत्रो वृणोतेर्वा वृर्ततेर्वा वर्द्धतेर्वा । 'यदवृणोत्तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्' इति विज्ञायते । यदवर्त्तत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्' इति विज्ञायते । 'यद-वर्द्धत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम् इति विज्ञायते ।

अर्थ—दास अर्थात् सेवा (नौकरी) कार्य करने वालों की रक्षा करने वाले (जब नौकर काम करते-करते थक जाते हैं तो उनकी रक्षा जल ही करता है अर्थात् जल से उनकी थकान दूर होती है) श्रमिक लोक थक जाने पर जल से हाथ मुंह धोकर और जल पीकर स्नान आदि से थकान को दूर कर लेते हैं। इसलिये जल दासों (नौकरों, श्रमिकों) के रक्षक होते हैं । मेघ के द्वारा रक्षित जल उसी प्रकार एक स्थान पर रुके हुये सुरक्षित रहते हैं' जिस प्रकार गायों का व्यापार करने वाले वणिक् के द्वारा गायें एक बाड़े में घेरकर एवं बन्द करके सुरक्षित रहती हैं । जिस समय जलों का बिल (स्रोत) ढका हुआ था तो इन्द्र ने उस जल निवारक मेघ को मार डाला, जिससे वह जल का बिल अर्थात् स्रोत का वेग उन्मुक्त हो गया और जल गिरने लगा अर्थात् वर्षा होने लगी ।

दास शब्द की सिद्धि उपक्षयार्थक दसु धातु से होती है' क्योंकि वह दास (नौकर) कार्यों को समाप्त करता है, पूर्ण करता है । एक कार्य के समाप्त होने पर दूसरा और दूसरे के समाप्त होने पर तीसरा कार्य प्रारम्भ करता है । इस प्रकार निरन्तर कार्य करता ही रहता है । अहिगोपाः = अहि नामक मेघ विशेष के द्वारा रक्षित । अहिः अयनात्—गतिमान् होने के कारण अहि इस नाम से प्रसिद्ध हुआ । एति अन्तरिक्षे = आकाश मे मेघ चलता है । गमनार्थक इण् धातु से अहि बनता है । इसके अतिरिक्त जो सर्पवाचक दूसरा अहि शब्द है वह भी इसी प्रकार इण् गतौ धातु से ही बनता है ।' क्योंकि सर्प चलता है अथवा सर्प हिंसा करता है । अतः गाङ् उपसर्ग पूर्वक हन् धातु से आ को ह्रस्व (अ) करके अहि शब्द बन जाता है । पणि शब्द वणिक् अर्थात् व्यापारी का वाचक है । व्यापार क्रिया करने से पणि शब्द की सिद्धि होती है । व्यापारी किस प्रकार व्यापार को अर्थात् खरीदी बेची हुई वस्तुओं के लाभ हानि को विचारता रहता है, जिससे उसकी क्रय की हुई वस्तुयें बढ़े हुये मूल्य पर बिक जावें ।

भर शब्द डुभृञ् धारण पोषणयोः धातु से बनता है। बिल को भर कहते हैं, क्योंकि बिल जल आदि से पूर्ण हो जाता है। इसलिये बिल को भर कहते हैं। भर से बल और बल से बिल हो गया। वृत्र शब्द की सिद्धि आच्छादनार्थक वृञ् धातु से होती है। वृत्र मेघ का वाचक है। मेघ गगन-मण्डल को आच्छादित कर लेता है अथवा वृत्र की सिद्धि वृतु धातु से होती है।

यहाँ निघण्टु में यह वृतु धातु गगनार्थक मानी जाती है, क्योंकि वृत्र (मेघ) चलता है। इसलिये गत्यर्थक वृतु धातु से वृत्र शब्द की सिद्धि करनी चाहिये अथवा वृत्यर्थक वृध् धातु से वृत्र शब्द की सिद्धि होती है। वर्षा के दिनों में यह वृत्र अर्थात् मेघ अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त होता है जो बढ़कर वृत्र गगनमण्डल को आच्छादित कर लेता है। वही वृत्र का वृत्रत्व है, ऐसा समझा जाता है। प्रतीत होता है, जो वृत्र (मेघ) इन्द्र के द्वारा आहत होने पर बिल के (जल स्रोत के) उन्मुक्त हो जाने पर जलों को वृत्र (मेघ) के नीचे गिरने के लिये प्रेरित किया, वही वृत्र का वृत्रत्व है और जो वर्षा-ऋतु में अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त हो जाता है वही वृत्र का वृत्रत्व है। इस प्रकार वृत्र शब्द का निर्वचन किया है।

(इति पञ्चमः पादः)

षष्ठः पादः

[अथ रात्रिनामनिर्वचनम्]

मूल—रात्रि-नामान्युत्तराणि त्रयोविंशतिः।

अर्थ—आगे कहे जाने वाले तेईस नाम रात्रि के हैं।

रात्रिः कस्मात् ?–प्ररमयति भूतानि नक्तञ्चारीणि, उपरमयतीतराणि ध्रुवीकरोति। रातेर्वा स्याद्दान-कर्वणः, प्रदीयन्तेऽस्यामशयायाः।

अर्थ—रात्रि यह नाम क्यों पड़ा ? रात्रि में भ्रमण करने वाले निशाचर आदि को यह रात्रि प्रसन्न रखती है। इसलिए रात्रि यह नाम कहा जाता है। अन्य जीवों को जो दिन में परिश्रम से काम करने से थक जाते हैं उनको यह रात्रि विश्राम प्रदान करती है अर्थात् काम करने से मुक्ति प्रदान करती है। इसी प्रकार प्रतिदिन परिश्रम करने वालों को विश्राम प्रदान कर स्थिरता देती है अर्थात् उनको चिरायु बनाती है। दानार्थक "रा" धातु से रात्रि शब्द की सिद्धि होती है। क्योंकि इसी रात्रि में ही ओस गिरती है अर्थात् यही रात्रि ओस प्रदान करती है। अर्थात् ओस गिराती है।

[अथोषो नामनिर्वचनम्]

मूल—उषोनामान्युत्तराणि षोडश।

अर्थ—रात्रि की समाप्ति पर उषा नामक काल होता है, उस उषा काल के आगे के सोलह नाम हैं।

मूल—उषाः कस्मादुच्छतीति सत्या रात्रेरपरः कालः।

अर्थ—उषा यह कैसे कहा जाता है ? क्योंकि यह अन्धकार को निकालकर नष्ट करती है इसीलिए इसे उषा कहते हैं। उच्छी विवा धातु से उषा शब्द की निष्पत्ति होती है। रात्रि के अन्तिम भाग को उषा अथवा उषा काल कहते हैं।

मूल—तस्या एषा भवति।

अर्थ—उस उषा काल के सम्बन्ध में यह ऋचा कही गई है।

मूल—"इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा। यथा प्रसूता सवितुः सवाय एवा रात्र्युषसे योनिमारैक्॥" (ऋ० २।११३।१) इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागमत्। चित्रं प्रकेतनं प्रज्ञाततममजनिष्ट विभूततमम्। यथा प्रसूता सवितुः प्रसवाय रात्रिरादित्यस्य। एवं रात्र्युषसे योनिमरिचत् स्थानम्! स्त्रीयोनिरभियुत एनां गर्भः।

अर्थ—यह उषा नामक ज्योति सूर्य तथा चन्द्र आदि प्रकाशमान् ग्रहचक्रों के मध्य में सर्वश्रेष्ठ है और वह उषा उदय हो गई है। वह उषा सम्मान के योग्य है, अथवा दर्शनीय तथा आकर्षक है, और सुविख्यात है। सब कहीं व्याप्त है, वह उषा उत्पन्न हो गई है। जिस प्रकार रात्रि सूर्य के निकलने के लिए अवसर प्रदान कर सूर्य से रहित स्थान में जाकर छुप जाती है, उसी प्रकार यह रात्रि उषा काल के आगमन को अवसर प्रदान करने के लिए स्थान खाली कर देती है अर्थात् स्वयं स्थान छोड़कर अन्तर्हित हो जाती है। यह उषा दर्शनीय अथवा पूजनीय और प्रसिद्ध है, ऐसी उषा उत्पन्न हुई। सर्वत्र व्यापक स्त्री के भाग को भी योनि कहते हैं। इस स्त्री योनि को गर्भ प्राप्त है अर्थात् योनि गर्भयुक्त होती है।

मूल—तस्या एषापरा भवति—

अर्थ—उस प्रख्यात उषा के सम्बन्ध में यह दूसरी ऋचा का अवतरण करते हैं।

मूल—"रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः।
समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्ण चरत आमिनाने॥
(१।११३।२)

रुशद्वत्सा सूर्य-वत्सा। रुशदिति-वर्ण-नाम रोचतेर्ज्वलति-कर्मणः। सूर्यमस्या वत्समाह साहचर्याद् रस-हरणाद्वा। 'रुशती श्वेत्यागात्।' श्वेत्या श्वेततेः। अरिचत् कृष्णा सद्नान्यस्याः, कृष्ण-वार्ता रात्रिः। कृष्णं कृष्यतेर्निकृष्टो वर्णः। अथैने संस्तौति। समानबन्धू समानबन्धने।

अमृते अमरण-धर्माणौ। 'अनूची' अनूच्याविति इतरेतरमभिप्रेत्य। द्यावा वर्ण चरतः। ते एव द्यावौ द्योतनात्। अपि वा द्यावा चरतस्तया सह चरत इति स्यात् आमिनाने आमिन्वाने अन्योन्यस्याध्यात्मं कुर्वाणे।

अर्थ—रूशत् यह नाम सूर्य के लिए कहा गया है अर्थात् रूशत् सूर्य का एक नाम है। सूर्य है वत्स (बछड़ा) अथवा पुत्र जिसका ऐसी वह उषा आ गई है। (उदय को प्राप्त हो गई है) काले रंग वाली रात्रि ने इस उषा के लिए स्थान खाली कर दिया है अर्थात् उषा के उदय के लिये अवसर प्रदान कर दिया है। समान वन्धन वाली, परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करने वाली, मृत्यु धर्म से रहित अर्थात् अमरण धर्म वाली, आपस में सम्बन्धित होने वाली दोनों उषा और रात्रि क्रमशः अपने अपने श्वेत और कृष्ण वर्ण को प्राप्त करती हैं। **समानबन्धू** (समान बन्धन वाली) **अमृते** (मरणधर्म रहित) **अनूची** (परस्पर सम्बन्धित) **अभिनाने** (एक दूसरे पर अपना अपना प्रभाव करने वाली) द्यावा (चमकने वाली) आदि विशेषण उषा और रात्रि के हैं। रूशत् शब्द वर्ण का वाचक है। रोचतेः—शब्द की सिद्धि ज्वलनार्थक रुच् धातु से होती है। सूर्य को इस उषा का वत्स (बछड़ा) कहा गया है, क्योंकि जैसे बछड़ा अपनी मा गाय का दूध पीता है (ग्रहण करता है) उसी प्रकार यह सूर्य भी उषा के ओस के कणों को किरणों से पीता है (ग्रहण करता है) इस प्रकार ओस के कणों को ग्रहण करने वाला होने के कारण सूर्य को उषा के बछड़े के समान कहा गया है। इसका यह एक कारण और भी है कि जिस प्रकार गाय का बछड़ा सदा गाय के पीछे-पीछे चलता है अथवा साथ रहता है, उसी प्रकार यह सूर्य सदा उषा के साथ रहता है। अतः साहचर्य सम्बन्ध से भी सूर्य उषा रूपी गाय का बछड़ा ही माना जाता है। श्वेत्या शब्द की सिद्धि श्विता वर्णे धातु से होती है। कृष्ण वर्ण वाला होने के कारण कृष्णा यह नाम रात्रि का है। कृष्ण शब्द कृष् धातु से बनता है। कृष्ण रंग सबसे निन्दित एवं निकृष्ट होता है, इसी-लिए कृष्ण कहते हैं।

अब इन दोनों अर्थात् उषा और रात्रि की प्रार्थना (प्रशंसा) करते हैं। वे उषा और रात्रि दोनों किस वर्ण वाली तथा स्वभाव वाली हैं, यह कहते हैं कि वे दोनों समान बन्धन वाली, मृत्यु धर्म रहित, दोनों परस्पर एक दूसरे से

सम्बन्धित रहती हैं। वे दोनों ही दीप्ति से युक्त हैं अर्थात् दोनों प्रकाश वाली होने के कारण चमकती रहती हैं अथवा कान्तियुक्त रहती हैं। रात्रि चन्द्र तथा नक्षत्र समूह से प्रकाशित रहती है और उषा स्वयं अपने प्रकाश से प्रकाशित रहती है। द्यावा शब्द को तृतीयान्त मानकर यह अर्थ निकलता है कि—प्रकाश से युक्त अर्थात् प्रकाश के साथ दोनों रहती हैं। द्यावा शब्द में प्रथमा विभक्ति मानें तो यह अर्थ होगा कि दोनों उषा और रात्रि प्रकाशवती हैं। अतः एक स्वभाव वाली दोनों चमकती हैं। रात नक्षत्रादि से चमकती है, उषा स्वयं अपने प्रकाश से चमकती है। इस प्रकार उषा और रात्रि के पारस्परिक सम्बन्ध तथा स्वभाव आदि की समानता का वर्णन किया गया है।

(अथाहर्नाम-निर्वचनम्)

मूल—अहर्नामान्युत्तराणि द्वादश।

अर्थ—आगे कहे जाने वाले १२ नाम दिन के हैं।

मूल—अहः कस्मात ? उपाहरन्त्यस्मिन् कर्माणि।

अर्थ—दिन को "अहः" क्यों कहते हैं ? इसके समाधानार्थ कहा है कि इसमें अनेक कामों को करते हैं, इसलिये इसको "अहः" कहते हैं।

मूल—तस्यैष निपातो भवति वैश्वानरीयायामृचि।

अर्थ—उस इस "अहः" (दिन) का वर्णन वैश्वानर देवता की ऋचा में किया गया है।

मूल—अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च विवर्त्तेते रजसी वेद्याभिः।
वैश्वानरो जायमानो न राजावातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि॥
(६।९।१)

अहश्च कृष्णं रात्रिः शुक्लं चाहरर्जुनम् विवर्त्तेते रजसी वेद्याभिर्वेदितव्याभिः प्रवृत्तिभिः। वैश्वानरो जायमान इव। उद्यन्नादित्यः। सर्वेषां ज्योतिषां राजा। अवाहन्नग्निर्ज्योतिषा तमांसि।

अर्थ—यह "अहः" शब्द दिन और रात्रि दोनों के अर्थ में ग्रहण किया जाता है। प्रस्तुत मन्त्र में "अहः" दिन-रात सम्बन्धी प्रयोग के भेद का वर्णन

किया गया है। दिन के वाचक 'अहः' शब्द को 'अर्जुन' कहते हैं और रात्रि के वाचक 'अहः' शब्द को 'कृष्ण' कहते हैं अर्थात् जिसे हम दिन कहते हैं उसे अहः के अर्थ में अर्जुन कहा जाता है तथा जिसे हम रात्रि कहते हैं उसे 'अहः' के अर्थ के 'कृष्ण' कहा जाता है। इस प्रकार अहः शब्द दोनों के लिये (दिन और रात्रि के लिये) व्यवहृत होता है।

अर्थ—रात्रि तथा दिन ये दोनों अपने-अपने रङ्ग से भूतों को (समस्त प्राणियों को) रङ्ग देते हैं अर्थात् रात्रि अपने अन्धकार रूपी रङ्ग से रंगती है और दिन अपने प्रकाश रूपी रंग से रंगता है। जानने योग्य व्यवहारों से युक्त दिन और रात्रि दोनों परिवर्तित होते रहते हैं अर्थात् दिन-रात आते जाते रहते हैं। रात के बाद दिन और दिन के बाद रात आती है, दोनों अप्रतिहत गति से निरन्तर आते जाते रहते हैं, जिस प्रकार उदय होता हुआ सूर्य अपने प्रकाश से अन्धकार को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार वैश्वानर नामक अग्नि से उत्पन्न हुआ अर्थात् पार्थिव अग्नि प्रज्वलित होता हुआ अपने प्रकाश से अर्थात् अपनी ज्वाला की चमक से रात्रि के अन्धकार को नष्ट कर देता है। उदय को प्राप्त होता हुआ सभी तेजस्वी चन्द्र तथा नक्षत्र आदि का राजा सूर्य सभी अन्य चमकने वाले चन्द्र नक्षत्र आदि को दूर कर देता है अर्थात् मार कर भगा देता है अथवा सभी प्रकाशों को अभिभूत करके अपने अप्रतिहत प्रकाश से प्रकाशित होता है।

(अथ मेघनाम-निर्वचनम्)

मूल—मेघ-नामान्युत्तराणि त्रिंशत्।

अर्थ—अब आगे के तीस नामों का वर्णन है।

मूल—मेघः कस्मात्?—मेहतीति सतः।

अर्थ—मेघ यह नाम क्यों पड़ा? क्योंकि यह सींचता रहता है अर्थात् जल-वर्षण के द्वारा पृथिवी को सींचता रहता है। अतः इसे मेघ कहते हैं।

मूल—आ उपर उपल इत्येताभ्यां साधारणानि पर्वत-नामभिः।

अर्थ—मेघ के वर्णित नामों में उपर और उपल तक के नाम मेघ तथा पर्वत दोनों के वाचक हैं अर्थात् उपर और उपल तक जितने नामों का उल्लेख किया गया है वे सभी नाम समान रूप से मेघ तथा पर्वत दोनों के वाचक हैं।

अतः उपर और उपल तक पठित सभी नामों को मेघ और पर्वत दोनों के लिये समझ लेना चाहिये ।

मूल—उपर उपलो मेघो भवति । उपरमन्तेऽस्मिन्नभ्राणि । उपरता आप इति वा ।

अर्थ—उपर और उपल को मेघ कहते हैं अर्थात् उपर और उपल ये दोनों नाम मेघ के हैं । क्योंकि इसमें मेघ के प्रारम्भिक मटमैले रूप रमण करते रहते हैं । (संस्कृत में) र तथा ल में कोई भेद नहीं माना जाता है । इसलिये उपर और उपल दोनों शब्दों की सिद्धि एक ही प्रकार से होती है अथवा इनमें (उपर तथा उपल में) जल रमण करते हैं अर्थात् प्रसन्नता से रहते हैं ।

मूल—तेषामेषा भवति—

अर्थ—उन उपर और उपल वाचक मेघों के विषय में इस ऋचा का कथन किया है ।

मूल—"देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन्कृन्तत्रादेषामुपरा उदायन् ।
त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपा द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम्॥
(ऋ० १०।२७।२३)

देवानां निर्माणे प्रथमा अतिष्ठन्माध्यमिका देवगणाः । प्रथम इति मुख्य नाम । प्रतमो भवति । कृन्तत्रमन्तरिक्षम् विकर्तनं मेघानाम् विकर्त्तेन मेघानामुदकं जायते । त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनपाः । पर्जन्योवायुरादित्यः शीतोष्ण-वर्षैरोषधीः पाचयन्ती । अनूपा अनुवपन्ति लोकान् स्वेन स्वेन कर्मणा । अयमपीतरोऽनूप एतस्मादेव । अनूप्यत उदकेन । अपि वान्वाविति स्यात् । यथा प्रागिति । तस्यानूप इति स्यात् । यथा प्राचीनमिति । द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम् वाय्यादित्या उदकम् । बृबूकमित्युदकनाम ब्रवीतेर्वा शब्द-कर्मणो भ्रंशतेर्वा । पुरीषं पृणातेः पूरयतेर्वा ।

अर्थ— सृष्टि-रचना के समय अथवा देवताओं की सृष्टि के समय जब प्रजापति ने देवताओं की रचना प्रारम्भ की, तब ये माध्यमिक तथा मध्यभाग में

(पृथिवी और अन्तरिक्ष के मध्य में) रहने वाले देवता प्रमुख थे अर्थात् मेघ ही प्रथम देवता थे। अतः सर्वप्रथम मेघों की ही सृष्टि की गयी, क्योंकि जल वर्षा के अभाव में सृष्टि की स्थिरता ही सम्भव नहीं है। इसलिये सबसे पहले मेघों की ही सृष्टि हुई।

इन मेघों के कर्त्तन से अथवा अन्तरिक्ष से जल बरसने लगे। मेघों के काटने से अर्थात् मेघों के परस्पर टकराने आदि से जल बरसने लगा अथवा अन्तरिक्ष से मेघों के जल गिरने लगे अर्थात जल वर्षा होने लगी। यद्यपि "उपर" शब्द मेघ का वाचक (नाम) है, जल का नहीं। तथापि मञ्चाः क्रोशन्ति के समान "उपर" शब्द को जल का वाचक मान लिया जाता है। इसका भाव यह है कि जिस प्रकार मञ्च जड़ होने के कारण शब्द करने की क्रिया से शून्य (असमर्थ) होते हैं तथापि लोक में यह अर्थ ग्रहण कर लिया जाता है कि मञ्च स्थित लोग शब्द करते हैं। उसी प्रकार उपर शब्द से जल का ग्रहण कर लिया गया है।

अनूपा—अनुकम्पा करने वाले त्रयः तीन—(वायु, सूर्य, मेघ) पृथिवी पर उगी हुई औषधियों को 'तपन्ति' पकाते हैं। वायु शीतलता प्रदान करके, सूर्य उष्णता (गर्मी) प्रदान करके, मेघ वर्षा करके समस्त अन्नों को, औषधियों तथा वनस्पतियों को पकाते हैं। वायु तथा सूर्य देवता दोनों समस्त लोक को तृप्त अथवा भर देने वाले जलों को भूमण्डल से खींचकर अन्तरिक्ष में ले जाते हैं तथा जल को सुखा देते हैं। मध्यम लोक अर्थात् अन्तरिक्ष में रहने वाले देवताओं का मेघ यह मुख्य नाम है, क्योंकि मेघ सबसे श्रेष्ठ होता है। कृन्तत्र शब्द का अर्थ अन्तरिक्ष होता है। अन्तरिक्ष मेघों को काटने वाला अर्थात अन्तरिक्ष मेघों का कर्त्तन (भेदन) करता है। इसीलिये अन्तरिक्ष को कृन्तत्र कहते हैं। मेघों के कर्त्तन (भेदन) से जल बरसने लगता है। वायु, सूर्य और मेघ ये तीनों हवा, गर्मी और जल से समस्त अन्नों को पकाते हैं। इसलिये इन तीनों को अनूप कहते हैं। अनूप कहने का कारण यह है कि ये तीनों (वायु, सूर्य और मेघ) अपने अपने जल वर्षण आदि के द्वारा समस्त लोकों पर कृपा करते हैं। इसके अतिरिक्त यह दूसरा जलीय स्थान का वाचक अनूप शब्द की सिद्धि वप् धातु से होती है। क्योंकि वह जलीय स्थान (जलाशय आदि) सदा जल से व्याप्त रहता है। जल फैला रहता है अथवा वह अनूप (जलाशय आदि स्थान) जल से

भीगा रहता है अथवा उस स्थान विशेष को अन्वाप कहते हैं। जहाँ जल आता रहता है। इस अन्वाप को ही अनूप कहते है। इसका आशय यह है कि जिस प्रकार प्राक् के स्थान पर प्राचीन शब्द का व्यवहार किया जाता है, उसी प्रकार अन्वाप् को अनूप कहते हैं। वायु और सूर्य दोनों जल को ले जाते हैं। सबसे पहले मेघ जल बरसता है फिर वायु और सूर्य दोनों मिलकर जल सुखा देते हैं।

यदि वायु और सूर्य जल न सुखावें तो अन्न पक नहीं सकता है। **बृकूकम्** = यह शब्द जल का वाचक है। शब्दार्थक ब्रूञ् धातु से बृबूकम् बनता है, क्योंकि जल शब्द कर्मा है अर्थात् जल के बहने तथा गिरने आदि में शब्द उत्पन्न होता है अथवा अधःपतनार्थक भ्रंश् धातु से "बृबूक" शब्द की सिद्धि हो जायेगी, क्योंकि जल मेघ से नीचे टपकता है अथवा गिरता है। पुरीष शब्द की सिद्धि "प्रीञ्" तर्पणे धातु से होती है अथवा वृद्धयर्थक पूरी धातु से पुरीष शब्द की सिद्धि हो जायेगी। जो तृप्त (प्रसन्न) करता है और भरता है अथवा जो वृद्धि को प्राप्त होता है, वह पुरीष कहा जाता है। यहाँ पठित पुरीष शब्द जल का वाचक अथवा विशेषण है।

(इति षष्ठः पादः)

———

सप्तमः पादः

(अथ वाङ्नाम-निर्वचनम्)

मूल—वाङ्नामान्युत्तराणि सप्तपञ्चाशत् ।

अर्थ—आगे कहे जाने वाले ५७ वाक् के हैं ।

मूल—वाक् कस्माद् ?—वचेः ।

अर्थ—वाक् शब्द कैसे बना ? वाक् शब्द की सिद्धि वच् धातु से होती है । जिससे बोलने की क्रिया सम्पन्न होती है, उसे वाक् कहते हैं अर्थात् वाणी बोलने की क्रिया की साधिका होती है । इसलिये उसको वाक् तथा वाणी कहते हैं ।

मूल—तत्र सरस्वतीत्येतस्य नदीवद्देवतावच्च निगमा भवन्ति ।

अर्थ—उन वाक् वाचक शब्दों में तथा सरस्वती इस शब्द में देवता के समान अर्थात् देवत्व युक्त के समान और नदी के अर्थ के रूप में व्यवहार किया जाता है । इसका आशय है कि वाक् और सरस्वती शब्द दोनों का वाग्देवता तथा सरस्वती देवता के रूप में (अर्थ में) व्यवहार होता है और सरस्वती शब्द का व्यवहार नदी के रूप में भी होता है अर्थात् वाक् को वाणी और वाग्देवता कहते हैं । सरस्वती का सरस्वती देवी तथा सरस्वती नामक नदी भी व्यवहार किया जाता है । यह वाक् शब्द का निर्वचन समझना चाहिये ।

मूल—तद्यद् देवतावदुपरिष्टात्तद् व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—इस प्रकार सरस्वती शब्द के दो अर्थों में जो सरस्वती शब्द का प्रयोग देवता के अर्थ में होता है, उस सरस्वती नामक देवता परक शब्द की व्याख्या आगे करेंगे ।

मूल—अथैतन्नदीवत्—

अर्थ—अब यहाँ नदी परक अर्थ की व्याख्या कर रहे हैं अर्थात् सरस्वती शब्द के सरस्वती नामक नदी परक अर्थ की व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं ।

मूल—'इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत्सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः ।
पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमाविवासेम धीतिभिः ।।"
(ऋ० ६.६१.२)

इयं शुष्मैः शोषणैः । शुष्ममिति बलनाम शोषयतीति सतः । बिसं बिस्यतेर्भेदन-कर्मणो वृद्धिकर्मणो वा । सानु समुच्छ्रितं भवति समुन्नुन्नमिति वा । महद्भिरूर्मिभिः पारावतघ्नीं पारावार-घातिनीम् । पारंपरं भवति । अवारमवरम् । अवनाय सुप्रवृत्ताभिः शोभनाभिः स्तुतिभिः सरस्वतीं नदीं कर्मभिः परिचरेम ।

मन्त्रार्थ—यह सरस्वती नामक नदी विशाल एवं सुदृढ़ लहरों के द्वारा पर्वतों की चोटियों को उसी प्रकार तोड़ डालती है, जिस प्रकार कमल नाल को खोदने वाला मनुष्य बड़ी सरलता से कमल नाल को खोद डालता है अथवा खोदने में सफल होता है। उसी प्रकार यह सरस्वती नदी विशाल लहरों से पर्वतों की चोटियों को सरलता से तोड़ कर आगे बढ़ती चली जाती है। अपनी रक्षा के लिये श्रेष्ठ स्तुतियों के द्वारा तथा (शुभ) कर्मों के द्वारा दोनों किनारों को तोड़ने वाली सरस्वती नदी की हम पूजा करें, स्तुति करें, प्रशंसा करें, यजन करें।

यह सरस्वती नदी बलवान तरंगों के पर्वतों के शिखर को उसी प्रकार तोड़ देती है. जिस प्रकार कमलनाल खोदने वाला व्यक्ति आसानी से कमलनाल खोद डालता है। यहाँ पठित "शुष्म" शब्द बल वाचक है, क्योंकि वह सुखा देता है। भेदनार्थक अथवा वृद्ध्यर्थक विस् धातु से "बिसम्" शब्द बनता है, क्योंकि यह "बिस" बड़ी सरलता से टूट जाता है और बढ़ता भी खूब है। कमलनाल (बिस) पौष्टिक भी होता है। सानु शब्द का अर्थ शिखर (चोटी) होता है। समुच्छ्रितं ऊँची अर्थात् उठी हुई होती है। समुन्नुन्नम्=वह भली-भाँति ऊपर को प्रेरित होती है। महद्भिः ऊर्मिभिः=बड़ी बड़ी लहरों से, पारं परं=नदी के दोनों तटों को तोड़ने में समर्थ।

(अथोदकनाम-निर्वचनम्)

मूल—उदक-नामान्युत्त राण्येक-शतम् ।

अर्थ—अब आगे कहे जाने वाले १०० नाम जल के हैं।

मूल—उदकं कस्मात् ?—उनत्तीति सतः ।

अर्थ—उदक शब्द कैसे बनता है ? उन्दी क्लेदने धातु से उदक शब्द की सिद्धि होती है, क्योंकि उदक भिगोता है, गीला करता है, इसलिये उदक कहते हैं।

(अथ नदीनाम्-निर्वचनम्)

मूल—नदी-नामान्युत्तराणि सप्तत्रिंशत् ।

अर्थ—अग्रिम ३७ नाम नदी के हैं ।

मूल—नद्यः कस्मात् ?—नदना इमा भवन्ति शब्दवत्यः ।

अर्थ—नदी किस लिये कहा जाता है ? क्योंकि ये शब्द करती हुई बहती है अर्थात् नदियाँ शब्द कर्म वाली होती हैं ।

मूल—बहुलमासां नैघण्टुकं वृत्तम् आश्चर्यमिव प्राधान्येन ।

तत्रेतिहासमाचक्षते—विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव । विश्वामित्रः सर्वमित्रः । सर्वं संसृतम् । सुदाः कल्याण-दानः । पैजवनः पिजवनस्य पुत्रः । पिजवनः पुनः स्पर्द्धनीय-जवो वाऽमिश्रीभाव-गतिर्वा । स वित्तं गृहीत्वा विपाट्छतुद्रयोः सम्भेदमाययौ । अनुययुरितरे । सविश्वामित्रो नदीस्तुष्टाव । 'गाधा भवत' इति । अपि द्विवदपि बहुवत् । तद्यद् द्विवदुपरिष्टात्तद् व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—प्रस्तुत नदियों के ३७ नामों का वेदों में अप्रधान अर्थात् गौण रूप से वर्णन दिखाई पड़ता है । दूसरे देवतावाचक मन्त्रों के प्रसंग में इन नदियों के नामों का वर्णन प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है । परन्तु इनका वर्णन मुख्य रूप में बहुत कम आश्चर्य के समान प्राप्त होता है अर्थात् जिस प्रकार जीवन में आचार्य कभी ही कभी दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार इन नदियों के ३७ नामों का मुख्य रूप से वर्णन मन्त्रों में बहुत कम प्राप्त होता है । परन्तु अप्रधान रूप में इनका वर्णन प्रचुर मात्रा में मिलता है । उन नदियों के विषय में प्रसिद्ध इतिहास को कहते हैं—

अर्थ—विश्वामित्र नामक ऋषि पिजवन के पुत्र, राजा सुदास के पुरोहित थे । विश्वामित्र शब्द का अर्थ सब के मित्र अर्थात् समस्त लोकों के मित्र हैं । सर्वं संस्मृतम् इस शब्द का अर्थ है, सब कहीं गया हुआ अर्थात् सर्वव्यापी । सर्व शब्द की सिद्धि "सृ" गतौ धातु से होती है । पैजवनः पिजवनस्य पुत्र = पिजवन का पुत्र पैजवन कहा जाता है । पिजवन शब्द का अर्थ है स्पर्धा के योग्य तीव्र

गति वाला । **अभिश्रीभावगतिः वा** = अथवा जिसके समान गति का मिलना दुर्लभ है अर्थात् अत्यन्त तीव्र गति वाला । वह धन लेकर विपाट और शतुद्री नामक नदियों के **संभेदम्** संगम स्थान पर आया । अन्य लोगों ने उस पिजवन के लड़के का अनुसरण किया । उस विश्वामित्र ने नदियों की स्तुति की । गाधा भवत इति—हे नदियों ! तुम सब थाह वाली अर्थात् स्वल्प जल वाली हो जाओ । उस नदी का वर्णन द्विवचन तथा बहुवचन में भी किया जाता है । उस नदी का वर्णन द्विवचन तथा बहुवचन में भी किया जाता है । उस में जो वर्णन द्विवचन में किया गया है उसकी व्याख्या आगे करेंगे ।

मूल—अथैतद् बहुवत्—

अर्थ—अब यहाँ बहुवचन वाला वर्णन प्रस्तुत किया जाता है ।

मूल—'रमध्वं मे वचसे सोम्याय ऋतावरीरूप मुहूर्त्तमेवैः ।
प्रसिन्धुमच्छा वृहती मनोषावस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः ॥'
(३।३३।५)

उपरमध्वं मे वचसे सोम्याय सोम-सम्पादिने । ऋतावरीऋतवत्यः । ऋतमित्युदक-नाम प्रयुत्तं भवति । 'मुहूर्त्तमेवैः' अयनैरवनैर्वा । मुहूर्त्तो मुहूऋ तुः ऋतुरर्त्तेर्गति-कर्मणः । मुहुर्मुह्ल इव कालो यावदभीक्ष्णं चेति । अभीक्ष्णमभिक्षणं भवति । क्षणः क्षणोतेः प्रक्ष्णुतः कालः । कालः कालयतेर्गति-कर्मणः । प्राभिह्वयामि सिन्धुं बृहत्या महत्या मनीषया मनस ईषया स्तुत्या प्रज्ञया वा अनवाय । कुशिकस्य सूनुः । कुशिको राजा बभूव । क्रोशतेः शब्द-कर्मणः क्रंशतेर्वा स्यात् प्रकाशयति-कर्मणः । साधु विक्रोशयितार्थानामिति वा ।

मन्त्रार्थ—हे ऋतावरी अर्थात् अत्यन्त जल से परिपूर्ण नदियों ! थोड़ी देर अर्थात् कुछ समय के लिये मेरे इन सौम्य अर्थात् शान्त वचनों को सुनने के लिये इस जल के अत्यधिक वेग से रुक जाओ अर्थात् जल का वेग कम कर लो और **एवैः** = **अवनैः** (मेरी) रक्षा के लिये अथवा **अयनैः** गमन के लिये जल का वेग कम कर लो । मैं कुशिक का पुत्र विश्वामित्र **अवस्यु** गमन करने की इच्छा रखने

वाला वृहती मनीषा बहुत बड़ी मन की अभिलाषा से सिन्धु नदी को प्र अच्छा अह्वे = भली-भाँति सम्बोधित करता हूँ । यहाँ अभि उपसर्ग के स्थान पर "अच्छ" का प्रयोग किया गया है ।

सोम्याय सोम सम्पादिने = सौम्य अर्थात् शान्तिवाचक वचनों को बोलने वाले के लिये । **ऋतावरीऋतवत्यः** = ऋतावरी शब्द अर्थ जल से पूर्ण है **ऋतम् इति** = यह शब्द जल का वाचक है । **प्रत्यृतम् भवति** = सब कहीं व्याप्त है अर्थात् सब कहीं प्राप्त होता है । **एवैः अवनैः अयनैः वा** = एव का अर्थ रक्षा करना अथवा गमन करना है । अव् रक्षणे धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर तृतीया बहुवचन में **अवनैः** बनता है और इण् गतौ धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर तृतीया बहुवचन में **अयनैः** बनता है । **मुहूर्त्तः**—अत्यल्प, ऋतुः समय, ऋ गतौ धातु से ऋतुः बनता है । अतः ऋतु शब्द का अर्थ समय होता है । **मुहुः मूढ इव कालः** = मुहः शब्द का अर्थ मूढ सा समय अथवा जिसका परिज्ञान न हो सके अत्यल्प समय । इस प्रकार **मुहुः** और **ऋतु** शब्दों के संयोग से मुहूर्त्त निष्पन्न हो जाता है । यावत् **अभीक्ष्णं च** = अभीक्ष्ण शब्द और मुहूर्त्त शब्द दोनों समान अर्थ वाले हैं अर्थात् दोनों शब्दों का अर्थ अत्यल्प समय है । अभीक्ष्ण शब्द का प्रयोग क्षणमात्र के लिये किया गया है । क्षण शब्द की सिद्धि हिंसार्थक क्षण् धातु से होती है । **प्रक्ष्णुतः कालः** = हिंसित समय अर्थात् अत्यल्प समय । **कालः कालयतेः गति कर्मणः** = गत्यर्थक काल् धातु से शब्द की सिद्धि होती है क्योंकि यह काल समस्त स्थावर जंगम को कवल कर जाता है, नष्ट कर देता है । क्रुश् शब्दे धातु से कुशिकः बनता है । कुशिकः सदैव शब्द करता है कि सत्कर्म करो, सत्कर्म करो अथवा विद्वान् और उपदेश देने वाला है अथवा प्रकाशित करने के अर्थ में क्रुश् धातु से कुशिक शब्द निष्पन्न होता है । अतः जो सन्मार्ग अथवा सद्धर्मों का प्रकाश करे, उपदेश दें सर्वसाधारण को सन्मार्ग में प्रवृत्त करें, धर्मों का महत्त्व प्रकाशित करें उसे कुशिक कहते हैं अथवा जो अर्थानां साधुः विक्रोशयिता = धनों को पर्याप्त मात्रा में दान करने वाला हो, उसे कुशिक कहते हैं । इस प्रकार का अर्थ करना चाहिये ।

मूल—नद्यः प्रत्यूचुः ।

अर्थ—विश्वामित्र के वचन को सुनकर नदियों ने उत्तर दिया ।

मूल—"इन्द्रो अस्माँ अरदद्वज्रबाहुरपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनाम्।
देवोऽनयत् सविता सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः॥"
(३।३३।६)

'इन्द्रो अस्मान् अरवदज्र-बाहुः' ! रदतिः खनतिकर्मा। 'अपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनाम्' इति व्याख्यातम्। देवोऽनयत् सविता सुपाणिः' कल्याणपाणिः। पाणिः पणायतेः पूजा कर्मणः। प्रगृह्य पाणी देवान् पूजयन्ति। 'तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः। उर्व्य उर्णोतिर्वृणोतेरित्यौर्णवाभः।

अर्थ—हाथ में वज्र लिये हुये इन्द्र ने हम सबको खोदा है और सुनो नदियों के जल को धारण करने वाले वृत्र नामक मेघ को मार कर अर्थात् भेद कर, तोड़ कर वृत्र नामक मेघ के अधिकृत क्षेत्र में रुके हुये जल को बरसाया, नीचे गिराया जिससे जल की तीव्र धारा से नदियाँ खुद गईं। फिर हम सबको उत्पन्न करने वाला सुन्दर हाथ वाला, इन्द्र समुद्र के पास ले गया अर्थात् समुद्र से जोड़ दिया। उस इन्द्र की आज्ञा से फैली हुईं हम सब नदियाँ उसी समुद्र के पास जा रही हैं ! खननार्थक रद् धातु से रदतिः बनता है जिसका अर्थ खोदने वाला है। सुपाणिः=समुद्र हाथ है जिसके वह अर्थात् सुन्दर हाथों वाला, पाणिः पाणायतेः पूजा कर्मणः=पूजार्थक पण् धातु से पाणि शब्द की सिद्धि होती है।

क्योंकि दोनों हाथों को जोड़ कर पूजा अथवा प्रार्थना की जाती है। उर्व्यः ऊर्णोतिः=आच्छनार्थक "ऊर्णुञ्" धातु से उर्वी शब्द निष्पन्न होता है। अथवा आच्छादनार्थ वृञ् धातु से उर्वी शब्द की सिद्धि होती है। इति और्णवाभः=ऐसा और्णवाभ नामक निरुक्तकार का कथन अथवा मत है। उर्वीः (हम नदियाँ इन्द्र के द्वारा आदिष्ट) स्थानों का अनुसरण करती हुईं, इन्द्र की आज्ञा पालन करने के लिये जा रही है। अतः हे विश्वामित्र मुझको वह स्वामी इन्द्र ही आज्ञा प्रदान कर सकते हैं तुम नहीं। अतः हम नदियाँ आपके कथन से अल्प जल वाली नहीं हो सकती हैं। नदियों ने यह उत्तर विश्वामित्र को दिया।

मूल—प्रत्याख्यायान्तत आशुश्रुवुः।

अर्थ—इस प्रकार पहले तो नदियों ने विश्वामित्र के कथन का निषेध किया, परन्तु फिर बाद में विश्वामित्र को आश्वासन प्रदान किया और विश्वामित्र की प्रार्थना को मान लिया।

मूल—"आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन।
नि ते नसै पीप्यानेव योषा मर्य्यायेव कन्या शश्वचैते॥"
(ऋ० ३।३३।१)

आ शृण्वाम ते कारो वचनानि याहि दूरादनसा रथेन च निनमामते पाययमानेव योषा पुत्रम् मर्य्यायेव कन्या परिष्वजनाय निनमा इति वा।

मन्त्रार्थ—हे कारो! अरे स्तोत्रों की रचना करने वाले तेरे कथन को हम नदियाँ मान लेती हैं। तुम दूर से आ रहे हो, इसलिये थक गये हो। गाड़ी से अथवा रथ से चले जाओ। शिशु को दूध पिलाने वाली नारी के समान तुम्हारे लिए हम नदियाँ झुक जाती हैं अर्थात् स्वल्प जल वाली हो जाती हैं अर्थात् जिस प्रकार नारी झुककर शिशु को दूध पिलाती है, उसी प्रकार हम नदियाँ भी तेरे लिए झुक जाती हैं अर्थात् स्वल्प जल वाली हो जाती हैं। जिस प्रकार मनुष्य के लिए नव विवाहित लड़की आलिङ्गन के लिए झुक जाती है। कारो! हे स्तोत्रों की रचना करने वाले विश्वामित्र! हम तेरे कथन को स्वीकार कर रही हैं अर्थात् स्वल्प जल वाली हो रही हैं।

कारो! यह सम्बोधन वाचक शब्द है जिसका अर्थ है कि हे स्तोत्रों की रचना करने वाले! ते **वचनानि**=तुम्हारे कथन को, **आशृण्वाम**—मानने की प्रतिज्ञा करती हैं अर्थात् मान लेती हैं। **दूरात्**=दूर से आये हो थक रहे हो इसलिये हम तेरे कथन का आदर करती हैं। **अनसा**=गाड़ी से, **रथेन च**= अथवा रथ से याहि चले=जाओ। **पुत्रं पाययमाना योषा इव**=दूध को पिलाती हुई नारी के समान, ते **निनमाम**=तुम्हारे लिए झुक जाती है। **कन्या**=नवविवाहित स्त्री, **मर्य्याय**=मनुष्य के लिए, **परिष्वजनाय**=आलिङ्गन के लिए झुक जाती हैं इसी प्रकार हम नदियाँ भी तेरे लिये झुक जाती हैं अर्थात् स्वल्प जल वाली हो जाती हैं।

(अथाश्वनाम-निर्वचनम्)

मूल—अश्व-नामान्युत्तराणि षड्विंशतिः।

अर्थ—अब आगे के २६ नाम घोड़े के हैं।

मूल—तेषामष्टा उत्तराणि बहुवत्।

अर्थ—उन २६ नामों में से अन्तिम आठ नाम बहुवचनान्त हैं।

मूल—अश्वः कस्मादश्नुतेऽध्वानम्। महाशनो भवतीति वा।

अर्थ—यह अश्व नाम कैसे कहा जाता है? क्योंकि वह (अश्व) रास्ते को व्याप्त कर लेता है। वह बहुत तीव्र गति से दौड़ता है, क्योंकि वह बहुत खाता है। अश्व शब्द की सिद्धि "अशुङ् व्याप्तौ" धातु से होती है अथवा अश् भोजने धातु से अश्व शब्द की सिद्धि होती है।

मूल—तत्र दधिक्रा इत्येतद् दधत् क्रामतीति वा, दधत् क्रन्दतीति वा, दधदाकारी भवतीति वा।

अर्थ—उन २६ नामों से दधिक्रा यह नाम इस प्रकार बनता है, जो बागडोर पकड़ते ही, सवार के बैठते ही चलने लगता है अथवा बागडोर पकड़ते ही, शब्द करने लगता है अर्थात् हिनहिनाने लगता है। अथवा धारण करते ही विशेष प्रकार की आकृति वाला हो जाता है। जिस समय घोड़े पर सवार बैठता है उस समय घोड़े की आकृति का ढंग कुछ विशेष प्रकार का हो जाता है, बदल जाता है। घोड़ा मध्यभाग को (पीठ को) झुका लेता है और मुख को ऊपर उठा लेता है। अतः सवार के बैठते ही घोड़े की आकृति कुछ बदल अवश्य जाती हैं।

मूल—तस्याश्ववद्देवतावच्च निगमा भवन्ति।

अर्थ—उस दधिक्रा नामक घोड़े के लिए मन्त्र दो प्रकार के होते हैं अर्थात् घोड़े के समान (घोड़े की प्रशंसावाचक मन्त्रों) की रचना और देवता तथा घोड़े के मिले हुए मन्त्र अर्थात् घोड़े का वर्णन देवता के समान मन्त्रों के द्वारा किया जाता है।

मूल—तद्यद्देवतावदुपरिष्टात्तद् व्याख्यास्यामः।

अर्थ—जो घोड़े का वर्णन देवता के समान किया गया है, उसकी व्याख्या आगे करेंगे। पहले यहाँ घोड़े सम्बन्धी वर्णन किया जाता है।

मूल—अथतदण्ववत्।

अर्थ—अब यहाँ जो घोड़े सम्बन्धी वर्णन है उसका यह प्रस्तुत विवेचन देखिए।

मूल—"उत स्य वाजी क्षिपणि तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपि कक्ष आसनि ।
ऋतुं दधिक्रा अनु सन्तवीत्वत्पथामङ्कास्यन्वापनीफणत् ॥"
(ऋ० ४।४०।४)

मूल—अपि स वाजी वेजनवान् क्षेपणमनु तूर्णमश्नुतेऽध्वानम् । ग्रीवायां बद्धः' । ग्रीवा गिरतेर्वा गृणातेर्वा गृह्णातेर्वा । अपि कक्ष आसनीति व्याख्यातम् । 'ऋतुं दधिक्राः' कर्म वा प्रज्ञां वा । 'अनुसन्तवीत्वत् तनोतेः पूर्वया प्रकृत्या निगमः । 'पथामङ्कांसि' पथां कुटिलानि । पन्थाः पततेर्वा पद्यतेर्वा पन्थतेर्वा । अङ्कोऽञ्चतेः । आपनीफणदिति फणतेश्चर्करीतवृत्तम् ।

मन्त्रार्थ—यह घोड़ा गर्दन पर बंधा हुआ बगल में और मुख भाग में भी बंधा हुआ प्रेरित होते ही अर्थात् चाबुक का संकेत पाते ही चलने लगता है। यह दधिक्रा नामक विशेष घोड़ा रास्ते की विषम एवं ऊँची नीची भूमियों को कूद जाता है । कार्य को अर्थात् अपने गमन रूप कार्य को लक्ष्य करके अथवा सवार को गन्तव्य स्थान पर शीघ्र पहुंचने के कार्य को लक्ष्य करके पूर्ण करता है । **अपि स वाजीवेजनवान्** = वह तेज गति वाला घोड़ा, **क्षेपणमनु** = चाबुक लगते ही, **तूर्णम् अश्नुते अध्वानम्** = जल्दी ही रास्ते में व्याप्त हो जाता है अर्थात् चल पड़ता है अथवा जल्दी ही रास्ता तय कर डालता है। ग्रीवा शब्द की सिद्धि इस प्रकार होगी । 'गृ' निगरणे धातु से अथवा गृ धातु से ग्रीवा शब्द बनता है क्योंकि वह अन्न को निगल जाता है अथवा ग्रीवा से शब्द निकलता है। अथवा गृह् धातु से ग्रीवा शब्द बनता है क्योंकि वह गर्दन में ही जल अन्न आदि का ग्रहण करता है । **कक्षे आसनि व्याख्यातम्** = कक्षे तथा आसनि शब्दों की व्याख्या पहले ही की जा चुकी है, अतः यहाँ आवश्यक नहीं है । **ऋतुं कर्म वा प्रज्ञां वा** ऋतु शब्द का अर्थ कर्म अथवा बुद्धि होता है । **सन्तवीत्वत् तनोतेः पूर्वया प्रकृत्या निगमः** = सन्तवीत्वत् = यह शब्द तनु विस्तारे धातु की पहली प्रकृति से बनता है । (१) प्रकृत्यन्त, (२) सन्नन्त, (३) यङन्त, (४) यङ्लुक आदि धातु के ६ प्रकार होते हैं। उन ६ में तनु धातु की पहली प्रकृति का यह "सन्तवीत्वत्" रूप है । **पन्थाः** शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार है पत् अथवा पन्थ् धातु से पन्थाः शब्द की सिद्धि होती है । पत्, पद्, तथा पन्थ् ये तीनों धातुएं

गत्यर्थक है। जो प्रस्थान करें अथवा जिस पर चले उसे पन्था कहते हैं। अङ्क शब्द की सिद्धि अञ्चु गतौ धातु से होती है। आपनीफणत् यह क्रिया रूप यङ् लुगन्त में फण् धातु से निष्पन्न होता है। चर्करीतं यह शब्द व्याकरण शास्त्र का एक यङ् लुङ्गन्त क्रिया का वाचक है अर्थात् चर्करीत शब्द से यङ् लुङ्गन्त का संकेत (नाम) कथन किया जाता है।

(अथादिष्टोपयोजन-निर्वचनम्)

मूल—दशोत्तराण्यादिष्टोपयोजनानीत्याचक्षत साहचर्य-ज्ञानाय।

अर्थ—आगे के घोड़े से सम्बन्धित जो दश नाम हैं, उनका व्यवहार इन्द्र आदि देवताओं के साथ निश्चित है और जिन देवताओं के साथ घोड़े के सम्बन्ध का कथन नहीं किया गया है वहाँ साहचर्य सम्बन्ध से पता लगा लेना चाहिए ऐसा वेद को जानने वाले विद्वानों ने कहा है कि "हरी इन्द्रस्य" रोहितः अग्नेः इत्यादि अर्थात् इन्द्र ने अश्व का नाम हरी और अग्नि के अश्व का नाम रोहित है।

(ज्वलति कर्मधातु-निर्वचनम्)

मूल—ज्वलति-कर्मणी उतरे धात्तव एकादश।

अर्थ—आगे की ११ धातुएँ ज्वलनार्थक तथा दीप्त्यर्थक हैं।

(अथ ज्वलन्नाम-निर्वचनम्)

मूल—तावन्त्येवोतराणि ज्वलतो नामधेयानि नामधेयानि।

अर्थ—जितने नाम (११) ज्वलनार्थक धातुओं के हैं उतने ही ११ नाम जलते हुये पदार्थ के तथा तेजस्वी पदार्थ के हैं। इसमें पठित दूसरा नामधेय शब्द द्वितीय अध्याय की समाप्ति का सूचक है अर्थात् दूसरे नामधेय शब्द के माध्यम से अध्याय की समाप्ति की सूचना दी गई है।

(इति निरुक्त-व्याख्यायां द्वितीयोऽध्यायः)

अथ सप्तमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

मूल—अथातो दैवतम् ।

अर्थ—अब नैघण्टुक और नैगमकाण्ड का विवेचन करने के पश्चात् दैवत-काण्ड का प्रारम्भ कर रहे हैं।

मूल—तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां तद् दैवतमित्याचक्षते ।

अर्थ—यहाँ पठित तत् शब्द प्रारम्भार्थ का सूचक है। मुख्य रूप से जिन देवताओं की स्तुति की गई है, उन अग्नि इन्द्र, वरुण आदि देवताओं के जो नाम हैं उनका निर्वचन जिस प्रकरण अथवा काण्ड में किया गया है, उसको आचार्य लोग दैवत प्रकरण अथवा दैवत काण्ड कहते हैं।

मूल—सैषा देवतोपपरीक्षा ।

अर्थ—वह, यह देवताओं की परीक्षा अर्थात् पर्यालोचन है। अर्थात् एक एक प्रसंग प्राप्त देवता का सम्यक् विवेचन किया जाता है।

मूल—यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद् दैवतः स मन्त्रो भवति ।

अर्थ—जिस किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा रखता हुआ ऋषि जिस देवता की स्तुति करने पर अभीष्ट धन प्राप्ति अथवा धन का स्वामी होने की इच्छा करता हुआ स्तुति करता है, वह मन्त्र दैवत होता है अर्थात् जिस देवता को मुख्य मानकर स्तुति करता है वह मन्त्र उसी देवता का समझना चाहिए।

मूल—तास्त्रिविधा ऋचः। परोक्षकृताः। प्रत्यक्षकृताः। आध्यात्मिक्यश्च ।

अर्थ—वे ऋचाएँ तीन प्रकार की होती हैं।

(१) जो ऋचाएँ परोक्ष रूप से किसी अर्थ को प्रकाशित करती हैं वे परोक्षकृत ऋचायें होती हैं।

(२) जो प्रत्यक्ष रूप से किसी अर्थ को प्रकाशित करती हैं, उन ऋचाओं को प्रत्यक्षीकृत कहते हैं।

(३) जो ऋचाएँ आत्मा तथा परमात्मा सम्बन्धी आध्यात्मिक भावना के अर्थ को प्रकाशित करती हैं उन ऋचाओं को आध्यात्मिक ऋचाएँ कहते हैं।

मूल—तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य।

अर्थ—उन तीन प्रकार के मन्त्रों में जो परोक्षकृत मन्त्र हैं वे सम्पूर्ण विभक्तियों तथा तिङन्त के प्रथम पुरुष से युक्त होते हैं। अब यहाँ प्रत्येक विभक्ति का क्रमशः उदाहरण निम्न प्रकार देखिये।

मूल—इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः। (ऋ० (१०।८९।१०)

अर्थ—इन्द्र द्युलोक तथा भू-लोक का स्वामी है। इस मन्त्र में प्रयुक्त इन्द्र शब्द प्रथमान्त है और ईशे यह प्रथम पुरुष की क्रिया है।

मूल—इन्द्रमिद् गाथिनो बृहत्। (ऋ० १।७।१)

अर्थ—हे सामगान करने वालो ! इन्द्र की ही उत्तम गान के द्वारा प्रार्थना करो, यशोगान करो। यहाँ द्वितीयान्त इन्द्र शब्द का प्रयोग किया गया है।

मूल—इन्द्रणैते तृत्सवो वेविषाणाः। (ऋ० ७।१८।१५)

अर्थ—इन्द्र के द्वारा भेदने योग्य ये मेघ बार-बार (आकाश में) इधर-उधर दौड़ते हुए व्याप्त हो रहे हैं। यहाँ इन्द्र शब्द में तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया है। अतः यह तृतीयान्त विभक्ति का उदाहरण है।

मूल—इन्द्राय साम गायत। (ऋ० ८।९८।१)

अर्थ—इन्द्र के लिये सामगान करो। यहाँ इन्द्र शब्द में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग किया है। अतः यह चतुर्थी विभक्ति का उदाहरण है।

मूल—नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन। (ऋ० ९।६९।६)

अर्थ—इन्द्र के बिना कोई किसी स्थान को भी पवित्र नहीं करता है। यहाँ इन्द्र शब्द में पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग किया है। अतः यह पञ्चमी विभक्ति का उदाहरण है।

मूल—इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम् (ऋ० १।३२।१)

अर्थ—अब मैं इन्द्र के प्रतापों को कहता हूँ। यहाँ इन्द्र शब्द में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया है। अतः यह षष्ठी विभक्ति का उदाहरण है।

मूल—इन्द्र कामा अयंसत, इति।

अर्थ—इह-लौकिक तथा पार-लौकिक जो भी मनुष्यों की अभिलाषायें हैं, वे सब इन्द्र में ही बंधी हुई हैं अर्थात इच्छाओं के एकमात्र पूरक इन्द्र ही हैं। यहाँ इन्द्र शब्द में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग क्रिया गया है। अतः यह सप्तमी का उदाहरण है।

मूल—अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगाः। त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना। "त्वमिन्द्र बलादधि" (ऋ० १०।१५३।२) "वि न इन्द्र मृधो जहि"। (ऋ० १०।१५२।४) इति।

अर्थ—अब प्रत्यक्षकृत मन्त्र मध्यम पुरुष की क्रिया और त्वम् इस सर्वनाम से युक्त रहते हैं। इसका उदाहरण देते हुए कहा है कि हे इन्द्र! तुम बल से उत्पन्न हुए हो अर्थात् तुम बल का अवतार हो। यहाँ पठित त्वम् शब्द सर्वनाम वाचक है और इसी मन्त्र में प्रयुक्त 'असि' क्रिया मध्यम पुरुष की क्रिया है। हे इन्द्र! तुम हमारे हिंसक शत्रुओं को नष्ट कर दो अर्थात् मार डालो।

मूल—अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति। परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि। "मा चिदन्यद्विशंसत" (ऋ० ८।१।१) "कण्वा अभि प्रगायत" (ऋ० १।३७।१) 'उप प्रेत कुशिकाश्चेतयध्वम्" (ऋ० ३।५३।११) इति।

अर्थ—और कहीं पर स्तुति करने वाले प्रत्यक्षकृत होते हैं और स्तुति के योग्य देवता परोक्षकृत होते हैं। उदाहरण के लिये निम्न उदाहरण देखिये— (१) हे मित्रो! यह पद पूर्ति के लिये है। इन्द्र को छोड़कर किसी अन्य देवता

की अनेक स्तुतियाँ मत करो। (२) हे तीव्र बुद्धि ऋत्विजो! तुम लोग पर्याप्त मात्रा में स्तुति करो। (३) जोर से शोर करने वालो हे कुशिक ऋत्विजो! जाओ और तुम सब जानो।

मूल—अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगाः। अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना।

अर्थ—जिन ऋचाओं अथवा मन्त्रों का सम्बन्ध उत्तम पुरुष की क्रियाओं तथा "अहम्" इस सर्वनाम से है। ऋचाओं को अथवा मन्त्रों को आध्यात्मिक मन्त्र कहते हैं।

मूल—यथैतदिन्द्रो वैकुण्ठः। लवसूक्तम्। वागाम्भृणीयमिति।

अर्थ—ये तीनों सूक्त (१) इन्द्र वैकुण्ठ नामक सूक्त (२) लव सूक्त और (३) वागाम्भृणीय सूक्त आध्यात्मिक सूक्त हैं।

उदाहरण—इन्द्र वैकुण्ठ सूक्त का उदाहरण यह है "अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिः" मैं इन्द्र ही समस्त धनों का प्रथम स्वामी हूँ और रहूँगा। लव सूक्त का उदाहरण—'इति वा इति मे मनो गामश्वं अनुयामिति" इस प्रकार मेरा मन इच्छा करता है कि मैं इस यजमान को गाय और घोड़े प्रदान कर दूँ। वागाम्भृणीय सूक्त का उदाहरण—"अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि" मैं रुद्र और वसु नामक देवताओं के साथ विचरण करता हूँ।

मूल—परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठाः। अल्पशः आध्यात्मिकाः।

अर्थ—परोक्षकृत तथा प्रत्यक्षकृत मन्त्र बहुत हैं और आध्यात्मिका मन्त्र कम हैं।

मूल—अथापि स्तुतिरेव भवति नाशीर्वादः। "इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम्" (ऋ० १।३२।१) इति। यथैतस्मिन्सूक्ते।

अर्थ—कहीं-कहीं सूक्तों में केवल स्तुति परक ही मन्त्र हैं, आशीर्वादात्मक नहीं है अर्थात् अपने लिये वस्तु की कामना नहीं की है। जैसे—"इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्" इन्द्र के प्रतापों को कहता हूँ, इत्यादि सूक्त में केवल स्तुति परक ऋचाएँ ही प्राप्त होती हैं।

मूल—अथाप्याशीरेव न स्तुतिः "सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासम्। सुवर्चामुखेन"। सुश्रुत्कणाभ्यां भूयासम्। इति। तदेतद्बहुलमाध्वयवे याज्ञेषु च मन्त्रेषु।

अर्थ—और कहीं तो केवल कामना की गई है, स्तुति नहीं है। जैसे—"अहमक्षीभ्यां भूयासम् सुश्रुत कर्णाभ्यां भूयासम्" मैं आँखों से भली-भाँति देखने वाला और मुख से तेजस्वी होऊँ और कानों से भली-भाँति सुनने वाला होऊँ। वह यह कामना परक मन्त्र यजुर्वेद में प्राप्त होते हैं अथवा यज्ञकर्म प्रधान वेद के मन्त्रों में कामना परक मन्त्र प्राप्त होते हैं।

मूल—अथापि शपथाभिशापौ। "अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि। अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः" (ऋ० ७।१०४।१५) इति।

अर्थ—और कहीं-कहीं पर कसम खाने और शाप देने का वर्णन मन्त्रों में प्राप्त होता है। जैसे—"अद्या मुरीय यदि यातुधानोऽस्मि" मैं आज ही मर जाऊँ यदि मैं राक्षस होऊँ अर्थात् राक्षस होकर एक दिन के लिये भी जीवित रहने की इच्छा नहीं करता हूँ। जो दुष्ट व्यक्ति राक्षस न होते हुए भी मुझ को राक्षस कहता है, वह दस वीर पुत्रों से वियुक्त हो जाये अर्थात् पुत्र मृत्यु को प्राप्त होवे। यहाँ पहले उदाहरण में शपथ खाने की और दूसरे उदाहरण में शपथ देने का वर्णन किया गया है। अतः कुछ मन्त्र शपथ खाकर अपनी आत्मा की शुद्धि का प्रमाण देते हैं और कुछ मन्त्र मिथ्या दोष लगाने वाले के लिये अभिशापकारक भी प्राप्त होते हैं।

मूल—अथापि कस्यचिद्भावस्याचिख्यासा। "न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि" (ऋ० १०।१२९।२)। "तम आसीत्तमसा गूलहमग्रे" (ऋ० १०।१२९।३)।

अर्थ—और कहीं पर किसी भाव विशेष अथवा तत्त्वज्ञान जानने की अभिलाषा प्रकट की गई है। जैसे—"न मृत्युरासीदमृत न तर्हि" तम आसीत्तमसा गूलहकग्रे" अर्थात् उस प्रलय काल में न मृत्यु ही थी और न मोक्ष ही

था। संसार की सृष्टि से पूर्व सब कुछ अन्धकार से ढका हुआ था अर्थात् अन्धकार ही अन्धकार था।

मूल—अथापि परिदेवना कस्माच्चिद्भावात्। सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत् (ऋ० १०।९५।१४)। "न वि जानामि यदि वेदमस्मि" (ऋ० १।१६४।३७)।

अर्थ—कहीं पर किसी विशेष भावनावश विलाप किया गया है। जैसे—"सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्" "न वि जानामि यदि वेदमस्मि" सुन्दर देव वह है जो प्रिया उर्वशी से विरही होकर भृगु के समान फिर वापस न आवे और आज ही प्राणों को छोड़ दे, परन्तु मैं अपनी कमजोरी के कारण ऐसा नहीं कर सकता हूँ। मैं नहीं जानता हूँ कि मैं यहीं हूँ अर्थात् शरीरधारी ही हूँ या कुछ और हूँ अर्थात् शरीर से परे आत्मा भी है, यह मैं कुछ नहीं जानता हूँ। दीर्घतमा नामक ऋषि का यह पश्चाताप है। यह पश्चाताप उस समय किया जब दीर्घतमा मुनि अनेक वर्षों तक इस परिवर्तनशील संसार में अनेक बार बुढ़ापा, रोग आदि कष्टों को भोगते-भोगते थक गये, परेशान हो गये थे।

मूल—अथापि निन्दाप्रशंसे। 'केवलाघो भवति केवलादी" (ऋ० १०।११७।६)। "भोजस्येदं पुष्करिणीव वेशम" (ऋ० १०।१०७।१०) इति। एवमक्षसूक्ते द्यूतनिन्दा च कृषिप्रशंसा च।

अर्थ—इसके अतिरिक्त कहीं पर किसी वस्तु विशेष की निन्दा और कहीं किसी वस्तु की प्रशंसा की गई है। जैसा कि निम्न प्रकार देखिये—

जो व्यक्ति अपने आश्रय में होने वालों को न खिलाकर, देवता और पितरों का भाग न देकर अकेले ही स्वयं खाता है, ऐसा पेटू व्यक्ति केवल पाप का ही भोक्ता होता है, पुण्य का भागी नहीं होता है। इस प्रकार आश्रितों, देवताओं और पितरों आदि के भाग को हड़प कर खाने वाले की निन्दा की गई है। अतः केवल अपना पेट भरने वाला निन्दनीय होता है। दाता की प्रशंसा करते हुए निम्न उदाहरण दिया है—

जिस व्यक्ति ने सदैव दान देने में और धर्म के अनुकूल आचरण में समय व्यतीत किया, उसकी प्रशंसा में कहा है कि महादानी राजा भोज का यह

प्रासाद उसी प्रकार सुशोभित हो रहा है, जिस प्रकार जलाशय कमल हंस आदि से सुशोभित होता है। अतः यथावसर मन्त्रों के माध्यम से निन्दा और प्रशंसा भी की गई है।

इसी प्रकार अक्ष सूक्त में द्यूत क्रीडा की निन्दा और कृषि-कार्य की प्रशंसा की गई है। उदाहरणार्थ निम्नस्थ मन्त्र दर्शनीय है—

मूल—अक्षैर्मादीव्यः कृषिमिति कृषस्व वित्तेरमस्व बहुमन्यमानः।
तत्र गावः कितवः तत्र जायातन्मेविचष्टे सवितायमर्य्यः॥

अर्थ—हे द्यूत कर्म निरत ! कितव ! (जुआरी) द्यूत (जुआ) मत खेलो, खेती का नाम करो, परिश्रम से अर्जित धन में ही सन्तोष करो और परिश्रम से प्राप्त धन को ही बहुत समझता हुआ अर्थात् उतने का ही आदर करता हुआ पाप कर्म से धनार्जन की भावना का परित्याग करो। खेती से ही उत्तम गायें और श्रेष्ठ स्त्री प्राप्त होगी। यह सृष्टि को जन्म देने वाले सविता ने (ईश्वर) मुझे (मन्त्र को) यह आपसे कहने के लिये प्रेरित किया है। इस प्रकार परिश्रम से अर्जित धन की प्रशंसा और असत्कर्म द्वारा अर्जित धन की निन्दा की गई है।

मूल—एवमुच्चावचैरभिप्रायैऋषीणां मन्त्रद्रष्टयो भवन्ति।

अर्थ—इस प्रकार ऋषियों को उच्च विचारों की भावनाओं से युक्त तथा निन्दित भावनाओं की निन्दा करने वाले मन्त्रों से युक्त मन्त्र समय समय पर दिखाई पड़े अर्थात् परमात्मा के द्वारा निर्मित मन्त्रों में ऋषि उच्च भावना आदर का और निन्दित भावना के परित्याग का दर्शन किया करते हैं। अतः ऋषि लोग मन्त्रों के माध्यम से निन्दा, प्रशंसा, शोक, भय आदि पर विमर्श किया करते हैं। इसका आशय यह है कि ऋषियों ने केवल मन्त्रों का दर्शन किया, अपितु ऋषियों ने मन्त्रों की रचना नहीं की। मन्त्रों की रचना तो परमात्मा के द्वारा ही हुई। ऋषि केवल मन्त्रद्रष्टा मात्र है।

मूल—तद्येऽनादिष्टदेवता मन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा।

अर्थ—अब जो मन्त्र देवताओं के लक्षणों से रहित हैं अर्थात् जिन मन्त्रों में किसी देवता के स्वरूप का वर्णन नहीं किया गया है। अब उन मन्त्रों के विषय में देवताओं के स्वरूप आदि की परीक्षा की जायेगी।

मूल—यद्दैवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति ।

अर्थ—जो यज्ञ जिस देवता से सम्बन्धित है अर्थात् जो यज्ञ जिस देवता वाला है उस यज्ञ का वही देवता है। जैसे—'अग्निष्टोम' यज्ञ अग्नि देवता वाला है। अथवा जो यज्ञाङ्ग जिस देवता वाला हो उस यज्ञ अथवा यज्ञाङ्ग में जो ऐसे मन्त्र प्रयुक्त हुए हैं, जिनके देवता का निर्देश नहीं मिलता है, उन सब मन्त्रों का वही देवता होता है जो उस यज्ञ अथवा यज्ञाङ्ग का देवता है।

मूल—अथान्यत्र यज्ञात्प्राजापत्या इति याज्ञिकाः ।

अर्थ—इसके अतिरिक्त जो मन्त्र यज्ञ के बाहर के हैं और उनमें देवताओं का निर्देश नहीं किया गया है वहाँ देवता का निर्णय कैसे होगा ? समाधान में कहा गया है कि जो मन्त्र यज्ञ के बाहर के हैं और उनमें देवताओं के स्वरूप आदि का कोई संकेत नहीं किया गया है, वहाँ उन सभी मन्त्रों के देवता प्रजापति हैं। ऐसा याज्ञिक ऋषियों का कहना है अर्थात् जो मन्त्र यज्ञ के बाहर के हैं, उन मन्त्रों का देवता प्रजापति है। उपाकर्म प्रायश्चित तथा जप आदि में जिन मन्त्रों का विनियोग किया जाता है उन मन्त्रों का देवता कौन होगा ? इस विषय में याज्ञिक ऋषियों ने कहा है कि उन मन्त्रों का देवता प्रजापति होता है। उन मन्त्रों में प्रजापति ही पूज्य देवता माने जाते हैं। अतः प्रजापति ही उन मन्त्रों के देवता हैं।

मूल—नाराशंसा इति नैरुक्ताः ।

—**अर्थ**—निरुक्त शास्त्र के रचयिताओं का मत है कि जो मन्त्र यज्ञ में विनियुक्त नहीं हैं और देवताओं के स्वरूप आदि का कोई निर्देश नहीं किया गया है, उन मन्त्रों के देवता अग्नि अथवा यज्ञ ही है। यज्ञ देवता है यहाँ **"यज्ञो वै विष्णुः"** इस कथन के अनुसार यज्ञ को विष्णु कहा गया है। अतः विष्णु देवता हैं। वस्तुतः उचित यही प्रतीत होता है कि जिन मन्त्रों के देवताओं का निर्देश नहीं किया गया हो, उन मन्त्रों के देवता अग्नि ही हैं। इसका प्रमाण यह है कि **"अग्निर्हिभूयिष्ठभाग् देवतानाम्" "अग्निर्वै सर्वदेवता"** इत्यादि मन्त्र भागों के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि अग्नि ही सब देवताओं में मुख्य माने जाते हैं और सभी देवताओं में अग्नि का अंश विद्यमान है, यह भी निःसन्देह सभी स्वीकार करते हैं अतः जिन मन्त्रों के देवताओं का निर्देश नहीं मिलता है, उन मन्त्रों में मुख्य रूप से अग्नि को ही देवता मानना चाहिए।

मूल—अपि वा सा कामदेवता स्यात् ।

अर्थ—अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जिन मन्त्रों में देवताओं का निर्देश नहीं किया गया है वहाँ स्वेच्छया देवताओं की कल्पना करने से अव्यवस्था हो जायेगी अर्थात् अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार जो जिस देवता को चाहेगा कल्पना कर लेगा । इस प्रश्न को प्रस्तुत करते हुए कहा है ।

मूल—प्रायोदेवता वा । अस्ति ह्याचारो बहुलं लोके । देवदेवत्यमतिथिदेवत्यं पितृदेवत्यम् ।

अर्थ—जिन मन्त्रों के देवताओं का निर्देश नहीं किया गया है वहाँ प्राय: शब्द से अधिकार ग्रहण किया गया है, जिस देवता के अधिकृत क्षेत्र में ऐसे मन्त्रों का पाठ किया गया हो जिनमें देवताओं का निर्देश न किया गया हो, उन मन्त्रों का वही देवता होगा जिसके अधिकृत क्षेत्र में मन्त्रों का पाठ किया है । प्राय: शब्द बहुलता का बोधक है । अत: जिन मन्त्रों के देवताओं का निर्देश नहीं किया गया है उन मन्त्रों के देवता भी बहुसंज्ञक होंगे अर्थात् साधारण रूप से वे मन्त्र बहुदैवत या वैश्वदेव कहे जायेंगे । जैसा कि लोक में व्यवहृत भी होता है कि यह मेरा कर्म देवता को लक्ष्य करके किया गया है, यह मेरा कर्म अतिथि देवता को लक्ष्य करके किया गया है और यह मेरा कर्म पितृ देवता को लक्ष्य करके किया गया है । अत: लोक में भी बहुदैवत का उदाहरण व्यवहार रूप में देखा जाता है । इससे यह स्पष्ट होता है कि अनिर्दिष्ट देवता वाले मन्त्रों में स्वेच्छा से किसी भी देवता की कल्पना नहीं की जा सकती है । केवल अधिकृत क्षेत्र के आधार पर देवता का निर्देश किया जायेगा ।

मूल—याज्ञदैवतो मन्त्र इति । अपि ह्यदेवता देवतावत् स्तूयन्ते । यथाश्वप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि ।

अर्थ—अब अन्तिम निष्कर्ष को स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि जिस मन्त्र का कोई देवता निर्दिष्ट नहीं है, वह मन्त्र दैवत अथवा याज्ञ है । विष्णु ही यज्ञ है । इस कथन के अनुसार यज्ञ शब्द का अर्थ विष्णु है । परन्तु निरुक्तकारों ने जिस विष्णु शब्द का अर्थ आदित्य स्वीकार किया है । इसलिये जिस मन्त्र का देवता अनिर्दिष्ट है उस मन्त्र का देवता आदित्य है । ऐसा समझना चाहिये ।

अथवा फिर वह मन्त्र दैवत है जिस मन्त्र का वह दैवत कहा जाता है। सामान्य रूप से देवत्व धर्म अग्नि में ही माना जाता है। इसलिये जिस मन्त्र का कोई देवता नहीं है उसका अग्नि देवता होता है। अतः जिन मन्त्रों के देवता अनिर्दिष्ट हैं उन सब मन्त्रों के देवता अग्नि अथवा आदित्य हैं। ऐसा मानना अधिक समीचीन है।

मूल—अथाप्यष्टौ द्वन्द्वानि।

अर्थ—इसके अतिरिक्त आठ द्वन्द्वों (जोड़ी) की भी स्तुति की गई है। उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) उलूखल, (२) मुसल, (३) हविर्धान, (४) द्यावापृथिवी इत्यादि।

मूल—स न मन्येतागन्तूनिवार्थान् देवतानाम्। प्रत्यक्षदृश्यमेतद्भवति। माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।

अर्थ—बुद्धिमान् शिष्य को अथवा नास्तिक को यह नहीं समझना चाहिये कि जिस प्रकार संसार में प्राप्त होने वाले पदार्थ अनित्य (नाशवान्) हैं। मनुष्य अनित्य है और साधनभूत अश्व आदि सब नाशवान् हैं, इसी प्रकार देवताओं का देवत्व भी अनित्य है और देवत्व अनित्य होने से देवताओं की स्तुति करना व्यर्थ है। क्योंकि यह प्रत्यक्ष देखा जाता है, मनुष्य के साधनभूत आदि नाशवान् है, मनुष्य भी नाशवान् है। इसी प्रकार इन्द्र आदि देवताओं के साधनभूत अश्व (हरि, रोहित) आदि भी नाशवान् हैं और इन्द्रादि देवता भी नाशवान् हैं क्योंकि जिस प्रकार मनुष्य और उसके साधन अश्व आदि भी नाशवान् हैं, उसी प्रकार इन्द्र आदि देवता तथा उनके साधन अश्व आदि नाशवान् हैं। अतः उनकी स्तुति क्यों की जाय?

इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि देवता महा ऐश्वर्य सम्पन्न होते हैं और एक आत्मा होते हुये भी वह देवात्मा कारणभेद से अथवा कार्यभेद से बहुत होता हुआ स्तुति किया गया है। इसलिये देवता तथा उनके साधनभूत अश्व आदि की स्तुति करना व्यर्थ नहीं हैं। देवता महाऐश्वर्य सम्पन्न होते हैं, इसमें क्या प्रमाण है? इसका प्रमाण वेद वाक्य ही है। जैसा कि निम्न उदाहरण देखिये—

"रूप रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानः।"

इसका आशय यह है कि इन्द्र अनेक मायाओं का सृजन करता हुआ प्रत्येक स्थान पर किसी न किसी रूप में उपस्थित रहता है। अतः देवताओं का महेश्वर्यवान् होना स्वयं प्रमाणित हो जाता है। अतः देवताओं की तथा उनके साधनभूत अश्व आदि की स्तुति करना व्यर्थ नहीं होती है।

मूल—एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।

अर्थ—इन्द्र, अग्नि, आदित्य, आदि भिन्न-भिन्न देवता सब एक ही आत्मा (पदार्थ विशेष) के अङ्ग प्रत्यङ्ग हैं, जिस प्रकार मिट्टी रूपी आत्मा से अनेक घट बनते हैं और वे सब घट एक ही मिट्टी आत्मा के अङ्ग प्रत्यङ्ग हैं। एक होते हुये भी घटत्व से घट भिन्न रूप में प्रतीत होता है, वस्तुतः भिन्न नहीं होता है। ठीक इसी प्रकार देवात्मा एक है और घट के समान भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीत होता है। वस्तुतः देवात्मा एक ही हैं।

मूल—अपि च सत्त्वानां प्रकृतिभूमभिर्ऋषयः स्तुवन्तीत्याहुः।

अर्थ—अश्व आदि पदार्थों की कारण सत्ता एक ही महान् आत्मा हिरण्यगर्भ है, उस हिरण्यगर्भ के स्थावर और जंगम आदि भेदों से अनेक विपरिणामों से तथा कार्यकारणवश हिरण्यगर्भ और तजन्य अश्वादि साधनों में अभेद बुद्धि मानने में ऋषियों ने अश्वादि साधनों की स्तुति की है। ऐसा वेद के रहस्य को जानने वालों का कहना है। अब देवात्मा एक होते हुये भी अनेक हो जाता है और वही सर्वत्र व्याप्त है।

मूल—प्रकृतिसार्वनाम्न्याच्च।

अर्थ—महाऐश्वर्य सम्पन्न देवात्मा का ही यह सब प्रभाव है अर्थात् दृश्यमान समस्त यह चर अचर संसार उसी की इच्छा का परिणाम है, इसलिये देवता के समान उसकी स्तुति करना उचित ही है निरर्थक नहीं अथवा अदेवता की स्तुति देवता के समान की गई है यह नहीं कहना चाहिये। क्योंकि जिनमें (अश्व आदि में) अदेवतात्व का आरोप लगाते हैं उनमें भी देवतात्व कारणत्व रूप में विद्यमान हैं। अतः अश्व आदि की स्तुति अदेवता की स्तुति नहीं है अपितु देवतावत् ही है।

मूल—इतरेतरजन्मानो भवन्ति। इतरेतरप्रकृतयः।

अर्थ—ऊपर जो यह कहा गया है कि मनुष्य के साधनभूत अश्वादि के समान देवताओं के साधनभूत अश्व आदि मनुष्य के समान देवता भी अनित्य (नाशवान्) धर्म वाले हैं, ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि मनुष्य और देवताओं में पर्याप्त अन्तर है। मनुष्य धर्म से देवतात्व अर्थात् देव धर्म सर्वथा भिन्न है। क्योंकि मनुष्य ऐश्वर्य रहित और देवता ऐश्वर्य सम्पन्न है। यह कैसे कहते हैं? देवता लोग आपस में एक दूसरे को जन्म देते हैं क्योंकि वे सामर्थ्य सम्पन्न होते हैं। कहीं अग्नि सूर्य को उत्पन्न करता है, प्रमाणार्थ कहा गया है कि "एष प्रातः प्रसुवति" और कहीं सायंकाल के समय सूर्य अग्नि को उत्पन्न करता है। इस प्रकार समस्त देवता परस्पर एक दूसरे को जन्म देने की सामर्थ्य के कारण एक दूसरे के कारण हैं। परन्तु मनुष्य में एक दूसरे के कार्य कारणत्व की शक्ति नहीं है। उदाहरणार्थ – देवदत्त का पुत्र यज्ञदत्त, का पुत्र ही रहता है, देवदत्त का जनक नहीं हो सकता है। अतः देवता और मनुष्य में पर्याप्त अन्तर स्वतः सिद्ध है।

मूल—कर्म जन्मानः।

अर्थ—अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस प्रकार सामर्थ्य सम्पन्न अग्नि, आदित्य, इन्द्र आदि देवता अग्नि आदि के रूप में जन्म क्यों ग्रहण कहते हैं? इसका समाधान करते हुए कहा कि "कर्म जन्मानः" अर्थात् संसार के समस्त प्राणियों के कर्म का फल देने के लिये अग्नि आदि देवता ऐश्वर्य सम्पन्न होते हुये भी जन्म ग्रहण करते हैं. जिससे संसार के जीवों की लोक यात्रा उचित रीति से चल सके अर्थात् प्राणियों की लोक यात्रा के लिये अग्नि आदि देवता जन्म ग्रहण करते हैं। क्योंकि अग्नि, आदित्य, इन्द्र आदि देवताओं के बिना संसार के प्राणियों की जीविका आदि कोई कार्य ठीक से नहीं हो सकते हैं। अतः देवताओं को हमारी सहायता से लिये जन्म ग्रहण करना पड़ता है।

मूल—आत्मजन्मानः।

अर्थ—अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ये देवता किससे उत्पन्न होते हैं अर्थात् इनका जनक कौन होता है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि "आत्मजन्मानः अर्थात् ये देवता स्वयं लोक कल्याण की भावना अथवा इच्छा से जन्म ग्रहण करते हैं। इनका कोई जनक अर्थात् कारण नहीं होता है।

मूल—आत्मैवैषां रथो भवति। आत्माश्वः। आत्मायुधम्। आत्मेषवः। आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य।

अर्थ—इस प्रकार महाऐश्वर्य सम्पन्न देवताओं की आत्मा देवताओं की इच्छा मात्र से (उनकी आत्मा) रथ बन जाता है और आत्मा ही घोड़ा, आत्मा ही अस्त्र-शस्त्र, धनुष-बाण आदि बन जाता है। अधिक क्या कहें, जो जो देवता लोग संकल्प अथवा इच्छा करते हैं, वह सब इनकी आत्मा ही बन जाता है। अतः इनका कोई कारण नहीं है। ये स्वयं कार्य-कारण-भाव सम्पन्न लोक-कल्याण की भावना से स्वयं जन्म ग्रहण करते हैं। अब यह निश्चित हो जाता है कि अश्व आदि की स्तुति अदेवतावत् नहीं की गई है अपितु वह अश्व आदि की स्तुति देवतावत् ही है।

(इति प्रथमः पादः)

द्वितीयः पादः

मूल—तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः, वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः।

अर्थ—इससे पहले यह कहा गया है कि समस्त चर-अचर एकमात्र हिरण्यगर्भ की सत्ता है और वही सब में विद्यमान है, उससे पृथक् कुछ नहीं है! अतः अद्वैत पक्ष को मानकर अश्वादि की स्तुति करना भी सार्थक है, निरर्थक नहीं क्योंकि सब समस्त विश्व में द्वैवता नहीं है केवल अद्वैत ही की सत्ता व्याप्त है तो संसार ही देवता है और फिर अदेवता की आशंका ही करना व्यर्थ है। इस स्थिति में अश्व आदि देवताओं की स्तुति करना भी सर्वथा उचित ही है। परन्तु व्यवहार में विधिमन्त्र एवं अर्थवाद के मत को मानकर यज्ञ करने वाले जिस विशेष कामना से यज्ञ करते हैं, उस यज्ञ को नैमित्तिक यज्ञ कहते हैं। तब तो व्यवहार में अनेक देवताओं का अस्तित्व अलग अलग प्रतीत होता है। तब इन देवताओं की संख्या कितनी मानी जाती है? यह अग्नि देवता है जो पृथिवी पर रहता है। दूसरा वायु है अथवा बिजली के नाम से प्रसिद्ध इन्द्र है और तीसरा देवता सूर्य है जो द्युलोक में रहता है। अतः तीन ही देवता हैं।

मूल—तासां माहाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति।

अर्थ—उन महाऐश्वर्य सम्पन्न देवताओं में प्रत्येक के अनेक नाम होते हैं। जैसे परम ऐश्वर्य के कारण ही एक ही आत्मा अनेक विकारों को प्राप्त करने पर उस आत्मा के जातवेद, वैश्वानर आदि अनेक प्रतिविकार जन्य नाम हो जाते हैं। अतः एक ही आत्मा विकार का आश्रय ग्रहण करने पर अनेक नामों की संज्ञा को प्राप्त करता है।

मूल—अपि वा कर्मपृथक्त्वात्। यथा होताध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातेत्यप्येकस्य संतः।

अर्थ—उदाहरणार्थ देखिये कि जैसे एक ही मनुष्य कार्य-भेद से होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा आदि के नाम से (यज्ञस्थल में) सम्बोधित किया जाता है अर्थात् एक ही मनुष्य किसी यज्ञ में होता, किसी अन्य यज्ञ में उद्गाता, किसी अन्य यज्ञ में अध्वर्यु और किसी दूसरे यज्ञ में ब्रह्मा आदि बनता है अर्थात् एक होते हुए भी कार्यभेद से अनेक नामों की संज्ञा को प्राप्त होता है। इसी प्रकार मुख्य देवता तीन ही हैं। परन्तु विकार भेद अथवा कार्यभेद से उन तीन देवताओं के अनेक नाम हो जाते हैं अर्थात् जिस प्रकार एक ही पुरुष होता, उद्गाता, अध्वर्यु आदि कार्यभेद से अनेक नामों को प्राप्त करके अनेक नामों से पुकारा जाता है, उसी प्रकार एक एक देवता के अनेक नाम हो जाते हैं। वस्तुत: देवता तीन ही हैं। अन्य अनेक नाम मात्र है।

मूल—अपि वा पृथगेव स्युः। पृथग्विध स्तुतयो भवन्ति।

अर्थ—तीन देवताओं के ही अनेक नाम हो जाते हैं। तीन ही देवता हैं, यह मत याज्ञिकों को स्वीकार नहीं है। उनका मत है एक देवता के ही अनेक नाम हो जाया करते हैं। यह कथन ठीक नहीं है अर्थात् एक ही देवता के अनेक नाम नहीं हैं। देवता बहुत हैं क्योंकि उन देवताओं की स्तुतियाँ पृथक् पृथक् की गई हैं। जब स्तुतियाँ पृथक् पृथक् प्राप्त होती हैं, तो देवता भिन्न भिन्न अर्थात् बहुत हैं। अत: याज्ञिकों के मत में देवता बहुत हैं और निरुक्तकार के मत में तीन ही देवता हैं।

(अथ समानार्थत्व-साधनम्)

मूल—तथाभिधानानि।

अर्थ—तीन ही देवता नहीं है अपितु देवता बहुत हैं, क्योंकि देवताओं की अनेकता को देखकर ही उनके अनेक नाम प्रसिद्ध हुए। कर्म की भिन्नता से तीन देवताओं के ही अनेक नाम पड़ गये हैं, यह मानना उचित नहीं है। इसका प्रमाण लोक में देखा जा सकता है कि जिस प्रकार लोक में जितनी वस्तुएँ होती हैं उतने ही उनके नाम होते हैं। अत: यह नहीं होता है कि वस्तु एक हो और उनके नाम बहुत हों। अत: देवता बहुत हैं, तभी उनके बहुत नाम प्राप्त होते हैं।

मूल—यथो एतत्कर्म पृथक्त्वादिति बहवोऽपि विभज्य कर्माणि कुर्युः।

अर्थ—आपका यह कहना भी उचित नहीं है कि कार्यभेद से एक ही देवता के बहुत नाम हो जाते हैं, क्योंकि बहुत से लोग बांटकर काम करते हैं परन्तु उन लोगों के नाम उस उस कर्म के अनुसार नहीं हो जाते हैं। अतः कार्यभेद से एक के बहुत नाम नहीं होते हैं तो फिर बहुत देवताओं के ही बहुत नाम होते हैं।

मूल—तत्र संस्थानैकत्वं संभोगैकत्वं चोपेक्षितव्यम्। यथा पृथिव्यां मनुष्याः पशवो देवा इति स्थानैकत्वम्। सम्भोगैकत्वं च दृश्यते। यथा पृथिव्याः पर्जन्येन च वाय्वादित्याभ्यां च सम्भोगः। अग्निना चेतरस्य लोकस्य।

अर्थ—अब यास्क ने देवता सम्बन्धी तीनों मतों एकत्ववाद, त्रिदेववाद और बहुदेववाद की समानार्थता का प्रतिपाद करते हुये कहा है कि उन तीनों वादों में स्थान की एकता और सम्भोग की एकता पर विचार करना चाहिये। अर्थात् देवता सम्बन्धी तीनों वादों की एकता, स्थान की समानता और भोग रहन-सहन आदि की समानता से एकत्व का निर्णय करना चाहिये। जिस प्रकार पृथिवी पर रहने वाले मनुष्य, पशु और देवता के स्थान की एकता देखी जाती है अर्थात् ये सब भिन्न होते हुये भी स्थान की एकता से सब समान माने जाते हैं और इनमें भोग की समानता दृष्टिगोचर होती है। जैसे पृथ्वी और मेघ में, वायु और आदित्य में भोग की समानता प्राप्त होती है। अन्तरिक्ष और पार्थिव अग्नि में आदित्य और अग्नि में भोग की समानता देखी जाती है। अतः अन्तरिक्ष, अग्नि और आदित्य में भोग की एकता (समानता) प्राप्त होने से तीनों को एक समझना चाहिये अथवा एकदेव मानना चाहिये।

मूल—अत्रैतन्नरराष्ट्रमिव।

अर्थ—देवता सम्बन्धी इस भेद और अभेद के विषय में यह समझना चाहिये कि जिस प्रकार मनुष्य और देश में समानता मानी जाती है अर्थात् जिस प्रकार एकदेश में रहने वाले लोग एक समान काले अथवा गोरे रङ्ग वाले होते हैं। इसका आशय यह है कि एक देश में रहने वाले विभिन्न जाति के लोग अनेक

होते हुये भी रङ्ग की समानता से एक ही माने जाते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म एक राष्ट्र है और ब्रह्मराष्ट्र एक परमात्मा से ही उत्पन्न हुआ है तथापि उस परमात्मा के इन्द्र, अग्नि, सूर्य आदि अंश को ग्रहण करके वह देवत्व की कल्पना कर ली जाती है। वस्तुतः बहुदेवतावाद की कल्पना मात्र की जाती है। देवता तो एक ही है और वह यदि उपर्युक्त दृष्टि से विचार करें तो एकेश्वरवाद, बहुदेववाद और त्रिदेववाद में कोई पारस्परिक विरोध नहीं है और तीनों देववाद सही है।

मूल—अथाकारचिन्तनं देवतानाम्।

अर्थ—अब देवताओं की आकृति (रूपरङ्ग आदि) पर विचार करेंगे।

मूल—पुरुषविधाः स्युरित्येकम्।

अर्थ—एक मत के अनुसार देवता पुरुषों की आकृति के समान आकृति वाले होते हैं।

मूल—चेतनावद्वद्धि स्तुतयो भवन्ति।

अर्थ—देवता मनुष्यों की आकृति के समान आकृति वाले होते हैं। इसका कारण है कि देवताओं की स्तुति (प्रार्थना आदि) चेतावन् व्यक्ति के समान की जाती है और वह स्तुति भी मनुष्यों के समान ही की गई है। चेतनावद्वद् =यहाँ चेतना शब्द में प्रथम "वति" प्रत्यय "मतुप्" प्रत्यय के अर्थ में और द्वितीय "वति" समानार्थक में किया गया है। यद्यपि मनुष्य के समान चेतना पशुओं में भी होती है। परन्तु गो आदि पशुओं में हित अनहित आदि की विवेक शक्ति नहीं होती है। अतः चेतनावान् पशुओं के होने पर भी देवताओं की आकृति की तुलना मनुष्यों की आकृति और चेतनाशक्ति से की है। पशुओं की चेतना आदि से नहीं।

मूल—तथाभिधानानि।

अर्थ—इसके अतिरिक्त जिस प्रकार मनुष्यों के नाम होते हैं उसी प्रकार देवताओं के भी नाम होते हैं अर्थात् जैसे मनुष्यों में परस्पर वार्तालाप आदि के समय एक दूसरे को नाम लेकर सम्बोधित करते हैं, उसी प्रकार देवता लोग भी परस्पर वार्तालाप आदि के समय एक दूसरे को सम्बोधित करते हैं। इसलिये देवताओं

की आकृति और चेतना शक्ति की तुलना मनुष्यों की आकृति और चेतना से की गई है।

मूल—अथापि पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्ते। 'ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू" (ऋ० ६।४७।८)। "यत्सगृभ्णा मघवन्काशिरित्ते"।
(ऋ० ३।३०।५)

अर्थ—मनुष्य और देवताओं में समानता का एक कारण और भी है कि देवताओं की स्तुति मनुष्य के अङ्गों से की गई है, जैसा कि प्रस्तुत मन्त्र में देखिये:—

हे इन्द्र देव ! वृद्ध तेरी शत्रुओं को मारने वाली भुजाओं की शरण में हम आये हैं। इस मन्त्र में इन्द्र की भुजाओं की प्रशंसा की गई है। दूसरे मन्त्र का उदाहरण देखिये कि हे इन्द्र देव ! तुम जिस अपनी मुष्टि में द्युलोक और भूलोक को एकत्रित कर लेते हो वह तुम्हारी मुष्टि बहुत विशाल है। इसमें इन्द्र की मुष्टि की प्रशसा की गई है। मुष्टि और भुजायें मनुष्यों के अङ्ग हैं। इन अङ्गों की प्रशंसा करने से प्रतीत होता है कि देवता मनुष्य की आकृति के समान आकृति वाले हैं। इसलिये मनुष्यों से तुलना की गई है।

मूल—अथापि पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैः। "आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र ? याहि" (ऋ० २।१८।४)। "कल्याणीजाया सुरणं गृहे ते"।
(ऋ० ३।५३।६)।

अर्थ—हे इन्द्र देव ! तुम दो घोड़ों से आ जाओ। यदि तुम्हारे पास दो ही घोड़े हैं तो तुम उनको ही जोड़कर चले जाओ। हे इन्द्र ! तुम्हारे घर में कल्याणी सौभाग्यवती पत्नी है जो भी दर्शनीय एवं आकर्षक वस्तुयें है वे सभी वस्तुयें आपके घर में विद्यमान हैं। इन दोनों मन्त्रों मे इन्द्र के घर की सम्पन्नता एवं विलासिता आदि का वर्णन मनुष्यों के समान किया गया है।

मूल—अथापि पौरुषविधिकैः कर्मभिः।

"अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य"। (ऋ० १०।११६।७) "आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवम्"।

अर्थ—और भी मनुष्य के कामों के समान ही देवताओं के कर्मों की स्तुति की गई है अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य के पराक्रम आदि की प्रशंसा करते हैं उसी प्रकार देवताओं के पौरुष आदि की प्रशंसा की गई है जैसा कि मन्त्रार्थ में देखिये:—

हे इन्द्र देव ! इस सोमरस का पान करो। हे अप्रतिहत सुनने की शक्ति सम्पन्न इन्द्र हमारे आमन्त्रणों (पुकार को) सुनो। इन दोनों मन्त्रों में इन्द्र के खान पान श्रवण आदि कर्म का वर्णन पुरुषों के खान-पान, श्रवण आदि कर्म के समान वर्णन किया गया है।

मूल—अपुरुषविधाः स्युरित्यपरम् ।

अर्थ—अब द्वितीय मत का वर्णन करते हैं कि देवताओं की आकृति मनुष्यों के समान नहीं होती है क्योंकि देवता जड़ होते हैं और मनुष्य चेतनावान होते हैं। अतः देवताओं की आकृति तुलना मनुष्यों की आकृति से नहीं कर सकते हैं।

मूल—अपि तु यद् दृश्यतेऽपुरुषविधं तत् । यथाग्निर्वायुरादित्यः पृथिवी चन्द्रमा इति ।

अर्थ—देवताओं की आकृति मनुष्यों की आकृति के समान नहीं है। इसका प्रत्यक्ष ही प्रमाण है क्योंकि जो रूप प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है वह तो मनुष्यों की आकृति से भिन्न है। अर्थात् अग्नि, वायु, सूर्य, पृथिवी आदि प्रत्यक्ष दृश्यमान देवताओं की आकृति मनुष्यों जैसी नहीं है अपितु जड़ प्रतीत होती है इसलिये देवताओं की आकृति की तुलना मनुष्यों की आकृति से करना प्रत्यक्ष प्रमाण का अपलाप करना है।

मूल—यथो एतच्चेतनावद्वद्धि स्तुतयो भवन्तीत्यचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते यथाक्षप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि ।

अर्थ—यदि यह कहें कि देवताओं की स्तुति चेतनावान प्राणियों के समान की गई है तो यह कहना भी उचित प्रतीत नहीं होता है क्योंकि स्तुति तो अचेतन जड़ पदार्थों की भी की गई है। जैसे वेद में अक्ष (द्यूत क्रीड़ा) और वनस्पतियों की भी स्तुति की गई है। अतः स्तुति करने से देवताओं में चेतना शक्ति का होना स्वीकार नहीं करना चाहिए।

मूल--यथो एतत्पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्त इत्यचेतनेष्वप्येतद्-भवति। "अभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः" । (ऋ० १०।९४।२) इति ग्रावस्तुतिः।

अर्थ—इसके अतिरिक्त जो यह कहा गया है कि देवता मनुष्यों के अङ्गों के समान अङ्ग वाले होते हैं क्योंकि उनके अङ्गों की स्तुति मनुष्यों के अङ्गों के समान की गई है। यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि अचेतन वस्तुओं की भी स्तुति मनुष्य के अङ्गों के समान की गई है। जैसे "हरितेभिः आसभिः" अर्थात् हरे मुख से शिलाएँ आमन्त्रित कर रही हैं। सोमरस के कूटने अथवा निचोड़ने से शिलाओं के अग्रभाग हरे रङ्ग के हो जाते हैं। अतः देवताओं के अङ्गों की स्तुति मनुष्यों के अङ्गों के समान की गई है यह कहना भी सारहीन है।

मूल—यथो एतत्पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैरित्येतदपि तादृशमेव। "सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम्"। (ऋ० १०।७५।९) इति नदीस्तुतिः।

अर्थ—और भी जो यह कहा जाता है कि मनुष्यों के उपयोग में आने वाली वस्तुओं के समान वस्तुओं की स्तुति देवताओं के प्रसङ्ग में की गई है। यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि मनुष्यों के उपयोग में आने वाली वस्तुओं की स्तुति अचेतन पदार्थों के विषय में भी की गई है। जैसे सिन्धु नामक नदी सुख देने वाले सर्वत्र व्याप्त जल रूपी रथ को जोड़े हुए है। इस मन्त्र में अचेतन सिन्धु नदी के जलरूपी रथ का मनुष्यों के रथ के समान रूपकालङ्कार के माध्यम से वर्णन किया है। अतः मनुष्यों की वस्तुओं के समान देवताओं की वस्तुओं का वर्णन करने से देवताओं को मनुष्य से समान नहीं माना जा सकता।

मूल—यथो एतत्पौरुषविधिकैः कर्मभिरित्येतदपि तादृशमेव।

न च पुनर्ग्राव्णां यथाभूतमशनमस्ति। तस्मादिदमपि रूपकमेव।

अर्थ—यदि यह कहें कि देवताओं के कर्मों का वर्णन मनुष्यों के कर्मों के समान किया गया है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि कर्मों का वर्णन जड़ देवताओं को मनुष्यों की आकृति के समान नहीं माना जा सकता है। उदाहरणार्थ निम्न मन्त्र देखिए—

मूल—"होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत" (ऋ० १०।९४।२) इति ग्रावस्तुतिरेतेव।

अर्थ—होता से पहले ही शिलाएँ हवि को खा गईं। इस मन्त्र में जड़ शिलाओं के खाने की क्रिया का आलंकारिक वर्णन चेतन प्राणियों के समान किया गया है। परन्तु शिलाएँ मनुष्यों के समान चेतन और मनुष्यों से समान आकृति वाली नहीं मानी जा सकती हैं, उसी प्रकार देवताओं को मनुष्यों की आकृति के समान नहीं माना जा सकता है। अतः देवता अचेतन हैं और मनुष्यों की आकृति के समान भी नहीं हैं।

(तृतीय मत)

मूल—अपि वोभयविद्याः स्युः।

अर्थ—अथवा देवताओं के चेतन और अचेतन होने के भी प्रमाण प्राप्त होते हैं। अतः देवता चेतन भी हैं और अचेचन भी। इस चेतन और अचेतन भेद से देवता दो प्रकार के होते हैं और दोनों अपने अपने विषय में स्वतन्त्र हैं।

मूल—अपि वा पुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मान एते स्युः। यथा यज्ञो यजमानस्य।

अर्थ—अब चतुर्थ मत का उपपादन करते हुए कहा है कि अथवा देवता दोनों प्रकार के हों। उनमें जो अचेतन देवता हैं वे कर्मशील पुरुष के समान अथवा उनके अधीन हैं। इसका यह भाव है कि देवता दो प्रकार के हैं जिसमें (१) देवता पुरुष के समान माने जाते हैं अतः स्वतन्त्र है। (२) अचेतन देवता उनके अधीन होते हैं उदाहरण के लिए यजमान का "यज्ञ" लिया जा सकता है। यद्यपि "यज्ञ" कुछ मन्त्रो का देवता माना जाता है तथापि यज्ञ यजमान के अधीन होता हैं। इसीलिए लोक में व्यवहार किया जाता है कि यह यज्ञ अमुक यजमान का है। अतः अचेतन देवताओं की सृष्टि मनुष्याकार देवताओं प्रयोजन के लिए है।

मूल—एष चाख्यानसमयः।

अर्थ—इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक कथाओं को भी आधार माना जाता है।

महाभारत में अनेक कथाओं से यह सिद्ध होता है कि पृथिवी ने स्त्रीरूप धारण करके ब्रह्मा के समक्ष उपस्थित होकर भू-भार को दूर करने की प्रार्थना की है। अग्निदेव ने श्रीकृष्ण और अर्जुन से खाण्डव वन के दाह की प्रार्थना की है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि देवताओं के (१) पुरुषविध (२) अपुरुषविध (३) उभयविध और (४) कर्माथोभयविध ये चार भेद होते हैं। पुरुषविध से तात्पर्य पुरुषों के समान, और अपुरुषविध से पुरुषों की आकृति आदि से भिन्न, उभयविध से चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के गुणों से युक्त, कर्माथोभयविध से चेतन देवता के प्रयोजन के लिये अचेतन (जड़) देवताओं की रचना (अथवा कल्पना) की गई है।

———

(इति द्वितीयः पादः)

तृतीयः पादः

मूल—तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात्। तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः।

अर्थ—पहले यह कहा गया है कि तीन ही देवता हैं, अब यहाँ उन देवताओं की भक्ति एवं पारस्परिक सहयोग सम्बन्ध की व्याख्या करेंगे। इसका आशय यह है कि अब यह विचार करेंगे कि इन तीनों देवताओं को किस किस वस्तु विशेष से भक्ति (रुचि) है। और कौन कौन देवता इन तीनों के अन्तर्गत स्वीकार किये जाते है। तथा इन तीनों का पारस्परिक साहचर्य सम्बन्ध किसका किसके साथ है अर्थात् एक समान शील व्यवहार तथा समान कर्म करने वाले कौन २ देवता हैं?

मूल—अथैतान्यग्निभक्तीनि। अयं लोकः। प्रातः सवनम। वसन्तः। गायत्री। त्रिवृत्स्तोमः रथन्तरं साम। ये च देवगणाः प्रथमे स्थाने। अग्नायी पृथिवीलेति स्त्रियः।

अर्थ—ये सब देवता पृथिवी की सेवा करते हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं, यह लोक (भूलोक) प्रातःकाल में होने वाले यज्ञ, वसन्त ऋतु गायत्री नामक छन्द, त्रिवृत नामक स्तोत्र, रथन्तर नामक साम, और जो प्रथम स्थान में देवताओं के नाम पढ़े गये हैं। इन देवताओं के समूह के साथ अग्नायी, पृथिवी, और इड़ा ये तीन स्त्रियाँ भी अग्नि के भक्त हैं। इसका आशय यह है कि पृथिवी लोक, प्रातःकालीन यज्ञ, और वसन्त ऋतु का वर्णन अग्नि देवता है जिन मन्त्रों का उन मन्त्रों के प्रसंग में किया गया है। अग्नि देवता हैं जिन मन्त्रों का, उन मन्त्रों का छन्द गायत्री होता है। त्रिवृत् सोम, और रथन्त रसामये भी अग्नि देवतात्मक मन्त्रों के अन्तर्गत आते हैं। प्रथम स्थान में पढ़े हुए देवताओं का प्रतिनिधित्व करने वाला अग्नि देवता ही है। अग्नायी, पृथिवी और इडा को भी अग्नि के अन्तर्गत ही माना जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त सब देवता अग्नि के भक्त अथवा सेवक हैं।

मूल—अथास्य कर्म । वहनं च हविषामावाहनं च देवतानाम् । यच्च किञ्चिद् दार्ष्टिविषयकमग्निकर्मैव तत् ।

अर्थ—अब यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि अग्नि देव के कार्य क्या है? इसके समाधान में कहा गया है कि अग्नि हवि को ले जाता है, देवताओं को प्राप्त कराता है और जो कुछ दृष्टि विषयक अर्थात् नेत्रों को ज्योति प्रकाश देता है। यह सब अग्नि देवता का ही काम है।

मूल—अथास्य संस्तविका देवाः । इन्द्रः । सोमः । वरुणः । पर्जन्यः । ऋतवः ।

अर्थ—इस अग्नि देवता की एकत्रित होकर स्तुति करने वाले अथवा साथी देवता कौन कौन हैं? अग्नि के साथी देवताओं के नाम इस प्रकार हैं—

इन्द्र, सोम, वरुण, पर्जन्य, (मेघ) और ६ ऋतुएँ ।

मूल—आग्नावैष्णवं हविर्न त्वक्संस्तविकी दशतयीषु विद्यते ।

अर्थ—अग्नि देवता के साथ विष्णु को भी हवि प्रदान करते हैं। परन्तु सम्पूर्ण ऋग्वेद में (ऋग्वेद के दश मण्डलों और शाखाओं) इन दोनों अर्थात् अग्नि और विष्णु की समान स्तुति की ऋचा (मन्त्र) नहीं प्राप्त होती है अर्थात् ऋग्वेद की किसी ऋचा में अग्नि और विष्णु की एक समान अथवा एक साथ स्तुति नहीं की गई है।

मूल—अथाप्याग्नापौष्णं हविर्न तु संस्तवः ।

अर्थ—यद्यपि अग्नि के साथ पूषा को हवि दी गई है अर्थात् अग्नि और पूषा को समान रूप से हवि दी गई है। परन्तु अग्नि और विष्णु के समान पूषा और अग्नि स्तुति किसी ऋचा में नहीं की गई है। इसके विपरीत पूषा और अग्नि की स्तुति पृथक् पृथक् स्वतन्त्र रूप से की गई है।

मूल—तत्रैतां विभक्तिस्तुतिमृचमुदाहरन्ति ।

अर्थ—अब यहां उदाहरण के लिये उस ऋचा को उद्धृत कर रहे हैं जिसमें पूषा और अग्नि की अलग अलग स्तुति की गई है।

मूल—"पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्रविद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः । स त्वैतेभ्यः परि ददत्पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः"

(ऋ० १०।१७।३)

पूषा त्वेतः प्रच्यावयतु। विद्वान्। अनष्टपशुः। भवनस्य गोपा इत्येष हि सर्वेषां भूतानां गोपायिता [आदित्यः] स त्वैतेभ्यः परिददत्पितृभ्य इति सांशयिकस्तृतीयः पादः। पूषा पुरस्तात्तस्यान्वादेश इत्येकम्। अग्निरुपरिष्टात्तस्य प्रकीर्त्तनेत्यपरम्। अग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः। सुविदत्रं धनं भवति। विन्दतेर्वैकोपसर्गात्। ददातेर्वा स्याद् द्व्युपसर्गात्।

अर्थ—विद्वान् एवम् असाधारण शक्तिमान् असाधारण दर्शन वाला समस्त लोकों का पालन करने वाला और पोषण करने वाला वह (प्रसिद्ध) आदित्य देवता तुमको इस मृत्यु लोक से उत्तम मार्ग के द्वारा ले जावे अर्थात् जरामरण से मुक्ति प्रदान कर मोक्ष का अधिकारी बना दे। वह प्रसिद्ध अग्नि देवता तुमको पितरों को अर्पण कर दे अर्थात् पितर लोक में पहुंचा दे और परमैश्वर्यवान् देवता के लोक में (पास में) प्राप्त करा दे अर्थात् तुमको जरामरण से रहित करके देवलोक अथवा पित्तरलोक में पहुँचा दे।

सांशयिकः तृतीयः पादः—इस मन्त्र के तृतीय चरण का अर्थ सन्दिग्ध प्रतीत होता है। **"सत्वैतेभ्यः परिददत् पितृभ्यः"** इस चरण में पठित 'सः' सर्वनाम शब्द ऊपर पठित पूषा का भी विशेषण लगता है और चतुर्थ चरण में पठित अग्नि का भी विशेषण लगता है। इस सम्बन्ध में प्रथम मत यह है कि पूषा शब्द का पाठ पहले किया गया है। अतः 'सः' सर्वनाम पूषा से ही सम्बन्धित है। दूसरा मत यह है कि अग्नि शब्द का पाठ अन्तिम चरण में किया गया है। अतः 'सः' सर्वनाम अग्नि से ही सम्बन्धित है। **सुविदत्र धनं**—यहाँ सुविदत्र शब्द का प्रयोग धन के अर्थ में किया गया है। सु उपसर्ग पूर्वक विदल् लाभे धातु से "सुविदत्रम्" शब्द की सिद्धि होती है अथवा सु और वि उपसर्ग पूर्वक दा धातु से सुविदत्रम् शब्द की सिद्धि होती है।

मूल—अथैतानीन्द्रभक्तीनि। अन्तरिक्षलोकः। माध्यदिनं सवनम्। ग्रीष्मः। त्रिष्टुप्। पञ्चदशस्तोमः बृहत्साम। ये च देवगणाः समाम्नाता मध्यमे स्थाने याश्च स्त्रियः।

अर्थ—और देवता इन्द्र के भक्त हैं अर्थात् अन्तरिक्ष लोक, मध्यान्ह में होने वाला यज्ञ ग्रीष्म ऋतु त्रिष्टुप्, छन्द, पन्द्रह स्तोम और बृहत्साम । ये और मध्यम स्थान में रहने वाले देवता लोग तथा उनके ही अन्तर्गत पठित जो स्त्रियाँ हैं, इन सबका सम्बन्ध इन्द्र देवता से माना जाता है ।

मूल—अथास्य कर्म रसानुप्रदानं वृत्रवधः । या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत् ।

अर्थ—यह इन्द्र वृष्टि रूप कर्म को करने वाला है । वृत्र नामक जलावरोधक मेघ का वध करता है । इसके अतिरिक्त बल से होने वाले जो कार्य हैं उन सब कार्यों को करने वाला इन्द्र है । अतः बल के क्षेत्र में इन्द्र का ही प्रभुत्व है ।

मूल—अथास्य संस्तविका देवाः । अग्निः । सोमः । वरुणः । पूजा । बृहस्पतिः । ब्रह्मणस्पतिः । पर्वतः । कुत्सः । विष्णुः । वायुः । अथापि मित्रो वरुणेन संस्तूयते ।

अर्थ—इस इन्द्र के समान जिन देवताओं की स्तुति की जाती है वे साथी देवता अग्नि, सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति, पर्वत, कुत्स, विष्णु और वायु हैं । मित्र और वरुण ये दो देवता तो इन्द्र के साथी थे ही अर्थात् इन्द्र के समान इनकी स्तुति की जाती है । इनके अतिरिक्त ऊपर कहे हुए अग्नि सोम आदि देवता भी इन्द्र के सहयोगी अथवा साथी, समान स्तुति वाले देवता हैं ।

मूल—पूष्णा रुद्रेण च सोमस्य ।

अर्थ—सोम देवता का पूषा देवता और रुद्र देवता के साथ साहचर्य सम्बन्ध है ।

मूल—अग्निना च पूषा । वातेन च पर्जन्यः ।

अर्थ—अग्नि के साथ पूषा की और वायु के साथ पर्जन्य (मेघ) की स्तुति की गई है अर्थात् अग्नि के साथ पूषा और वायु के साथ पर्जन्य (मेघ) का साहचर्य सम्बन्ध है ।

मूल—अथैतान्यादित्यभक्तीनि । असौ लोकः । तृतीयसवनम् । वर्षा । जगती । सप्तदशस्तोमः । वैरूपं साम । ये च देवगणाः समाम्नाता उत्तमे स्थाने याश्च स्त्रियः ।

अर्थ—निम्न निर्दिष्ट देवता आदित्य के भक्त अर्थात् सेवक हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं। वह लोक अर्थात् द्युलोक, तृतीय सवन (यज्ञ) वर्षा, जगती छन्द, सप्तदश स्तोम, वैरूप साम और जो देवतागण उत्तम स्थान में वर्णन किये गये हैं तथा उन देवताओं के अन्तर्गत जो स्त्रियाँ पठित हैं, वे सब आदित्य के भक्त हैं।

मूल—अथास्य कर्म रसादानं रश्मिभिश्च रसधारणम्। यच्च किञ्चित्प्रवह्लितमादित्यकर्मैव तत्। चन्द्रमसा वायुना संवत्सरेणेति संस्तवः।

अर्थ—अब आदित्य के कार्य का कथन करते हैं कि यह आदित्य जल का आकर्षण करता है। अपनी किरणों से जल को धारण करता है और जो कुछ वनस्पतियों में वृद्धि तथा पुष्टि होती है, वह सब कार्य आदित्य (सूर्य) ही करता है अर्थात् जल का आकर्षण, जल का धारण और वनस्पतियों की वृद्धि तथा पुष्टि करना आदित्य का कार्य है।

चन्द्रमा, वायु और वर्षा के साथ आदित्य का साहचर्य सम्बन्ध है अर्थात् इनके साथ आदित्य की सम्मिलित स्तुति की जाती है।

मूल—एतेष्वेव स्थानव्यूहेष्वृतुच्छन्दः स्तोमपृष्ठस्य भक्तिशेषमनुकल्पयेत।

अर्थ—इन पृथिवी आदि स्थानों से ऋतु, छन्द, स्तोम तथा पृष्ठ के अवशिष्ट अंश की कल्पना कर लेनी चाहिये।

मूल—

शरदनुष्टुबेकविंशस्तोमो वैराजं सामेति पृथिव्यायतनानि।

हेमन्तः पङ्क्तिस्त्रिणवस्तोमः शाक्वरं सामेत्यन्तरिक्षायतनानि॥

अर्थ—शरद् ऋतु, अनुष्टुप् छन्द, २१ स्तोम और वैराज साम, ये पृथिवी स्थानीय हैं। हेमन्त ऋतु, पक्ति छन्द, त्रिणवस्तोम और शाक्वर साम, ये सब अन्तरिक्ष स्थानीय हैं।

मूल—शिशिरोऽतिच्छान्दास्त्रयस्त्रिंशस्तोमो रैवतं सामेति द्यु भक्तीनि।

अर्थ—शिशिर ऋतु अतिच्छन्द, ३३ स्तोम तथा रैवत साम ये सब द्युलोक के भक्त हैं अर्थात् द्युलोक के समान इन सबकी स्तुति की गई है।

मूल—मन्त्रा मननात्।

अर्थ—अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि अभी तक जो कुछ विवेचन किया गया है, वह सब मन्त्रों से ही सम्बन्धित विवेचन हैं, तो फिर यह मन्त्र क्या वस्तु है? अथवा मन्त्र क्यों कहा जाता है? कोई और नाम क्यों नहीं पड़ा? इसके उत्तर में कहा गया है कि "मन्त्राः मननात्" अर्थात् मनन करने के कारण मन्त्र यह नाम पड़ा। इसका आशय यह है कि आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधियाज्ञिक सम्बन्धी मनन किये जाने से मन्त्र कहे गए अर्थात् 'मन्त्र' यह नाम पड़ा जो नाम अन्वर्थक है।

मूल—छन्दांसि छादनात्।

अर्थ—मन्त्र छन्दों से प्राप्त होते हैं। अतः छन्द यह नाम कैसे पड़ा अथवा छन्द शब्द की व्युत्पत्ति कैसे हुई है? छादनात् अर्थात् छादन करने के कारण छन्द यह नाम पड़ा। अतः छादनार्थक छद् धातु से छन्द शब्द की सिद्धि होती है। मृत्यु से भयभीत देवताओं ने अपने को इन जगती, बृहती, त्रिष्टुप् आदि छन्दों से ढक लिया था। इसीलिए इनका नाम छन्द हो गया।

मूल—स्तोमः स्तवनात्। यजुर्यजतेः।

अर्थ—स्तुति की जाने से स्तोम यह नाम पड़ा। यजन (पूजा, पाठ, यज्ञ, संगीत आदि के अर्थ के योग में) अर्थ वाली यज् धातु से यजुः यह नाम पड़ गया। यज्ञ का सम्बन्ध विशेष रूप से यजुर्वेद से है अर्थात् यज्ञ का विस्तृत विवेचन यजुर्वेद में किया गया है।

मूल—साम सम्मितमृचा। अस्यतेर्वा। ऋचा समं मेन इति नैदानाः। गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः।

त्रिगमना वा विपरीता। गायतो मुखादुदपतत् इति च ब्राह्मणम्।

अर्थ—ऋचाओं के समान ही "साम" का व्यवहार किया जाता है अतः साम यह नाम पड़ा। इसका कारण यह है कि ऋचाओं को ही उपासना भेद से साम कहते हैं। "स्य" अथवा षोऽन्त कर्मणि धातु से "साम" शब्द की सिद्धि

होती है। साम एक उपासना कर्म है। यह अन्तिम उपासना है अथवा उपासना का अन्तकर्म है। ज्ञान, कर्म और उपासना इन तीनों में उपासना ही अन्तिम कही गई है। इसीलिये "साम" के नाम से अभिहित हुई अथवा देवताओं ने "साम" को ऋचाओं के समान स्वीकार किया। अतः साम कहते हैं। ऐसा नैदान (साम आदि शब्दों के मुख्य अन्वेषण करने वाले) लोगों का कथन है। नैदान शब्द का यह अर्थ है कि साम आदि शब्दों के मूल को अन्वेषण करने वाले। अथवा "निदान" नामक ग्रन्थ विशेष का अध्ययन करने वालों को अथवा निदान नामक ग्रन्थ के रहस्यों के जानने वालों को "नैदान" कहते हैं।

छन्दों का विवेचन करने के पश्चात् गायत्री छन्द की निष्पत्ति कहते हैं कि स्तुति अर्थ वाली "गै" धातु से गायत्री शब्द की सिद्धि होती है। इस गायत्री छन्द के द्वारा देवताओं की स्तुति की गई है इसलिए इसे गायत्री छन्द कहते हैं अथवा इस गायत्री छन्द के तीन पाद हैं। त्रिशब्द तथा गमन शब्द को विपरीत (उलट) करने पर गायत्री की सिद्धि होती है। अथवा गाते हुए ब्रह्मा के मुख से निकली है इसलिए गायत्री यह नाम पड़ा। ऐसा ब्राह्मण-ग्रन्थों के रचयिता लोग का कहना है।

मूल—

उष्णिगुत्स्नाता भवति। स्निह्यतेर्वा स्यात्कान्तिकर्मणः।

उष्णीषिणीवेत्यौपमिकम्। उष्णीषं स्नायतेः।

अर्थ—उष्णिक् छन्द का उष्णिक् यह नाम कैसे पड़ा? इस उष्णिक् छन्द में गायत्री छन्द की अपेक्षा ४ अक्षर अधिक कहे गये है इसीलिए इसको उष्णिक् कहते हैं। अथवा इच्छार्थक ष्णिह् धातु से उष्णिक् शब्द की सिद्धि होती है, उष्णिक् छन्द देवताओं को अधिक प्रिय है। अथवा गायत्री छन्द की अपेक्षा उष्णिक् छन्द में चार अक्षर अधिक होते हैं और ये चार अक्षर उष्णिक् छन्द के शिरः स्थानीय अर्थात् उष्णीय (पगड़ी) के रूप में माने जात हैं। अतः उष्णीष (पगड़ी) की उपमा दी जाने के कारण इस छन्द को उष्णिक् कहते हैं। "ष्णै" धातु से उष्णीष शब्द की सिद्धि होती है; क्योंकि पगड़ी (उष्णीष) शुद्ध और सफेद होती है।

मूल—ककुप् ककुभिनी भवति। ककुप् च कुजतेर्वा। उब्जतेर्वा।

अर्थ—यह ककुप् नामक छन्द उष्णिक् छन्द का एक भेद है। ककुप् छन्द के द्वितीय तथा तृतीय चरणों में कुछ अक्षर अधिक होते हैं, अतः यह छन्द मध्य भाग से ऊपर को उठता हुआ सा प्रतीत होता है। ककुभिनी शब्द का अर्थ यह है कि बैल के कन्धे का उठा हुआ भाग वाला अर्थात् बैल के कन्धे के समान जिस छन्द का मध्य भाग उठा हुआ रहता है उस छन्द को ककुप् कहते हैं। अथवा कौटिल्यार्थक कुज् धातु से "ककुप्" शब्द की सिद्धि होती है अथवा न्यग्भावार्थक उब्ज् धातु से ककुप् शब्द की सिद्धि हो जायेगी।

मूल—कुब्जश्च।

अर्थ—कुब्ज शब्द का अर्थ कुबड़ा होता है। इस कुब्ज शब्द की भी सिद्धि कौटिल्यार्थक कुज् धातु से अथवा न्यग्भावार्थक कुज् धातु से हो जायेगी।

मूल—अनुष्टुबनुष्टोभनात्। गायत्रीमेव त्रिपदां सतीं चतुर्थेन पादेनानुष्टोभति। इति च ब्राह्मणम्।

अर्थ—अब अनुष्टुप् छन्द का निर्वचन करते हैं कि यह अनुष्टुप् छन्द अनुकरण करने से बनता है। परन्तु यह अनुकरण किस का किया जाता है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा है कि 'त्रिपदां सतीं गायत्रीमेव चतुर्थेन पादेन अनुष्टौभति" अर्थात् तीन पदों वाले गायत्री छन्द का अनुकरण चतुर्थ पाद से करता है, अतः इसलिए अनुष्टुप् यह नाम पड़ा। ऐसा ब्राह्मण-ग्रन्थों में कहा गया है।

मूल—बृहती परिबर्हणात्। पंक्तिः पञ्चपदा।

अर्थ—परिवृद्धि के कारण छन्द का नाम बृहती पड़ गया। क्योंकि बृहती छन्द में चार अक्षर अनुष्टुप् छन्द से अधिक होते हैं। पाँच चरणों वाले छन्द को पंक्ति छन्द कहते हैं अर्थात् पंक्ति छन्द में पाँच चरण होते हैं।

मूल—त्रिष्टुप् स्तोभत्युत्तरपदा। का तु त्रिता स्यात्। तीर्णतमं छन्दः। त्रिवृद्वज्रः। तस्य स्तोभतीति वा। यत् त्रिरस्तोभत् तत् त्रिष्टुभस्त्रिष्टुप्त्वम् इति विज्ञायते।

अर्थ—त्रिष्टुप छन्द का नाम त्रिष्टुप् कैसे पड़ा? इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि त्रिष्टुप् छन्द में "स्तुभ्" शब्द उत्तर भाग में पढ़ा गया है इसीलिए

इस छन्द को त्रिष्टुप् कहा गया है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि स्तुभ् शब्द तो उत्तर भाग में पढ़ा गया है। इसलिये त्रिष्टुप् नाम पड़ा, परन्तु पूर्व भाग में "त्रि" शब्द कहाँ से आ गया ? इसके उत्तर में कहा है कि यह त्रिष्टुप् छन्द अन्य छन्दों के पार गया है अर्थात् अन्य छन्दों की अपेक्षा यह अधिक विस्तृत है। इसलिए इसके पूर्व भाग में "त्रि" शब्द जोड़ा गया है। अथवा त्रिवृत नामक वज्र की इस छन्द से स्तुति की गई है इसलिए इसको त्रिष्टुप् कहते हैं। जिस कारण से तीन बार स्तुति की गई है इसलिए उसी त्रिष्टुप् छन्द का त्रिष्टुप्त्व है। ऐसा प्रतीत होता है।

मूल—जगती गततमं छन्दः। जलचरगतिर्वा। जल्गल्यमानोऽसृजत् इनि च ब्राह्मणम्।

अर्थ—आगे गया हुआ अर्थात् सबसे अन्तिम छन्द होने के कारण इस छन्द का नाम "जगती" छन्द पड़ गया अथवा जल की तरङ्गों के समान इस छन्द का विस्तार किया गया है। अतः जगती यह नाम पड़ गया। ब्राह्मण-ग्रन्थों का मत है कि ब्रह्मा ने हर्ष रहित होकर इस छन्द की रचना की है इसीलिए इसका नाम "जगती" छन्द पड़ गया।

मूल—विराड्विराजनाद्वा विराधनाद्वा। विप्रापणाद्वा। विराजनात्सं-पूर्णाक्षरा। विराधनादूनाक्षरा। विप्रापणादधिकाक्षरा।

अर्थ—विराट् छन्द का नाम विराट् ही क्यों हुआ कुछ और क्यों नहीं हुआ ? इस प्रश्न के समाधान में कहा है कि दीप्तिमान् होने से अथवा ऋद्धि रहित होने से, अथवा विशेष लाभ होने से यह विराट् नाम पड़ा। इसका तात्पर्य है कि दीप्तिमान से अर्थ है कि सम्पूर्ण अक्षरों से युक्त (छन्द), विराधन अर्थात् ऋद्धिहीन का अर्थ है कि कम अक्षरों से युक्त (छन्द), विप्रापण का अर्थ है अधिक अक्षरों से युक्त (छन्द), इस प्रकार उपर्युक्त तीन गुणों से युक्त छन्द को विराट् छन्द कहा जाता है।

मूल—पिपीलिकामध्येत्यौपमिकम् पिपीलिका पेलतेर्गतिकर्मणः।

अर्थ—पिपीलिका छन्द का नाम पिपीलिका कैसे पड़ गया ? इसके उत्तर में कहा है कि जिस छन्द के मध्य में जो चरण थोड़े अक्षरों से युक्त होता है, वह चरण पिपीलिका के मध्य भाग के समान प्रतीत होता है। इस समानता के

कारण इस छन्द का नाम पिपीलिका पड़ गया। गमनार्थक "पेल्" धातु से "पिपीलिका" शब्द बनता है।

मूल—इतीमा देवता अनुक्रान्ताः।

अर्थ—इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के द्वारा अग्नि, इन्द्र, आदित्य आदि देवताओं का संक्षिप्त वर्णन समाप्त हुआ।

मूल—सूक्तभाजः। हविर्भाजः। ऋग्भाजश्च भूयिष्ठाः काश्चिन्निपातभाजः।

अर्थ—ऊपर वर्णन किये गये देवताओं में कोई तो सूक्तभाक् देवता होते हैं और कोई हविर्भाक् होते हैं। कोई तो केवल सूक्तभाक् ही होते हैं हविर्भाक् नहीं। कोई हविर्भाक् होते हैं, सूक्तभाक् नहीं और कोई दोनों अर्थात् सूक्त और हविर्भाक् उभयविध होते हैं। परन्तु अधिक संख्या में देवता ऋग्भाक् होते हैं और कोई निपातभाक् भी होते हैं। सूक्तभाक् देवता वे होते हैं जिनका वर्णन एक अथवा अनेक सूक्तों में किया जाता है उन्हें सूक्तभाक् कहते हैं। हविर्भाक् देवता वे होते हैं जो हविग्रहण करने के तो अधिकारी होते हैं परन्तु सूक्तभाक् नहीं होते हैं उन्हें हविर्भाक् कहते हैं। निपातभाक् देवता वे होते हैं जिनका वर्णन अन्य देवताओं के साथ गौण रूप से किया जाता है, उन्हें निपातभाक् कहते हैं। ऋग्भाक् वे होते हैं जिनका वर्णन ऋचाओं में किया गया है, अतः उन्हें ऋग्भाक् कहते हैं।

मूल—अथोताभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति। इन्द्राय वृत्रघ्ने। "इन्द्राय वृत्रतुरे"। 'इन्द्रायांहोमुच इति"। (मै० सं० ३।१५।११)

अर्थ—अधिकारवाचक "अथ" शब्द और "उत" शब्द अपि के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं और गुणवाचक नामों को सम्बोधित करके हवि प्रदान की जाती है। उदाहरणार्थ "इन्द्राय वृत्रघ्ने" अर्थात् वृत्र का वध करने वाले इन्द्र के लिये हवि दी जाती है। 'वृत्रघ्न, वृत्रतुर' और अहोमुच ये इन्द्र के साधक नाम अथवा विशेषण हैं। अतः इन विशेषणों से युक्त इन्द्र को हवि प्रदान की जाती है।

मूल—तान्यप्येके समामनन्ति।

अर्थ—इन गुणवाचक विशेषणों को भी कुछ निरुक्तकारों ने देवता समाम्नायपद में अलग पढ़ा है।

मूल—भूयांसि तु समाम्नानात् ।

यत्तु संविज्ञानभूतं स्यात् प्राधान्यस्तुति सत्समामने ।

अर्थ—इस प्रकार देवताओं की संख्या बहुत अधिक हो जाती है और देवताओं के समाम्नाय से भी बहुत अधिक संख्या हो जाती है ।

मैं तो उसे देवता की श्रेणी में ही मानता हूँ । जिस देवता की प्रधान रूप से स्तुति की गई और स्तुति के कारण जो विशेष्यवाचक नाम पड़ गया है, मैं उस विशेष्य को ही देवता मानता हूँ, विशेषण को नहीं । क्योंकि विशेषण विशेष्य से बाहर कुछ और न होकर विशेष्य के अन्तर्भूत ही होते हैं ।

मूल—अथोत कर्मभिर्ऋषिभिर्देवताः स्तौति । वृत्रहा । पुरन्दरः । इति ।

अर्थ—और वेद कर्मों के आधार पर देवताओं की स्तुति करते हैं । उदाहरणार्थ वृत्रहा, और पुरन्दर आदि शब्दों को ले सकते हैं । वृत्रहा = वृत्र को मारने वाला अर्थात् इन्द्र, पुरन्दर = पुरों (दैत्य नगरों) का दारण (नष्ट) करने वाला अर्थात् इन्द्र । अतः कर्मों के आधार पर देवताओं के नाम प्रसिद्ध हुए ।

मूल—तान्यप्येके समामनन्ति ।

अर्थ—कुछ निरुक्तकारों ने देवताओं के कर्मों के आधार पर प्रसिद्ध नामों को भी देवता समाम्नाय में पढ़ा है ।

मूल—भूयांसि तु समाम्नानात् ।

अर्थ—अब एक समस्या उत्पन्न हो जाती है कि यदि कर्मों के आधार पर प्रसिद्ध नामों को और कर्मों के अनुसार विशेषणों को देवता मान लेंगे अर्थात् देवता सामाम्नाय के अन्तर्गत पढ़ेंगे तो यह देवताओं की संख्या उनके सामाम्नाय से भी बहुत अधिक बढ़ जायेगी ।

मूल—व्यञ्जनमात्रं तु तत् तस्याभिधानस्य भवति । यथा ब्राह्मणाय बुभुक्षितायौदनं देहि । स्नातायानुलेपनम् । पिपासते पानीयमिति ।

अर्थ—(विशेषण को देवता नहीं मान सकते हैं यह उपपादन करते हुए कहा है कि) जिस प्रकार कोई कहता है कि जो ब्राह्मण भूख से व्याकुल हो तो उसे

ओदन् (भात) दे दो। यदि स्नान कर लिया हो तो उसे चन्दन दे दो। यदि, प्यास से व्याकुल हो तो उसे पानी दे दो, प्रस्तुत इस वाक्य में ब्राह्मण एक है परन्तु उसके विशेषण अनेक दिये गये हैं। विशेषणों के अनेक होने के कारण ब्राह्मण अनेक नहीं हो जाता है एक ही रहता है। इसी प्रकार कर्म और विशेषणों के आधार पर पड़ने वाले नामों को देवता नहीं मान सकते हैं, क्योंकि एक ही देवता भिन्न-भिन्न समय में अनेक काम करता है तो क्या वह कर्मों के आधार से अनेक हो जाता है। कभी नहीं वह एक ही रहता है। अतः जो देवता होता है, वही देवता कोटि में आता है। विशेषण को देवता कोटि में नहीं मानते हैं।

(इति तृतीयः पादः)

———

चतुर्थः पादः

मूल—अथातोऽनुक्रमिष्यामः।

अर्थ—पाद के प्रारम्भ में अथ शब्द का अधिकार के अर्थ में पाठ किया गया है। अब इस पाद के प्रारम्भ से निघण्टु के दैवतकाण्ड की क्रमशः व्याख्या प्रस्तुत करेंगे।

मूल—अग्निः पृथिवीस्थानः। तं प्रथमं व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अग्नि नामक देवता पृथिवी स्थानीय है अर्थात् अग्नि पृथिवीलोक में रहता है, द्युलोक में नहीं। अतः पृथिवी स्थानीय अग्नि देवता की हम पहले व्याख्या करेंगे अर्थात् जो द्युलोक अथवा अन्तरिक्ष लोक में नहीं रहता है और पृथिवी पर ही रहता है उस अग्नि देवता को प्रथम व्याख्या करेंगे।

मूल—अग्निः कस्मात्। अग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते। अङ्गं नयति सन्नममानः।

अर्थ—अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अग्नि को अग्नि क्यों कहा जाता है अर्थात् अग्नि यह नाम कैसे पड़ा? इसका समाधान करते हुए कहा है कि अग्नि समस्त देवताओं का अग्रणी होता है। अग्र शब्द से तात्पर्य प्रधान देवता का वाचक है अर्थात् अग्नि ही सब देवताओं में प्रधान होता है, क्योंकि वह अग्नि सर्वत्र अपने को आगे ले जाता है तथा सर्वत्र ऐसा उपकार करता है कि स्वय ही सबका अग्रणी हो जाता है अथवा यज्ञों में ही अग्नि समस्त देवताओं से पहले ले जाया जाता है क्योंकि अग्नि के द्वारा यज्ञ के कार्यों का प्रारम्भ होता है। अथवा घास, फूस, तृण तथा लकड़ी आदि जिस किसी वस्तु को अग्नि आश्रय प्रदान करता है उसे आत्मसात् कर लेता है अर्थात् अपने वश में कर लेता है। अतः अग्नि यह नाम पड़ गया।

मूल—अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः। न क्नोपयति न स्नेहयति।

अर्थ—"स्थौलाष्ठीवि" नामक आचार्य का मत है कि अक्नोपन होता है अर्थात् नीरस (रुक्ष) होता है स्निग्ध (आर्द्र) नहीं करता है अर्थात् समस्त द्रव पदार्थों को सुखा देता है, रुक्ष बना देता है। इसलिये इसका नाम अग्नि पड़ गया। अक्नोपन का अर्थ रुक्ष करना, द्रव रहित अथवा रूखा करना है।

मूल—त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः। इतात् अक्ताद्दग्धाद्वा। नीतात्। स खल्वेतेरकारमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः परः।

अर्थ—शाकपूणि नामक आचार्य का मत है कि अग्नि शब्द की सिद्धि तीन धातुओं से होती है। अर्थात् गत्यर्थक "इण्" धातु से व्याप्तार्थक "अञ्ज्" धातु से अथवा दाहार्थक "दह्" धातु से, प्रापणार्थक "णीञ्" धातु से अग्नि शब्द निष्पन्न होता है। यहाँ प्रथम तीन धातुओं से अग्नि शब्द की सिद्धि का उल्लेख किया है और फिर वर्णन करने पर चार धातुएँ हो जाती हैं ऐसा क्यों होता है? इसका समाधान यह है कि (१) इण (२) अञ्ज् अथवा दह् और (३) णीञ् धातु से अग्नि शब्द की सिद्धि होती है अतः अञ्ज् और दह् धातु में विकल्प समझना चाहिये। यह शाकपूणि आचार्य का कहना है कि "इण्" गतौ धातु से "अ" "अञ्ज" अथवा "दह्" धातु से "ग", "नी" धातु से न ग्रहण करके अग्नि शब्द की सिद्धि होती है।

मूल—तस्यैषा भवति।

अर्थ—उस प्रसिद्ध अग्नि देवता की यह निम्नलिखित ऋचा है।

मूल—"अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्"। (ऋ० १।१।१)

अग्निमीलेऽग्नि याचामि। ईलिरध्येषणाकर्मा। पूजाकर्मा वा। पुरोहितो व्याख्यातो यज्ञश्च। देवो दानाद्वा। दीपनाद्वा। द्योतनाद्वा। द्युस्थानोभवतीति वा यो देवः सा देवता। होतारं ह्वातारम्। जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभः। रत्नधातमं रमणीयानां धनानां दातृतमम्।

मन्त्रार्थ—समस्त यज्ञों के पुरोहित अर्थात् सर्वप्रथम स्थापित किये जाने

वाले प्रदीपक हरएक ऋतु में होने वाले यज्ञ को पूर्ण करने वाले यष्टा देवताओं को आमन्त्रित करने वाले, रत्नों को प्रदान करने वाले अग्निदेव की स्तुति करता हूँ अथवा अग्निदेव से याचना करता हूँ।

ईड् धातु का अर्थ याचना करना अथवा स्तुति करना है। यज्ञ और पुरोहित शब्द की व्याख्या पहले की जा चुकी है, अब देव शब्द का निर्वचन करते हैं कि देव यह नाम दान देने के कारण पड़ा अथवा दीपन करने वाला होने के कारण, अथवा, प्रकाश करने वाला होने के कारण अथवा देवलोक में रहने के कारण "देव" कहा जाता है। जो देव है उसको ही देवता कहते हैं अर्थात् देव और देवता में कोई अन्तर नहीं है। होता शब्द का अर्थ आह्वान करने वाला अर्थात् बुलाने वाला होता है। और्णवाभ नामक आचार्य का कहना है कि "होता" शब्द की सिद्धि 'हु' धातु से होती है। यह अग्नि उत्तम रत्नों का दान देता है अथवा देवता रत्नों का दाता है।

मूल—तस्यैषापरा भवति।

"अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्षति"। ऋ० १।१।२)

अर्थ—उस परिषद अग्नि देवता के विषय में यह दूसरी ऋचा है।

मन्त्रार्थ—जिस अग्नि की सभी प्राचीन ऋषियों ने स्तुति की है अर्थात् प्राचीन ऋषियों के द्वारा वह अग्नि स्तुत्य एवं प्रार्थनीय है। और जो नवीन हम लोग हैं उनके लिए भी अग्नि स्तुति करने योग्य अथवा प्रार्थनीय है। वह देवताओं में अग्रणी अग्नि यहाँ, इस यज्ञ में देवताओं को बुलाकर ले आवे अर्थात् देवताओं सहित आवे यज्ञ पूर्ण करे।

मूल—अग्निर्यः पूर्वैर्ऋषिभिरीलितव्यो वन्दितव्योऽस्माभिश्च नवतरैः स देवानिहावहत्विति।

स न मन्येतायमेवाग्निरिति। अप्येते उतरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते। ततो नु मध्यमः।

अर्थ—जैसे अग्नि प्राचीन ऋचाओं के द्वारा स्तुत्य एवं वन्दनीय है, उसी

प्रकार वह अग्नि हम नवीन ऋचाओं द्वारा भी स्तुत्य है। अग्नि से केवल पृथ्वी स्थानीय अग्नि ही नहीं समझनी चाहिए, अपितु अग्नि शब्द से प्रकाश राशि बिजली और सूर्य दोनों को भी समझना चाहिए, केवल पार्थिव अग्नि नहीं। इस प्रकार यह ऋचा मध्यम स्थानीय अग्नि अर्थात् बिजली और सूर्य से सम्बन्धित है।

अत: मध्यम अग्नि के विषय में निम्न ऋचा देखिये :—

मूल—"अभि प्रवन्त समनेव योषा: कल्याण्य: १ स्मयमानासो अग्निम्।
घृतस्य धारा: समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्य्यति जातवेदा:"॥
(ऋ० ४।५८।८)

अभिनमन्त समनस इव योषा:। समनं समननाद्वा। संमाननाद्वा। कल्याण्य: स्मयमानास: अग्निमित्यौपमिकम्। घृतस्य धारा उदकस्य धारा: समिधो नसन्त। नसतिराप्नोतिकर्मा वा। नमतिकर्मा वा। ता जुषाणोहर्यति जातवेदा:। हर्यति: प्रेप्साकर्मा। विहर्य्यतीति।

अर्थ—रूप सौन्दर्य आदि गुणों से युक्त मुस्कराती हुई पति के मन को रखने वाली स्त्रियाँ जिस प्रकार अपने पति को अनुकल करके प्राप्त करती हैं, उसी प्रकार जल की धारायें प्रदीप्त करती हुई मध्यस्थानीय अग्नि अर्थात् बिजली को प्राप्त करती हैं। उन जल की धाराओं का सेवन करता हुआ मध्यम-स्थानीय अग्नि अर्थात् विद्युत् बार-बार इच्छा करता है अर्थात् जिस प्रकार पत्नी पति को चाहती है, उसी प्रकार जल की धारायें विद्युत् रूप मध्यम-स्थानीय अग्नि को चाहती हैं।

समनम् शब्द की निष्पत्ति समान मनन करने से अथवा समान मान करने से, समन बनता है अथवा "समन" कहा जाता है अथवा समनस् शब्द के अन्तिम वर्ण "स्" का लोप हो जाने पर "समन" शेष रहता है। रूपयौवन सौन्दर्य आदि गुणों से युक्त और मुसकराती हुई इस वर्णन में उपमा अलङ्कार की छटा दर्शनीय है। "नसति" क्रिया का अर्थ प्राप्त करना है अथवा नमन कर्म वाली समनस् धातु का अर्थ नमन करना है। "हर्य्यति" क्रिया का अर्थ इच्छा करना है। इस मन्त्र में अग्नि शब्द का अर्थ विद्युत् है। यहाँ जल की धाराओं से बिजली के उत्पन्न होने की क्रिया का वर्णन किया गया है।

मूल—"समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारत्" (ऋ० ४।५८।१) इत्यादित्यमुक्तं मन्यन्ते।

अर्थ— 'समुद्रात्" इत्यादि मन्त्र में "आदित्य" शब्द का नाम कथन किया गया है अर्थात् प्रस्तुत मन्त्र में आदित्याग्नि का नाम ग्रहण किया गया है। पूर्ण मन्त्र निम्न प्रकार देखिये।

मूल—समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारदुपांशुना सममृतत्वमानट्।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः।

अर्थ—आकाश अथवा जल-समूह से प्रकाश से सबको ढकने वाला जल युक्त आदित्य उदय हुआ। वह आदित्य चन्द्रमा के साथ मिलकर अमृतत्व अर्थात् अमरणधर्म को प्राप्त करता है। वह किस प्रकार अमृतत्व को प्राप्त करता है। उसका वर्णन इस प्रकार है—

हवि अथवा जल का जो गुप्त रहस्य है, चन्द्रमा में रहता है। उस जल के गुप्त रहस्य का किरणों की जिह्वा से अर्थात् आदित्य अपनी किरण रूपी जिह्वा से सदा आस्वाद प्राप्त करता है। वह चन्द्रमा अमृत अमरणधर्म की नाभि, इन्धन स्थान अथवा कारण है। इस मन्त्र का आशय यह है कि चन्द्रमा के पास अमृत रहता है और सूर्य के पास प्रकाश रहता है। अतः सूर्य अपनी किरणों से चन्द्रमा से अमृतत्व ग्रहण करता है। इस चन्द्रमा के अमृतत्व को पाकर ही "अमरण" धर्मा बन गया है अर्थात् सूय और चन्द्र दोनों परस्पर अन्योऽन्य आश्रित रहते हैं। इस मन्त्र को आदित्याग्नि को लक्ष्य करके कहा गया है।

यदि कोई यह सन्देह व्यक्त करे कि इस मन्त्र मे अग्नि शब्द का कोई संकेत नहीं किया गया है। फिर आदित्याग्नि का वर्णन कैसे ग्रहण किया जाता है। इस सन्देह के समाधानार्थ कहा है कि इस सूक्त के एक मन्त्र में अग्नि शब्द का प्रयोग किया गया है। सूक्त का एक देवता होता है, जब तक किसी मन्त्र में किसी अन्य देवता का नाम न लिया गया हो अतः एक मन्त्र में अग्नि का प्रयोग होने से अन्य मन्त्रों में प्रसंग से अग्नि को ही देवता माना जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थ में भी इस मत की पुष्टि की गई है जैसा कि निम्न प्रकार देखिये—

मूल—"समुद्राद्धयेषोऽद्भ्यः उदेति" (कौ० ब्रा० २५।१) इति च ब्राह्मणम्। अथापि ब्राह्मणं भवति "अग्निः सर्वा देवताः" (ऐ० ब्रा० २।३) इति। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
(ऋ० १।१६४।४६)

इममेवाग्निं महान्तं [च] आत्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति। इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं दिव्यं च गरुत्मन्तम्। दिव्यो दिविजः। गरुत्मान् गरणवान्। गुर्वात्मा महात्मेति वा।

अर्थ—अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि सूक्त के एक मन्त्र में पठित 'अग्नि" शब्द का आधार लेकर प्रसंग की सहायता से उपर्युक्त मन्त्र का देवता अग्नि मान भी लें तो भी अग्नि से आदित्याग्नि कैसे स्वीकार करेंगे? इस प्रश्न के समाधानार्थ कहा है कि यह आदित्याग्नि आकाश अथवा जल से उदय हुआ है, इसलिये यहाँ पृथिवी स्थानीय पार्थिव अग्नि का ग्रहण न करके आदित्याग्नि अर्थात् सौर अग्नि ग्रहण किया जाता है। इसका कारण स्पष्ट है कि पार्थिव-अग्नि, (पृथिवी स्थानीय पार्थिव अग्नि), आकाश अथवा जल से उत्पन्न नहीं होता है। आकाश मे तो सौर अग्नि का ही उदय (जन्म) होता है, पार्थिवाग्नि का नहीं। क्योंकि पार्थिव अग्नि का तो प्रत्यक्ष एवं स्वभावतः जल से विरोध है। अतः आदित्याग्नि का ही वर्णन किया गया है, पार्थिव अग्नि का नहीं।

इसी अर्थ की पुष्टि में ब्राह्मण-ग्रन्थ में भी कहा गया है कि अग्नि ही सब देवता हैं अथवा अग्नि समस्त देवताओं में प्रधान है अथवा अग्नि देवता के नाम ग्रहण से अन्य समस्त देवताओं का ग्रहण हो जाता है।

उस ब्राह्मण-ग्रन्थ के वाक्य के प्रमाणस्वरूप निम्न ऋचा को देखिये जो ऋचा ब्राह्मण-ग्रन्थ के इस कथन की अत्यधिक पुष्टि के रूप में प्रस्तुत की गई है।

मन्त्रार्थ—अग्नि को ही इन्द्र, मित्र और वरुण के नाम से अभिहित किया गया है और द्युलोक में रहने वाला पतनशील, स्तुतियों से युक्त, अथवा रसों

(जलों) को किरणों से खींचने वाला आदित्य (सूर्य) भी वही अग्नि है। इस एक ही अग्नि को बुद्धिमान् अथवा आत्मज्ञान् के रहस्य को जानने वाले विद्वान् लोग अनेक नामों से सम्बोधित (आमन्त्रित) करते हैं। जैसे अग्नि को यम, मातरिश्वा आदि नामों से पुकारते हैं। गरुत्मान् शब्द का निर्वचन इस प्रकार है—गुरु है, विशाल है आत्मा जिसका वह ऐसे गुणों से युक्त विशिष्ट, महात्मा स्तुति करने वाला।

मूल—यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरूप्यतेऽयमेव सोऽग्निः। निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते।

अर्थ—अब यहाँ यह स्पष्ट करते हैं कि निःसन्देह अनेक देवताओं को अग्नि कहते हैं अथवा अनेक देवताओं का नाम अग्नि है। आदित्य, बिजली आदि को अग्नि कहते हैं परन्तु आदित्य और बिजली आदि को गौण रूप से अग्नि कहते हैं। इस प्रकार अन्य देवताओं के लिये व्यवहृत होने वाला अग्नि यह नाम गौण से व्यवहृत होता है। मुख्य रूप से नहीं। सच तो यह है कि अग्नि तो पार्थिव अग्नि ही है। यह पार्थिव अग्नि ही प्रधान (मुख्य) है।

जो अग्नि सूक्तभाक् है अर्थात् जिस अग्नि के नाम से आग्नेय सूक्त का व्यवहार किया जाता है और जिस अग्नि को हवि को प्रदान करते हैं, वह तो अग्नि केवल पृथिवी स्थानीय अर्थात् पार्थिव अग्नि ही है और न आदित्य तथा न ही विद्युत अग्नि सूक्तभाक् है और न आदित्य तथा विद्युत् को हवि दी जाती है। मुख्य रूप से आहुति अग्नि को ही दी जाती है। ये मध्यम और उत्तर ज्योति विद्युत् और आदित्य तो अप्रधान रूप से अग्नि इस नाम से व्यवहृत होते हैं। वस्तुतः आदित्य और विद्युत् तो अग्नि इस नाम से निपात अर्थात् गौणरूप से व्यवहार के भागी हैं।

(इति चतुर्थः पादः)

———

पंचमः पादः

मूल—जातवेदाः कस्मात् जातानि वेद। जातानि वैनं विदुः। जाते जाते विद्यते इति वा। जातवित्तो वा। जातधनः जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः। यत्तज्जातः पशूनविन्दत इति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम् इति ब्राह्मणम्। तस्मात्सर्वानृतूःपशवोऽग्निमभिसर्पन्ति इति च।

अर्थ—अग्नि को जातवेद क्यों कहा जाता है ? अग्नि का जातवेद यह नाम कैसे पड गया ? जातवेद शब्द की सिद्धि या व्युत्पत्ति क्या है ? उत्तर में कहा है कि संसार के समस्त पदार्थों को अग्नि जानता है अर्थात् वह सर्वज्ञ है अथवा संसार के जितने भी पदार्थ है वे सब अग्नि के महत्त्व को अथवा स्वरूप को जानते हैं। इसलिये अग्नि को जातवेद कहते हैं अथवा संसार में उत्पन्न होने वाले समस्त पदार्थों में अग्नि विद्यमान रहता है, इसलिये जातवेद कहते हैं अथवा जिससे ऐश्वर्यादि धन सम्पत्ति उत्पन्न होती है, इसलिये अग्नि को जातवेद कहते हैं अथवा यह अग्नि स्वभाव से ही ज्ञान सम्पन्न है, इसलिये अग्नि को जातवेद कहते हैं अथवा यह अग्नि स्वयं स्वभाव से प्रकाशवान् है क्योंकि अग्नि ने उत्पन्न होने के समय में ही पशुओं को प्राप्त किया। इसीलिये उस अग्नि का यही जातदेवस्त्व अर्थात् स्वाभाविक ज्ञान है। इसीलिये जातवेद यह नाम पड़ गया, ऐसा ब्राह्मण ग्रन्थों का कथन है। यही कारण है कि समस्त पशु अग्नि को अपना स्वामी समझकर सभी ऋतुओं में अर्थात् सदा पशु अग्नि की ओर जाते हैं।

मूल—तस्यैषा भवति।

जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो निदहाति वेदः।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वानानेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः॥

(ऋ० १।९९।१)

जातवेदस इति जातवेदस्यां वैवं जातवेदसेऽर्चाय सुनवाम सोममिति। प्रसवायाभिषवाय सोमं राजानममृतमरातीयतो यज्ञार्थमनिस्मो निदहाति

निश्चयेन दहति भस्मीकरोति । सोमो ददातित्यर्थः । स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वानि दुर्गमानि स्थानानि नावेव सिन्धुं जलदुर्गां महाकूलां तारयति। दुरितात्यग्निरिति दुरितानि तारयति ।

अर्थ—जातमात्र अर्थात् उत्पन्न होते ही समस्त पदार्थों तथा विषयों को जानने वाले अग्नि देव के लिये हम लोग लतारूप सोमरस का निष्पादन करते हैं अर्थात् लता को कूट कर सोमरस निचोड़ते हैं। वह अग्नि देव हमारे साथ शत्रुवत् व्यवहार करने वाले के धन आदि वस्तु समूह को भस्म करे और भी वह अग्नि देव हमको समस्त दुस्तर पाप कर्मों अथवा दुःखों से पार कर दे। जिस प्रकार कोई कुशल मल्लाह नौका के द्वारा दुष्ट मगर आदि हिंसक जीवों से परिपूर्ण नदी के पार लोगों को पहुँचा देता है, उसी प्रकार हे अग्नि देव दुस्तर कर्म एवं दुःख रूपी मगर आदि से परिपूर्ण संसार रूपी नदी से पार कर दे।

मूल—तस्यैषापरा भवति। "प्र नूनं जातवेदसमश्वं हिनोत वाजिनम्। इदं नो बर्हिरासदे"। (ऋ० १०।१८८।१) प्रहिणुत जातवेदसं कर्मभिः समश्नुवानम्। अपि वोपमार्थे स्यात्। अश्वमिव जातवेदसमिति। इदं नो बर्हिरासीदत्विति।

अर्थ—प्रस्तुत मन्त्र में पठित नूनम्' शब्द पदपूर्ति के लिये पढ़ा गया है। हे देवताओं! अपने कर्मों से व्याप्त करने वाले ज्वालाओं के कारण चञ्चल अथवा तीव्र गति वाले अग्नि को हमारे इस बर्हि (कुश) से युक्त कर्म में अर्थात् यज्ञ में प्राप्त होने के लिये अर्थात् आने के लिये प्रेरित करो अथवा इस मन्त्र में पठित अश्व शब्द उपमा के लिये पढ़ा गया है। अतः यह अर्थ भी हो सकता है कि तीव्र गति वाले घोड़े के समान अप्रतिहत गति अग्नि देव को हमारे बर्हि युक्त कर्म में अर्थात् यज्ञ में उपस्थित होने के लिये प्रेरित करें।

मूल—तदेतदेकमेव जातवेदसं गायत्रं तृच दशतयीषु विद्यते। यत्तु किञ्चिदाग्नेयं तज्जातवेदसानां स्थाने युज्यते।

अर्थ—यह एक ही जातवेद शब्द युक्त गायत्री नामक छन्द से युक्त तीन ऋचाओं का सूक्त ऋग्वेद में प्राप्त होता है। जो कोई आग्नेय नामक सूक्त

गायत्री छन्द में निबद्ध है, उनका जातवेद के स्थान में प्रयोग किया जाता है। इससे यह स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि जातवेद और अग्नि दोनों समानार्थक अर्थात् पर्यायवाची शब्द हैं।

मूल—स न मन्येतायमेवाग्निरिति। अप्येते उत्तरे ज्योतिषी जातवेदसी उच्येते। ततो नु मध्यमः। "अभि प्रवन्त समनेव योषाः" इति। तत्पुरस्ताद् व्याख्यातम्। अथासावादित्यः। "उदुत्य जातवेदसम्" इति। तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः। यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरूप्यतेऽयमेव सोऽग्निर्जातवेदाः निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजते।

अर्थ—कोई निरुक्त शास्त्र का जिज्ञासु यह न समझने लगे कि जातवेद शब्द से केवल पार्थिव अग्नि का ही ग्रहण होता है अपितु मध्यम तथा उत्तर अर्थात् विद्युत् और आदित्य (सूर्य) को भी जातवेद कहते हैं। अतः अब हम यहाँ मध्यम अग्नि (जातवेद) का उदाहरण दे रहे हैं। "अभिप्रवन्त सवनेव इति पुरस्तात्—व्याख्यातम्" इस मन्त्र की पहले व्याख्या की जा चुकी है और जो उत्तर जातवेद है, उसे आदित्य कहते हैं। प्रस्तुत मन्त्र में गृहीत "उदुत्यम्" शब्द की व्याख्या आगे की जायेगी। जो जातवेद सूक्तभाक् है और जिसको हवि प्रदान की जाती है, वही यह पार्थिव अग्नि जातवेद है। विद्युत् और आदित्य भी जातवेद के नाम से गौण रूप में व्यवहृत होते हैं, मुख्य रूप से नहीं।

(इति पञ्चमः पादः)

———

षष्ठः पादः

मूल—वैश्वानरः कस्मात् ? विश्वान्नरान्नयति। विश्व एनं नार नयन्तीति वा। अपि वा विश्वानर एव स्यात्। प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि तस्य वैश्वानरः।

अर्थ—अग्नि का यह वैश्वानर नाम कैसे पड़ गया अर्थात् अग्नि को वैश्वानर क्यों कहा जाता है ? इसका समाधान करते हुए कहा है कि यह अग्नि समस्त मनुष्यों को इस भूलोक से परलोक अर्थात् द्युलोक में प्राप्त कराता है अथवा इस अग्नि को संसार में समस्त मनुष्य प्राप्त करते हैं अथवा जो सबको प्राप्त हो अर्थात् समस्त जीवों में व्याप्त हो अर्थात् सब में रह रहा हो, उसको वैश्वानर कहते हैं और विश्वानर की सन्तान को वैश्वानर कहते हैं अर्थात् अपत्य अर्थ में विश्वानर शब्द से "तस्यापत्यम्" सूत्र से "अण्" प्रत्यय होता है, जिससे 'वैश्वानरः' शब्द निष्पन्न होता है।

मूल—तस्यैषा भवति।

अर्थ—उस वैश्वानर के सम्बन्ध में यह ऋचा कही गई है, जो निम्न प्रकार देखिये।

मूल—"वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः।
इतो जातो विश्वमिदं वि चष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण"॥
(ऋ० १।९८।१)

इतो जातः सर्वमिदमभिविपश्यति वैश्वानरः संयतते सूर्येण। राजा यः सर्वेषां भूतानामभिश्रयणीयस्तस्य वयं वैश्वानरस्य कल्याण्यां मतौ स्यामेति।

मन्त्रार्थ—हम वैश्वानर की बुद्धि के अधीन होवें अर्थात् हमको वैश्वानर की सुबुद्धि प्राप्त होवे। यहाँ इस मन्त्र में पठित 'हि' और 'कम्' शब्द ये दोनों पदपूर्ति के लिये ही पढ़े गये हैं। जो समस्त प्राणियों का आश्रय देने में समर्थ

प्राणियों का राजा है। जो इस भूलोक से तथा औषधियों से उत्पन्न हुआ है और जो इस समस्त संसार को देखता है या समस्त संसार के प्राणियों को प्रकाश प्रदान करता है और जो वैश्वानर अर्थात् सूर्य के साथ गमन करता है, सङ्गत होता है, उसे वैश्वानर कहते हैं।

मूल—तत्को वैश्वानरः ?

अर्थ—अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि वह वैश्वानर क्या वस्तु है? इसका तात्पर्य यह है कि शास्त्रों के अन्तर्गत वैश्वानर शब्द का प्रयोग आत्मा के अर्थ में हुआ है और इन्द्र, आदित्य, वायु, आकाश, जल, पृथिवी आदि के लिये भी वैश्वानर शब्द का प्रयोग हुआ हैं। अतः यहाँ इस सन्देह का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है कि यहाँ कौनसा वैश्वानर वर्णन किया गया है?

मूल—मध्यम इत्याचार्याः।

अर्थ—आचार्यों ने कहा है कि यहाँ वैश्वानर का प्रयोग मध्यम अग्नि अर्थात विद्युत के लिये किया गया है।

मूल—वर्षकर्मणा ह्येनं स्तौति।

अर्थ—वैश्वानर का प्रयोग मध्यम अग्नि अर्थात् विद्युत् के लिये किया गया है। इसका कारण यह है कि इस वैश्वानर की वेद में वृष्टि से स्तुति की गई है। अतः यहाँ वैश्वानर शब्द से मध्यम अग्नि अर्थात् विद्युत् ही अभिप्रेत है।

मूल—प्र नू महित्वं वृषभस्य यं वोचं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते।
वैश्वानरो दस्यु-मग्निर्जघन्वाँ अधूनोत्काष्ठा अव शम्बरं भेत्॥
(ऋ० १।५९।६)

प्रब्रवीमि तत्। महित्वं माहाभाग्यम् वृषभस्य वर्षितुरपाम्। यं पूरवः पूरयितव्या मनुष्याः। वृत्रहणं मेघहनम्। सचन्ते सेवन्ते वर्षकामाः। दस्युर्दस्यतेः क्षयार्थात्। उपदस्यन्त्यस्मिन्नसाः उपदासयति कर्माणि। तमग्निर्वैश्वानरो घ्नन्। अवाधूनोदपः काष्ठा अभिनत्। शम्बरं मेघम्।

अर्थ—तो अब मैं जलों की वर्षा करने वाले विद्युत् के महत्त्व (प्रभाव) को

शीघ्र ही कहता हूँ। जिस वर्षा को करने वाले की मनुष्य स्तुति करते हैं अर्थात् जल वर्षा की इच्छा करने वाले मनुष्य जिसकी स्तुति करते हैं यह वैश्वानर नामक मध्यम अग्नि अर्थात् बिजली द्रव पदार्थों को सुखाने वाली अवृष्टि को नष्ट कर डालती है तथा इसी विद्युत् ने मेघों के अन्दर रहने वाले जलों को कंपा दिया है। इसी विद्युत् ने शम्बर अर्थात् मेघ को भेदन किया है अर्थात् जल वर्षाया है। क्षयार्थक 'दसु' धातु से दस्यु शब्द की सिद्धि होती है। "अस्मिन् रक्षा उपदस्यन्ति" इस अवृष्टि में रस अर्थात् द्रव पदार्थ नष्ट हो जाते हैं, सूख जाते हैं। 'कर्माणि उपदासयति" यह अवृष्टि समस्त शुभ कार्यों को नष्ट कर देती है। उस अवृष्टि को अर्थात् जल वर्षा के अभाव को यह वैश्वानर नामक विद्युत् अग्नि नष्ट कर देता है।

मूल—अथासावादित्य इति पूर्वे याज्ञिकाः।

अर्थ—प्राचीन काल के याज्ञिकों का मत है कि यह आदित्य (सूर्य) ही वैश्वानर है अर्थात् आदित्य को ही वैश्वानर कहते हैं।

मूल—एषां लोकानां रोहेण सवनानां रोह आम्नातः। रोहात्प्रत्यवरोहश्चिकीर्षितः। तामनुकृतिं होताग्निमारुते शस्त्रे वैश्वानरीयेण सूक्तेन प्रतिपद्यते। सोऽपि न स्तोत्रियमाद्रियेत। आग्नेयो हि भवति। तत आगच्छति मध्यस्थाना देवता। रुद्रं च मरुतश्च। ततोऽग्निमिहस्थानमत्र वै स्तोत्रियं शंसति।

अर्थ—इन लोकों के आरोहण से सवनो (यज्ञों) अर्थात् प्रातःकालीन, मध्याह्निक और सायंकालिक यज्ञों का आरोहण कहा गया है अर्थात् यज्ञ करने वाला यजमान इन तीनों प्रकार के यज्ञों को करने से क्रमशः भूलोक, अन्तरिक्ष लोक और द्युलोक को प्राप्त कर लेता है। यहाँ रोह शब्द से आरोहण प्रत्यवरोह शब्द से अवरोहण करना इष्ट है अर्थात् उपर्युक्त तीनों यज्ञों से ध्यान के द्वारा द्युलोक पर आरूढ यज्ञ करने वाले का द्युलोक से नीचे (भूलोक पर) अवरोहण करना (उतरना) इष्ट (अभिमत) है। उस अवरोहण (उतरने की क्रिया) के अनुकरण को होता अग्निमारुत स्तोत्र में वैश्वानरी सूक्त से

प्रारम्भ करता है। परन्तु वह भी स्तोत्र अर्थात् आग्नेय स्तोत्र का आदर नहीं करता है क्योंकि वह स्वयम् आग्नेय है।

'ततः' इसके बाद होता मध्यम स्थानीय देवताओं के समीप को जाता है। जिन देवताओं का नाम रुद्र और मरुत् देवता है अर्थात् फिर होता रुद्र और मरुत् देवता सम्बन्धी मन्त्रों को गाता है और फिर इसके बाद पृथिवी स्थानीय पार्थिव अग्नि की ओर आता है और आग्नेय स्तोत्र का ज्ञान करता है। इस आरोह और अवरोह के क्रम से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैश्वानर का अर्थ आदित्य है। ऐसा प्राचीन याज्ञिकों का मत है।

मूल—अथापि वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भवति । एतस्य हि द्वादशविधं कर्म ।

अर्थ—इसके अतिरिक्त वैश्वानर को आदित्य कहते हैं। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि वैश्वानर के लिये पुरोडास (हवि) बारह कपालों में बनाई जाती है, क्योंकि इस आदित्य के बारह प्रकार के कर्मों का कथन किया गया है अर्थात् आदित्य (सूर्य) चैत्र, वैशाख आदि बारह मासों का प्रवर्त्तक माना जाता है। इसी समानता का आधार मानकर वैश्वानर के लिये पुरोडाश (हवि) भी बारह कपालों में बनाई जाती है। इससे स्पष्ट हो रहा है कि वैश्वानर को आदित्य कहते हैं अर्थात् वैश्वानर और आदित्य पर्यायवाची शब्द हैं।

मूल—अथापि ब्राह्मणं भवति । असौ वा आदित्योऽग्निर्वैश्वानर इति ।

अर्थ—आदित्य और वैश्वानर पर्यायवाची शब्द हैं। इस विषय में ब्राह्मण ग्रन्थ भी प्रमाण हैं कि यह आदित्य ही वैश्वानर अग्नि है।

मूल—अथापि निवित्सौर्यवैश्वानरो भवति । 'आ यो द्यां भात्या पृथिवीम् इति । एष हि द्यावापृथिव्यावाभासयति ।

अर्थ—और भी निवित नामक स्तोत्र सूर्य को वैश्वानर प्रतिपादित करता है कि जो वैश्वानर द्युलोक और भूलोक को प्रकाश देता है वह द्युलोक और भूलोक को प्रकाशित करने वाला सूर्य ही है। इस कथन से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि वैश्वानर को आदित्य कहते हैं। अतः वैश्वानर आदित्य ही है, कुछ और नहीं।

मूल—अथापि छान्दोमिकं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवति। "दिवि पृष्टो अरोचत"। (यजु० ३३।९२) इति। एष हि दिवि पृष्टो अरोचतेति।

अर्थ—और भी छान्दोमिक नामक सूक्त भी सूर्य को वैश्वानर सिद्ध करता है। छान्दोमिक सूक्त में कहा गया है कि द्युलोक में रहने वाला वह वैश्वानर चमकता है अर्थात् अपने प्रकाश पुञ्ज से चमकता रहता है। इससे भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैश्वानर को आदित्य कहते हैं क्योंकि यह आदित्य (सूर्य) ही द्युलोक में रहता हुआ चमकता है। अतः वैश्वानर आदित्य है।

मूल—अथापि हविष्पान्तीयं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवति।

अर्थ—और भी हविष्पान्तीय नामक सूक्त में भी वैश्वानर को सूर्य प्रतिपादित किया गया है अर्थात् हविष्पान्तीय सूक्त भी वैश्वानर को सूर्य कहता है क्योंकि हविष्पान्तीय सूक्त में कहा है कि—

"विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्"।

इसका भावार्थ यह है कि समस्त देवताओं ने समस्त संसार के कल्याण के लिये वैश्वानर अग्नि को ही दिनों का केतु अर्थात् स्वामी बताया है। इस मन्त्र से और अधिक स्पष्ट हो जाता है कि वैश्वानर को आदित्य (सूर्य) कहते हैं। अतः वैश्वानर और आदित्य (सूर्य) ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं।

मूल—अयमेवाग्निर्वैश्वानर इति शाकपूणिः। विश्वानरावित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी। वैश्वानरोऽयं यत् ताभ्यां जायते

अर्थ—शाकपूणि आचार्य का मत है कि पार्थिव अग्नि को ही वैश्वानर कहते हैं। सूर्य अथवा विद्युत् को वैश्वानर नहीं कहते हैं। इसका कारण स्पष्ट करते हुए शाकपूणि का कहना है कि ये मध्यम और उत्तर ज्योति अर्थात् विद्युत् और सूर्य को विश्वानर कहते हैं, वैश्वानर नहीं। यह तो वैश्वानर शब्द है, विश्वानर नहीं। अतः वैश्वानर को पार्थिव अग्नि ही कहते हैं क्योंकि पार्थिव अग्नि उन दोनों विद्युत् और सूर्य से उत्पन्न होता है। इसीलिये विश्वानर की सन्तान को अपत्य अर्थ में "तस्यापत्यम्" सूत्र से अण् प्रत्यय करने पर वैश्वानर

बनता है। अतः जो सम्बन्ध पिता-पुत्र में होता है, वही सम्बन्ध विद्युत और सूर्य तथा पार्थिव अग्नि में है। इस प्रकार शाकपूणि के मत से वैश्वानर को विद्युत तथा सूर्य का पर्यायवाची नहीं माना जा सकता है। वैश्वानर पार्थिव अग्नि को ही कहते हैं।

मूल—कथं न्वयमेताभ्यां जायत इति। यत्र वैद्युतः शरणमभिहन्ति यावदनुपात्तो भवति मध्यमधर्मैव तावद् भवत्युदकेन्धनः शरीरोपशमनः। उपादीयमान एवायं सम्पद्यत उदकोपशमनः शरीरदीप्तिः।

अर्थ—अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह अग्नि विद्युत और सूर्य से कैसे उत्पन्न होता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि जिस समय वैद्युत् अग्नि आश्रय अर्थात् काष्ठ एवं जल आदि किसी वस्तु को प्राप्त होता है तो उस समय जब तक मनुष्यों अथवा पार्थिव अग्नि आदि से सम्बन्ध नहीं होता है तो उस समय मनुष्य तक मध्यम धर्मा वैद्युत अग्नि विद्युत स्वभाव वाला ही रहता है। अब यह प्रश्न होता है कि विद्युत् का क्या स्वभाव होता है ? इसके उत्तर में कहा है कि जल ही है ईंधन (लकड़ी) जिसका अर्थात् जल रूपी ईंधन से बढ़ते हुए शरीर वाला पार्थिव वस्तुओं के स्पर्श से शान्त होने वाला तथा ज्यों ही मनुष्यों के स्पर्श को प्राप्त होता है अथवा किसी भी पार्थिव वस्तु से सम्बन्ध होने पर यह विद्युत् अग्नि शीघ्र ही पार्थिव अग्नि के रूप में परिणत हो जाता है। यह पार्थिव अग्नि वैद्युत् अग्नि से सर्वथा भिन्न स्वभाव वाला होता है अर्थात् वैद्युत् अग्नि तो जल के संयोग से वृद्धि को प्राप्त होता है जबकि पार्थिव अग्नि जल से शान्त हो जाता है और पार्थिव वस्तुओं के स्पर्श से जलने लगता है। इसके विपरीत वैद्युत् अग्नि पार्थिव वस्तुओं के स्पर्श से शान्त हो जाता है। इस प्रकार दोनों के कार्य में स्पष्ट भिन्नता प्राप्त होती है। उपर्युक्त प्रकार से पार्थिव अग्नि विद्युत् अग्नि से उत्पन्न होता है। इसका आशय यह है कि जब तक विद्युत् अग्नि किसी वस्तु से स्पर्श नहीं होता है तब तक विद्युत् ही रहता है और पार्थिव वस्तुओं से स्पर्श प्राप्त करने ही विद्युत अग्नि पार्थिव अग्नि हो जाता है। इसलिये यह कहा जाता है कि पार्थिव अग्नि विद्युत् से उत्पन्न होता है तथा विश्वानर एवं विद्युत् की पार्थिव अग्नि सन्तान है।

मूल—अथादित्याद्। उदीचीं प्रथमसमावृत्त आदित्ये कंसं वा मणिं वा परिमृज्य प्रतिस्वरे यत्र शुष्कगोमयमसंस्पर्शयन् धारयति तत्प्रदीप्यते सोऽयमेव सम्पद्यते।

अर्थ—अब यह स्पष्ट कर रहे हैं कि आदित्य मे अग्नि कैसे उत्पन्न होता है? जब सूर्य प्रथम बार उत्तर दिशा में आता है अर्थात् सूर्य उदय को प्राप्त होता है तो वह सूर्य कैसे अथवा सूर्यकान्तमणि को साफ करके गर्मी में सूखे गोबर से स्पर्श न करता हुआ (सूर्यकान्तमणि को) धारण करता है। तो वह गोबर जो सूर्यकान्तमणि के स्पर्श से दूर है तथापि उसके तेज से वह गोबर जलने लगता है। यह सूर्य की गर्मी अर्थात् ताप ही यह अग्नि हो जाता है। इस प्रकार सूर्य से अग्नि उत्पन्न होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह वैश्वानर अग्नि इस विश्वानर अग्नि अर्थात् आदित्य (सूय) की सन्तान है।

मूल—अथाप्याह। "वैश्वानरो यतते सूर्येण" (ऋ० १।९८।१) इति। न च पुनरात्मनात्मा सयते, अन्येनैवान्यः संयते। इत इममाद-धात्यमुतोऽमुष्य रश्मयः प्रादुर्भवन्ति। इतोऽस्यार्चिषस्तयोर्भासोः संसङ्गं दृष्ट्वैवमवक्ष्यत।

अर्थ—इसके अतिरिक्त जो यह कहा गया है कि वैश्वानर अग्नि सूर्य के साथ सगत होता है। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि पार्थिव अग्नि विद्युत् और सूर्य से उत्पन्न होता है। क्योंकि कोई भी कहीं पर अपने आप अपने से संगत नहीं होता है अर्थात् व्यवहार में भिन्न वस्तु ही भिन्न वस्तु से सगत होती है जिस प्रकार लोक व्यवहार में देवदत्त यज्ञदत्त से मिलता है ऐसा देखा और कहा जाता है परन्तु देवदत्त स्वयं देवदत्त से मिलता है यह न देखा जाता है और न व्यवहार ही होता है। अतः वैश्वानर अग्नि सूर्य के साथ सगत होता है यह कथन सत्य है। परन्तु अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि पार्थिव अग्नि के भूलोक पर रहने के कारण और सूर्य के अन्तरिक्ष लोक में रहने के कारण दोनों पर्याप्त दूरी पर हैं तो फिर ये दोनों कैसे मिलते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि कोई व्यक्ति पार्थिव अग्नि को काष्ठ आदि का मन्थन करके प्राप्त करता है और अन्तरिक्ष लोक से सूर्य की किरणें निकलकर भूलोक में गिरती हैं। और इधर से अर्थात् भूलोक से ऊपर को अग्नि की ज्वाला (लपट) उठती है। उधर

से अर्थात् अन्तरिक्ष से सूर्य की किरणें नीचे को आती है तो दोनों अग्नि और सूर्य की किरणों का सङ्गम (मेल) हो जाता है। इस प्रकार इन दोनों अग्नि और सूर्य के सङ्गम (मेल) को देखकर मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने यह कह दिया कि पार्थिव अग्नि सूर्य के साथ सङ्गत होता है (मिलता है) इस प्रकार सूर्य और अग्नि के सम्बन्ध का कथन किया गया है।

मूल—अथ यान्येतान्यौत्तमिकानि सूक्तानि भागानि वा सावित्राणि वा सौर्याणि वा पौष्णानि वा वैष्णवानि वा वैश्वदेव्यानि वा तेषु वैश्वानरायाः प्रवादा अभविष्यन्, आदित्यकर्मणा चेनमस्तोष्यन्निति। उदेषीति अस्तमेषीति। विपर्येषीति।

अर्थ—इसके अतिरिक्त यदि वास्तव रूप में वैश्वानर आदित्य का पर्यायवाची शब्द होता तो जो उत्तम स्थानीय सूक्त हैं तो उन सूक्तों में अर्थात् भग, सविता, सूर्य, पूषा, विष्णु और विश्वदेव के सूक्तों में भग, सविता, सूर्य आदि के वैश्वानर सम्बन्धी विशेषणों का वर्णन अवश्य होता और आदित्य के कर्मों के अनुरूप वैश्वानर की स्तुति की गई होती। जैसा कि सूर्य के विषय में कहा है कि तुम उदय को प्राप्त होते हो, अस्त हो रहे हो, तुम लौटकर वापस आते हो, इत्यादि इसके विपरीत न तो भग, सविता आदि देवताओं का विशेषण वैश्वानर की सूर्य के कर्मों के अनुकूल स्तुति की गई है। इस स्थिति में यह कहना उचित प्रतीत नहीं होता है कि वैश्वानर आदित्य (सूर्य) का पर्यायवाची शब्द है।

मूल—आग्नेयेष्वेव हि सूक्तेषु वैश्वानरीयाः प्रवादा भवन्ति। अग्निकर्मणा चैनं स्तौतीति। वहसीति। पचसीति। दहसीति।

अर्थ—अपितु आग्नेय सूक्तों में ही वैश्वानर के विशेषण देखे जाते हैं (प्राप्त होते हैं) इस वैश्वानर की अग्नि के कार्यों के अनुरूप स्तुति की गई है। उदाहरणार्थ कहा है कि वहसि इति, पचसि इति, दहसीति अर्थात् हे वैश्वानर तुम ले जाते हो, तुम पकाते हो, तुम जलाते हो। इस विवेचन से यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि वैश्वानर अग्नि का समानार्थक अर्थात् पर्यायवाची शब्द है तथा सूर्य और विद्युत् का वैश्वानर पर्यायवाची नहीं है। अतः वैश्वानर अग्नि को ही कहते हैं।

(इति षष्ठः पादः)

———

सप्तमः पादः

विद्युत् तथा आदित्य वाचक वैश्वानर के अर्थ का खण्डन

मूल—यथो एतद्वर्षकर्मणा ह्येनं स्तौतीत्यस्मिन्नप्येतदुपद्यते ।

अर्थ—वैश्वानर का अर्थ विद्युत् और आदित्य मानने वालों का यह कथन है कि वर्षा के कर्म के अनुसार वैश्वानर की स्तुति की जाती है इसलिये वैश्वानर देखा जाता है (प्राप्त होता है) और न ही वैश्वानर को मध्यम अग्नि अर्थात् विद्युत् कहना उचित है क्योंकि इस पार्थिव अग्नि में भी यह सब अर्थात् जल वर्षा के अनुरूप स्तुति करना आदि संगत प्रतीत होता है, जैसा कि निम्नस्थ मन्त्र में देखा जा सकता है ।

मूल—"समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः । भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः" (ऋ० १।१।६४।५१) इति सा निगदव्याख्याताः ।

अर्थ— यह जल एक ही है जो कहीं किसी समय ऊपर को जाता है और कभी नीचे (पृथिवी पर) आता है । मेघ पृथिवी को तृप्त करते हैं अर्थात् मेघ पृथिवी को सींचते हैं इसी प्रकार अग्नियाँ द्युलोक को तृप्त करती हैं अर्थात् सींचती हैं । इसका आशय यह है कि मेघ जल वर्षण से पृथिवी को तृप्त करता है, सींचता है और अग्नियाँ देवताओं को आहुति प्रदान करके द्युलोक को तृप्त करती हैं । इसी भाव को निम्नस्थ मन्त्र में देखिये ।

मूल—अग्नौ प्राप्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।।

इसका अर्थ यह है कि अग्नि में दी हुई आहुति (हवि) आदित्य को प्राप्त होती है, आदित्य से वर्षा होती है, वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है, और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है ।

इससे यह सिद्ध हो रहा है कि वर्षा का कार्य मूल रूप अग्नि के आश्रित है । इस प्रकार मन्त्र का अर्थ निगद व्याख्याता शब्द से ही स्पष्ट हो जाता है

अर्थात् इस मन्त्र का अर्थ सरल एवं सुबोध है । अतः यास्क ने मन्त्र की व्याख्या नहीं प्रस्तुत की है ।

मूल—कृष्णं नियान हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आ ववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥
(ऋ० १।१६४।४७)

मूल—कृष्णं निरयणं रात्रिः । आदित्यस्य हरयः सुपर्णा हरणा आदित्यरश्मयः । ते यदामुतोऽर्वाञ्चः पर्यावर्तन्ते । सहस्थानादुकस्यादित्यात् । अथ घृतेनोदकेन पृथिवी व्युद्यते । घृतमित्युदकनाम । जिघर्तः सिंचतिकर्मणः ।

मन्त्रार्थ—रसों को अर्थात् जलों को हरण करने वाली सूर्य की किरणें जल को धारण किए हुए आदित्य लोक को उड़ जाती हैं अर्थात् जब सूर्य उत्तरायण होता है, तो उत्तरायण काल में सूर्य की किरणें जल को लेकर सूर्य के पास पहुँच जाती हैं और वे ही सूर्य की किरणें कृष्ण मार्ग का आश्रय प्राप्त करके अर्थात् सूर्य के दक्षिणायन होने पर जल के स्थान से अर्थात् सूर्यलोक से लौट आती हैं और उस समय जल से पृथिवी को सींचती हैं अर्थात् दक्षिणायन के समय सूर्य की किरणें जल ही वर्षाती हुई पृथिवी को सींचती हैं ।

कृष्ण निरयण—कृष्णमार्ग अर्थात् दक्षिणायन ही सूर्य की रात्रि है । **हरय हरणाः**=हरण करने वाली, **सुवर्णा आदित्यस्य रश्मयः**=सूर्य की किरणें, ते=वे, **यदा**=जब, **अमुतः**=उस लोक अर्थात् सूर्य से, **अर्वाञ्च**=नीचे अर्थात् भूलोक पर, **पर्यावर्तन्ते**=लोट आती हैं, **सहस्थानात् उदकस्य**=जल के स्थान, **आदित्यात्**=आदित्य लोक से । **घृतम् इति उदकनाम**=घृत यह जल का नाम है । **सिञ्चति कर्मण जिघर्तेः**=सेचनार्थक 'घृ" धातु से "घृत" शब्द को सिद्धि होती है । तद्यपि इस मन्त्र में स्पष्ट रूप से आदित्य का नाम ग्रहण किया गया है । फिर भी यहाँ प्रसग का आधार स्वीकार करने पर आदित्य का अर्थ अग्नि ही है सूर्य आदि नहीं । इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो रहा है कि यहाँ वर्षा करने वाला मध्यम अग्नि विद्युत् सम्बन्धी अर्थ का ग्रहण किया गया है ।

मूल—अथापि ब्राह्मणं भवति। 'अग्निर्वा इतो वृष्टिं समीरयति धामच्छद्दिवि खलु वै भूत्वा वर्षति मरुतः सृष्टां वृष्टिं नयन्ति।

अर्थ—इसके अतिरिक्त हमारे मत के समर्थन में ब्राह्मण ग्रन्थों का कथन प्रमाण के लिए उद्धृत किया जाता है कि यज्ञ का अग्नि यहाँ से अर्थात् भूलोक से वर्षा को प्रेरित करता है। अन्तरिक्ष लोक में आदित्य मेघ रूपी किरणों के प्रकाश को ढकने वाला होकर जल बरसता है। इस प्रकार से आदित्य के द्वारा की गई जल की वर्षा को वायु मध्यम स्थान से अर्थात् अन्तरिक्ष लोक से मेघों को भेदकर भूमण्डल पर पहुँचते हैं। अतः वायु भी जल वर्षा में सहायता करते हैं।

एक अन्य भी ब्राह्मण ग्रन्थों का कथन देखिए—

मूल—यदा खलु वै असावादित्योऽग्निं रश्मिभिः पर्यावर्त्तते अथ वर्षति। इति।

अर्थ—जब यह आदित्य (सूर्य) अपनी किरणों से अग्नि की ओर आकर्षित होता है अर्थात् जब सूर्य अपनी किरणों से पृथिवी लोक में उतरता है, तब वृष्टि होती है। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि वर्षारूपी कर्म समान रूप से अग्नि, सूर्य और विद्युत् तीनों के द्वारा सम्पन्न होता है अर्थात् वर्षा कराने में अग्नि, सूर्य और विद्युत् तीनों बराबर समर्थ हैं। इस विवेचन से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है कि वर्षा कर्म को आधार मानकर मध्यम अग्नि (आदित्य और विद्युत्) को वैश्वानर कहना युक्तियुक्त नहीं है। अतः यहाँ वैश्वानर शब्द का अर्थ पार्थिव अग्नि ही मानना अधिक उचित प्रतीत होता है।

मूल—यथो एतद्रोहात प्रत्यवरोहश्चिकीर्षित इत्याम्नायवचनादेतद्भवति।

अर्थ—और भी जो पहले यह कहा गया है कि आरोहण के क्रम से प्रत्यारोहण (उतरना) भी करना अभिप्रेत है। इसलिये वैश्वानर का अर्थ आदित्य (सूर्य) है। यह कथन उचित नहीं है। यह तो आम्नाय कथन के अनुसार अर्थात् विधि वाक्य के अनुसार आरोहण और प्रत्यारोहण होता है। अतः भूलोक,

अन्तरिक्ष लोक, और द्युलोक आरोहण, प्रत्यारोहण का वर्णन तो एक स्तुति-मात्र है। वस्तुतः वैश्वानर से द्युलोक वासी तथा अन्तरिक्षवासी से कोई प्रयोजन अर्थात् सम्बन्ध ही नहीं अभीष्ट है। अतः यहा वैश्वानर पार्थिव अग्नि को ही कहते हैं सूर्य और विद्युत् को नहीं।

मूल—यथो एतद्वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भवतीत्यनिर्वचनं कपालानि भवन्ति। अस्ति हि सौर्य एककपालः पञ्चकपालश्च।

अर्थ—इसके अतिरिक्त यदि यह कहे कि वैश्वानरीय पुरोडाश (हवि) बारह कपोलों में बनाई जाती है और सूर्य के भी बारह कर्म होते हैं। इसलिए वैश्वानर शब्द सूर्य का पर्यायवाची है। यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि यह कपाल शब्द अन्यत्र भी प्रयुक्त होता है, इसके अतिरिक्त बारह कपाल का यह शब्द सूर्य के सम्बन्ध में व्यभिचरित हो रहा है क्योंकि सूर्य को एक कपाल वाला और पाँच कपाल वाला भी कहा गया है इस बारह कपाल वाला शब्द सूर्य के सम्बन्ध में व्यभिचार दोषयुक्त है। अतः वैश्वानरीय पुरोडाश बारह कपालों से बनाया जाता है और सूर्य बारह कर्मों वाला है, इस तर्क को आधार मानकर वैश्वानर का सूर्य अर्थ मानना सर्वथा असंगत है, क्योंकि बारह कपाल शब्द व्यभिचार दोष से रहित नहीं है।

मूल—यथो एतद ब्राह्मणं भवतीति बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति। 'पृथिवी वैश्वानरः। संवत्सरो वैश्वानरः ब्राह्मणा वैश्वानरः'। इति।

अर्थ— और जो ब्राह्मण ग्रन्थ के कथन को उदाहरण में देकर कहा गया है कि "यह आदित्य वैश्वानर अग्नि है" यह ब्राह्मण ग्रन्थ का कथन ही प्रमाण है। परन्तु यह कथन भी यहाँ ठीक नहीं है क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थ तो बहुभक्तिवादी अर्थात् अनेक देवताओं के गुणों के प्रशंसक है। यहाँ "भक्ति" शब्द का अर्थ गुणों की प्रशंसा है। ब्राह्मण ग्रन्थ जिस किसी गुण अथवा विशेषण के द्वारा व्यक्ति की प्रशंसा गुण के अनुरूप नाम प्रदान करते हैं इसी प्रकार "वैश्वानर" यह विशेषण भी कितने ही देवताओं के लिये प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ ब्राह्मण ग्रन्थों में पृथ्वी के लिए वैश्वानर कहा है, सम्वत्सर के लिए वैश्वानर कहा है, और ब्राह्मण के लिये भी वैश्वानर कहा है। इत्यादि वैश्वानर के

विशेष्यों को देखकर ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित वैश्वानर विशेषण सूर्य के लिये आया है। इसको आधार मानकर वैश्वानर का सूर्य अर्थ स्वीकार करना उचित नहीं है।

मूल—यथो एतन्निवित्सोयं वैश्वानरी भवतीत्यस्येव सा भवति। 'या विडम्योमानुषीभ्यो दीदेत्'। इत्येष हि विडभ्यो मानुषीभ्यो दीप्यते।

अर्थ—इसके अतिरिक्त जो यह कहा गया है कि निवित् स्तोत्र में प्रयुक्त वैश्वानर शब्द सूर्य का वाचक है। यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि निवित् स्तोत्र तो इस पार्थिव अग्नि से ही सम्बन्धित है। अतः निवित् स्तोत्र में प्रयुक्त वैश्वानर शब्द पार्थिव अग्नि का ही वाचक है सूर्य का नहीं, क्योंकि निवित् स्तोत्र में यह मन्त्र इस प्रकार कहा है कि—

यो विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीदेत् इत्यादि मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है कि जो यह अग्नि मनुष्यों के द्वारा प्रज्वलित होता है, वह तो इस निवित् सूक्त में स्पष्ट रूप से पार्थिव अग्नि के लिए ही कहा गया है। अतः वैश्वानर का अर्थ पार्थिव अग्नि ही है।

मूल—यथो एतच्छान्दोमिकं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवतीत्यस्येव तद्-भवति। 'जमदग्निभिराहुतः'। इति। जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा। प्रज्वलिताग्नयो वा। तैरभिहुतो भवति।

अर्थ—और भी जो यह कहा है कि छान्दोमिक सूक्त में वैश्वानर का
प्रयोग सूर्य के अर्थ में किया गया है यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि छान्दो-
मिक सूक्त तो वैश्वानर का अर्थ इसी पार्थिव अग्नि से सम्बन्धित मानता है।
उदाहरणार्थ छान्दोमिक सूक्त में प्रयुक्त "जमदग्निभिः" आदि कथन का अर्थ
यह है कि याज्ञिकों के द्वारा हवि प्रदान की जाती है जिसको ऐसा वह वैश्वानर
अग्नि जमदग्निभिः शब्द का अर्थ प्रभूत अर्थात् प्रज्वलित अग्नि वालों (यज्ञ
करने वालों) के द्वारा आहुति प्राप्त करने वाला वैश्वानर अग्नि। यज्ञ करने
वाले लोग आहुति पार्थिव अग्नि में ही अर्पित करते हैं सूर्य में नहीं। इससे

स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है कि वैश्वानर का अर्थ पार्थिव अग्नि है न कि सूर्य। अतः वैश्वानर सूर्य का वाचक नहीं है और अग्नि का ही वाचक है।

मूल—यथो एतद्धविष्पान्तीयं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवतीत्यस्यैव तद्भवति।

अर्थ—और जो यह कहा है कि हविष्पान्तीय सूक्त में वैश्वानर को सूर्य का वाचक कहा गया है। यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि हविष्पान्तीय निम्नलिखित मन्त्र देखा जा सकता है।

मूल—हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि दिविस्पृश्याहुतं जुष्टमग्नौ।
तस्य भर्मणं भुवनाय देवा धर्मणे कं स्वधयापप्रथन्त॥
(ऋ० १०।८८।१)

हविर्यत्पानीयम्। अजरम्। सूर्यविदि। दिविस्पृशि। अभिहुतं जुष्टमग्नौ। तस्य भरणाय च भावनाय च धारणाय च। एतेभ्यः सर्वेभ्यः कर्मभ्योदेवा इममग्निमन्नेनापप्रथन्त।

मन्त्रार्थ—पान करने योग्य वृद्धावस्था रहित देवताओं को प्रिय लगने वाली हवि होती है। उस हवि को आदित्य को जानने वाले द्युलोक में ऊपर गमन करने वाले अग्नि में डालते हैं। उस अग्नि में प्रक्षिप्त हवि को देवताओं ने अग्नि में भरण पोषण के लिये अर्थात् पुष्ट एवं सुदृढ़ बनाने के लिये और अग्नि को ऐश्वर्य युक्त करने के लिए उसको धारण करने के लिये आज्य अर्थात् हवि से बढ़ाया, पुष्ट किया है। इस प्रकार देवताओं ने अग्नि को बढ़ाया, ऐश्वर्यवान् किया।

उपर्युक्त कार्यों के लिये देवताओं के अग्नि को अन्न के द्वारा बढ़ाया, सुदृढ़, पुष्ट एवं बलवान् किया। इस प्रकार हविष्पान्तीय सूक्त के प्रथम मन्त्र के द्वारा ही वैश्नावर शब्द का सम्बन्ध पार्थिव अग्नि से स्पष्ट रूप से सिद्ध हो रहा है। सूर्य से वैश्नावर का कोई सम्बन्ध परिलक्षित नहीं हो रहा है। अतः वैश्नावर का अर्थ पार्थिव अग्नि ही है सूर्य नहीं।

मूल—अथाप्याह।

अर्थ—इस प्रकार यास्क उपर्युक्त रीति से वैश्वानर के वाचक विद्युत् और

सूर्य इन दोनों पक्षों का खण्डन करने के अनन्तर वैश्वानर का अर्थ स्पष्ट रूप से पार्थिव अग्नि सिद्ध करने के लिये निम्नलिखित एक और मन्त्र को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है कि—

मूल—

अपामुपस्थे महिषा अगृभ्णत बिशो राजानमुपतस्थुर्ऋग्मियम् ।
आ दूतो अग्निमभरद्विवस्वतो वैश्वानरं मातरिश्वा परावतः ।

अपामुपस्थ उपस्थाने महत्यन्तरिक्षलोके आसीना महान्त इति वागृह्णत माध्यमिका देवगणाः । विश इव राजानमुपतस्थुः । ऋग्मियमृग्मन्तमिति वा । अर्चनीयमिति वा । पूजनीयमिति वा । अहरद्य दूतो देवानां विवस्वतः आदित्यात् । विवस्वान्विवासनवान् । प्रेरितवतः परागताद्वा (अपि वा) अस्योग्नेर्वैश्वानस्य मातरिश्वानमाहर्तारमाह । मातरिश्वाः वायुः । मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति । मातर्याश्वानितीति वा ।

अर्थ—जलों के स्थान में (अन्तरिक्ष में) रहने वाले माध्यमिक देवता लोग अथवा हवायें इस वैश्वानर अग्नि को ऐसे ग्रहण करते हैं अर्थात् अग्नि को घेर कर खड़े हो जाते हैं जैसे प्रजायें राजा को घेरकर खड़ी हो जाती हैं । उसी प्रकार देवता लोग अथवा हवायें स्तुति के योग्य अर्थात् पूज्य अग्नि को घेरकर खड़े हो जाते हैं । देवताओं का दूत वह वायु दूर रहने वाले सूर्य से वैश्वानर अग्नि को ले आता है ।

प्रस्तुत मन्त्र में पठित "महिषा" शब्द को यास्क ने सप्तमी का एकवचन और प्रथमा का बहुवचन भी माना है । सप्तम्यन्त मानकर यास्क ने महिषा को "**अपामुपस्थे**" (जलों के स्थान में) का विशेषण स्वीकार करके विशाल अन्तरिक्ष लोक अर्थ किया है और **महिषा** में प्रथमा बहुवचन मानकर अन्तरिक्ष में रहने वाले देवता अर्थ किया है । **ऋग्मियम्** शब्द का अर्थ स्तुत्य पूज्य, है । **विवस्वान्** का अर्थ निकालने वाला अर्थात् अन्धकार को नष्ट करने वाला है । **प्रेरितवतः** =प्रेरित करने वाले, **परागतात् वा अपि**=दूरस्थित सूर्य से, **अस्य अग्नि वैश्वानरस्य**=इस वैश्वानर अग्नि का, **मातरिश्वानम्**=वायु को, **आहर्त्तारमाह**= आहरण करने वाला लाने वाला कहा है ।

अब यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि वायु को मातरिश्वा क्यों कहा जाता है ? अथवा मातरिश्वा यह नाम कैसे पड़ा ? इसके उत्तर में कहा है कि **मातरिश्वसिति**=यह वायु अन्तरिक्ष लोक में गमन करता है अथवा अन्तरिक्ष लोक में तीव्रगति से चलता है। इसलिये वायु को मातरिश्वा कहा गया है।

मूल—अथैनमेतभ्यां सर्वाणि स्थानान्यभ्यापादं स्तौति।

अर्थ—अब मन्त्र द्रष्टा ऋषि ने इस पार्थिव अग्नि के इन निम्नलिखित ऋचाओं के द्वारा भूलोक, अन्तरिक्ष लोक, द्युलोक आदि सभी स्थानों में पहुँचा कर स्तुति की है। इसका आशय यह है कि यह पार्थिव अग्नि ही भिन्न भिन्न स्थानों पर पहुँचकर उस स्थान पर रहने वाले देवताओं के द्वारा उस स्थान के अनुरूप देवता के रूप में स्तुति ग्रहण की जैसा कि निम्न प्रकार देखिये।

मूल—

भूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्।
माया मू तु यज्ञियानामेतामपो यत्तूर्णिश्चयेति प्रजानन्॥
(ऋ० १०।८८।६)

मूर्धा मूर्तमस्मिन्धीयते। मूर्धा यः सर्वेषां भूतानां भवतिनक्तमग्निः ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्त्स एव। प्रज्ञां त्वेतां मन्यन्ते यज्ञियानां देवानां यज्ञसंपादिनाम्। अपो यत्कर्म चरति भजानन्त्सर्वाणि स्थानान्यनुसंचरति त्वरमाणः।

अर्थ—रात्रि के समय यह अग्नि ही पृथिवी लोक का शिर होता है। जिस प्रकार शिर के बिना कोई व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता है उसी प्रकार अग्नि रूपी शिर के बिना भूलोक का प्राणि वर्ग जीवित नहीं रह सकता है। इसलिए यह अग्नि शिरः स्थानीय है अर्थात् सर्वोपरि एवं सर्वाधिक मुख्य वस्तु है। इसके पश्चात् अर्थात् क्रमशः रात्रि के बीतने पर प्रातःकाल होने पर यह अग्नि उदय होता हुआ सूर्य हो जाता है अर्थात् प्रातःकाल के समय यह अग्नि ही सूर्य का रूप धारण करके प्रकटित होता है। यह अग्नि की माया है। इस अग्नि की माया को यज्ञ करने वाले समझते हैं जिसे करने योग्य अपने कर्म अर्थात् कर्तव्य को समझता हुआ, जल्दी करता हुआ अग्नि समस्त स्थानों में पहुँच जाता है

अर्थात् कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ अग्नि न पहुँच सकता हो। अतः प्रत्येक स्थान पर स्वेच्छा से पहुँच जाता है।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि शिर को मूर्धा क्यों कहा जाता है? इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि मूर्धा मूर्त्तमस्मिन् धीयते=जिसके सहारे अथवा जिसमें सब शरीर स्थित है अर्थात् जिसके बिना शरीर का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता है उसे मूर्धा कहते हैं। जो अग्नि समस्त प्राणियों में मुख्य है अथवा समस्त प्राणी वर्ग के जीवन का मुख्य कारण है। मुख्य कारण होने के कारण ही अग्नि को समस्त प्राणियों का शिर कहा है।

मूल—तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय।

अर्थ—वैश्वानर का अग्नि ही होता है इसके अधिक प्रतिपादन में यह आगे प्रस्तुत की जाने वाली ऋचा दर्शनीय है।

मूल—स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनञ्छक्तिभी रोदसि प्राम्।
तम् अकृण्वंस्त्रेधा भुवे कंस ओषधीः पचति विश्वरूपाः॥
(ऋ० १।८८।१०)

स्तोमेन हि यं दिवि देवा अग्निमजनयन [शक्तिभिः] कर्मभिर्द्यावा-पृथिव्योः आ पूरणम्। तमकुर्वंस्त्रेधाभावाय। पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः।

मन्त्रार्थ— देवताओं ने स्तुतियों से और कर्मों से अर्थात् यज्ञ आदि कर्मों के द्वारा द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और पृथिवी लोक में व्याप्त इस अग्नि को उत्पन्न किया। उसी पार्थिव अग्नि को तीन रूपों का बना दिया अर्थात् देवताओं ने उस अग्नि को तीन रूप वाला कर दिया। यह वही तीन रूप वाला अग्नि समस्त ओषधी (अन्नादि को) पकाता है। इसका आशय यह है कि देवताओं ने अपने यज्ञ आदि कर्मों के द्वारा अग्नि को तीन स्थानों अर्थात् (१) द्युलोक में, (२) अन्तरिक्ष लोक में और (३) पृथिवी लोक में व्याप्त कर दिया।

मूल—"यदस्य दिवि तृतीयं तदसावादित्यः"। इति हि ब्राह्मणम्।

अर्थ—द्युलोक में प्राप्त होने वाला सूर्य भी अग्नि ही है अर्थात् सूर्य कुछ नहीं है। वह अग्नि ही नामभेद से स्थित है अथवा अग्नि का तृतीय रूप ही

द्यु लोक में सूर्य के रूप में प्रकाश करता है। अतः अग्नि ही सूर्य है और कुछ नहीं। ऐसा ब्राह्मण नामक ग्रन्थों के रचयिता का मत हैं। अतः सूर्य और विद्यु त् दोनों ही अग्नि के रूपमात्र हैं, अग्नि से भिन्न नहीं अर्थात् सूर्य, विद्यु त् और अग्नि ये तीनों एक ही ज्योति (अग्नि ही) हैं।

मूल—तदग्नीकृत्य स्तौति।

अर्थ—मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने उस एक ज्योति को अग्नि का स्वरूप अर्थात् नाम देकर स्तुति की है।

मूल—अथैनमेतयादित्यकृत्य स्तौति।

अर्थ—और भी इस पार्थिव अग्नि को ही सूर्य का स्वरूप प्रदान कर इस निम्नलिखित ऋचा के द्वारा स्तुति की है।

मूल—यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयम्।
यदा चरिष्णू मिथुनावभूतामादित्प्रापश्यन्भुवनानि विश्वा॥
(ऋ० १०।८८।११)

यदैनमदधुर्याज्ञियाः सर्वे दिवि देवाः सूर्यम् आदितेयम् अदितेः पुत्रम्। यदा चरिष्णू मिथुनौ प्रातरभूतां सर्वदा सहचारिणौ। उषाश्चादित्यश्च। मिथुनौ कस्मात्। मिनोतिः श्रयतिकर्मा। थु इति नामकरणः। थकारो वा। नयतिः परः। वनिर्वा। समाश्रितावन्योन्यं नयतः। वनुतो वा। मनुष्यमिथुनावप्येतस्मादेव। मेथन्तावन्योन्यं वनुत इति वा।

अर्थ—जब इस अदिति के पुत्र सूर्य को याज्ञिक देवताओं ने द्यु लोक में रख दिया और जब सदा साथ रहने वाले, भ्रमण करने ऊषा देवता और सूर्य देवता प्रकट हुए अर्थात् प्रातःकाल के समय एक साथ ऊषा और सूर्य उदय हुए। उस समय समस्त प्राणियों ने ऊषा और सूर्य को देखा।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि "मिथुनौ" यह शब्द कैसे बनता है? इसके उत्तर में कहा है कि श्रयत्यर्थक "मि" धातु से "थु" प्रत्यय होता है अथवा "थ" प्रत्यय होता है और पद के उत्तर भाग में "नी" धातु है। इस

प्रकार "मिथुन" शब्द बनता है अथवा "वन" धातु से निष्पन्न होता है। दोनों परस्पर एक दूसरे के सहारे से समय व्यतीत करते हैं अथवा परस्पर मिलकर रहते हैं। "वनु" सम्भक्तौ धातु से मिथुन शब्द बनता है। मिथुन शब्द का अर्थ यह है कि स्त्री पुरुषों का मिथुन अर्थात् जोड़ा है अथवा मनुष्यों का (स्त्री पुरुषों का) यह मिथुन (जोड़ा) शब्द "मेथ्" और "वन्" धातुओं के मिश्रण से बनता है जिसका अर्थ यह होता है कि परस्पर एक दूसरे को मेधा (ताडन) करते हुए अर्थात् परस्पर अपराध होने पर एक दूसरे को परस्पर ताड़ना देते हुए समय व्यतीत करते हैं।

मूल—अथैनमेतयाग्नीकृत्य स्तौति।

अर्थ—और भी इसी ज्योति को अग्नि का स्वरूप देकर निम्नलिखित ऋचा के द्वारा स्तुति की है। जो निम्न प्रकार देखिये।

मूल—यत्रा वदेते अवरः परश्च यज्ञन्योः कतरो नौ वि वेद।
आ शेकुरित्सधमादं सखायो नक्षन्त यज्ञं क इदं विवोचत्॥
(ऋ० १०।८८।१७)

यत्र विवदेते दैव्यौ होतारौ। अयं चाग्निरसौ च मध्यमः। कतरो नौ यज्ञे भूयो वेद। इत्याशक्नुवन्ति। तत्सहमदनं समानाख्याना ऋत्विजस्तेषां यज्ञं समश्नुवानानां को न इदं विवक्ष्यतीति।

मन्त्रार्थ—जिस कर्म में यह पार्थिव अग्नि और मध्यम अग्नि विद्युत् विवाद करते हैं अर्थात् कलह करते हैं कि यज्ञ से नेता हम दोनों किस यज्ञ के विषय में अधिक जानकारी रखते हैं अर्थात् हम दोनों में यज्ञ के विषय में अधिक ज्ञान किसको है? यज्ञ का नेतृत्व करने में पूर्णरूप से कौन समर्थ है? वहाँ उस यज्ञ में उपस्थित ऋत्विक् लोग इन दोनों के कलह को दूर करने में (शान्त करने में) समर्थ नहीं हो सके। ऋत्विजों ने कहा कि इस विवाद का निर्णय कौन कर सकेगा अर्थात् हम लोग इसी विवाद का निर्णय नहीं कर सकते हैं, क्योंकि हम दोनों की दृष्टि में (आप) दोनों ही यज्ञ क्रिया (ज्ञान) के विशेषज्ञ हैं अथवा दोनों ही यज्ञ के नेतृत्व गुण से युक्त हैं। अतः हम किसको श्रेष्ठ कहें?

यत्र विवदेते दैव्यौ होतारौ=जिस यज्ञ में होता और देवता परस्पर विवाद

करते हैं कि यज्ञ के नेता हम दोनों में कौन सबसे अधिक यज्ञ के विषय में जानता है तथा यज्ञ का नेतृत्व कौन भली-भाँति करने में समर्थ है। सखायः = ऋत्विक् लोग जो यज्ञ स्थल में उपस्थित थे। वे इन दोनों सधमादम् = विवाद, कलह को, आ = नहीं, शेकुः = दूर करने में समर्थ नहीं हो सके अर्थात् दोनों में विवाद का समाधान न कर सके। तत् सहमदनम् = उसी विवाद को दूर करने में समानाख्याना ऋत्विजः = समान ज्ञान रखने वाले यज्ञ करने वाले। तेषाम् यज्ञं समश्नुवानानाम् = यज्ञ में उपस्थित लोगों कः न इदं विवक्ष्यति = कौन व्यक्ति इस विवाद का निर्णय कर सकेगा अर्थात् कोई नहीं।

मूल—यस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय।

अर्थ—उसी विषय के अधिक समर्थन एवं प्रतिपादन करने के लिये निम्न-लिखित ऋचा को प्रस्तुत किया है।

मूल—यावन्मात्रमुषसो न प्रतीकं सुपर्ण्यो ३ वसते मातरिश्वः।
तावद्दधात्युपयज्ञमायन्ब्राह्मणो होतुरवरो निषीदन॥
(ऋ० १०।८८।१९)

यावन्मात्रमुषसः प्रत्यक्तं भवति प्रतिदर्शनमिति वा। अस्त्युपमानस्य संप्रत्यर्थे प्रयोगः। इहेव निधेहीति यथा। सुपर्ण्यः सुपतनाः। एता रात्रयो वसते मातरिश्वञ्ज्योतिर्वर्णस्य तावदुपदधाति यज्ञमागच्छन ब्राह्मणो होतास्याग्नेर्होतुरवरो निषीदन्।

मन्त्रार्थ—जब तक उषाकाल आता है अर्थात् होता है अथवा जब तक ऊषा का दर्शन होता है तब तक रात्रि अन्धकार से समस्त संसार को ढके रहती है। हे वायु देवता! तब तक यज्ञ करने वाला ब्राह्मण होता के यज्ञ में आकर (रात्रि के) पश्चिम भाग में बैठा हुआ वैश्वानर अग्नि को प्रसन्न करता रहता है अर्थात् आमन्त्रित करता है, प्रज्वलित करता है।

यावन्मात्रम् उषसः = जिस समय तक ऊषा का, प्रत्यक्तं भवति = आगमन होता है अथवा प्रतिदर्शन = ऊषा का पुनः दर्शन होता है। उपमानस्य = उपमा के अर्थ में, सम्प्रत्यर्थे = इस समय के अर्थ में प्रयोग इह एव निधेहि = यहीं पर

रख दो । सुपर्ण्य, सुपनता एता रात्रयः = भली-भाँति ये पतनशील रात्रियाँ, वसते = ढके रहते हैं । मातरिश्वन् ! = हे वायु देवता ! ज्योतिर्वरणस्य उपदधाति = प्रकाश की ज्योति आधान करता है अर्थात् यज्ञ की अग्नि को प्रज्वलित कर देता है । यज्ञम् आगच्छन् ब्राह्मणः होता = यज्ञस्थल में आकर ब्राह्मण 'होता'। अस्य अग्नेः होतुः इस होता पार्थिव अग्नि के अवरः निषीदन् = पश्चिमी भाग में बैठता हुआ, रहता है । प्रातःकाल यज्ञ के समय पूर्व की ओर मुख करके बैठने का नियम है । अतः यज्ञस्थल के पश्चिम ओर पूर्व को मुख करके बैठा रहता है । ऐसा समझना चाहिये ।

अर्थ—यहाँ यह प्रश्न उपस्थित किया गया है कि 'होता' का जप तो अग्नि से भिन्न वैश्वानर से सम्बन्धित होता है । जप तो सवितृदेव से सम्बन्धित होता है उदाहरणार्थ कहा है कि सवित देव ! सवितृदेव ! अर्थात् संसार को उत्पन्न करने वाले हे देव ! इस तुम अग्नि को वैश्वानर पिता के साथ हम इस यज्ञ के लिये वरण करते हैं, सादर आमन्त्रित करते हैं, इस प्रकार यहाँ तो वैश्वानर को अग्नि का पिता कहा है परन्तु इससे पहले वैश्वानर अग्नि का पिता विश्वानर अग्नि मध्यम अग्नि और आदित्य को बताया है । इसका अभिप्राय यह हुआ पार्थिव अग्नि विद्युत् और सूर्य की सन्तान है । अर्थात् पार्थिव अग्नि को विद्युत् सूर्य ने जन्म दिया है । परन्तु इस होतृ जप में तो विरोध दृष्टिगोचर हो रहा है । यहाँ तो पुत्र को बताया गया है । इसका क्या कारण है ?

इसका समाधान करते हुये कहा गया कि इदम् एव अग्निम् = इस पार्थिव अग्नि को ही होतृ जप में सविता कहा गया है क्योंकि यह समस्त यज्ञकर्म तथा अग्नि होत्र आदि को उत्पन्न करने वाला है । अतः यज्ञ आदि कर्मों का अग्नि प्रेरक होने के कारण उत्पादक माना जाता है । अतः मध्यम अग्नि विद्युत् और उत्तराग्नि सूर्य को पिता कहा गया है । जप क्रिया में "पित्रा" शब्द भेद स्पष्ट कर रहा है । ऐसा यास्क आचार्य का मत है । अब शाकपूणि आचार्य के मत से समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं ।

मूल—यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरूप्यतेऽयमेव सोऽग्निर्वैश्वानरः । निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते भजेते ।

अर्थ—यह तो वैश्वानर सूक्त है अर्थात् वैश्वानर नामक सूक्त जिस देवता नाम से और जिस के लिये हवि दी जाती है, वह वैश्वानर यह पार्थिव अ ही है और कोई नहीं और जो ये दोनों माध्यमिक अग्नि अर्थात् विद्युत् अ उत्तर ज्योति अर्थात् सूर्य हैं, वे तो वैश्वानर इस नाम से गौण रूप से व्यव होते हैं अर्थात् गौणता के ही अधिकारी हैं मुख्यता के नहीं। इसका आशय है कि पार्थिव अग्नि को ही मुख्य रूप से वैश्वानर कहते हैं, विद्युत् और स के लिये वैश्वानर शब्द का प्रयोग अथवा व्यवहार गौण है। यहाँ दूसरा पठि "भजेते" शब्द अध्याय की समाप्ति का सूचक है।

(इति सप्तमोऽध्यायः)

———